भारतीय सृष्टिविद्या

डॉ. प्रकाश

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

पूर्वायण

प्रस्तुत कृति में जैन, बौद्ध एवं पौराणिक-सृष्टिविद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन विकासवाद के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। मूलतः यह कृति एक शोध-प्रबन्ध है जिसमें बौद्ध सृष्टिविद्या सम्बन्धी एक नये अध्याय का समावेश करके वर्तमान स्वरूप दिया गया है। शोधकार्य में प्रवृत्त होने के समय इस ग्रन्थ की रूपरेखा अपेक्षाकृत संक्षिप्त थी। उसमें केवल जैन सृष्टिविद्या का विकासवाद के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना था। लेकिन अपने शोध-निर्देशक डॉ. चन्द्रधर शर्मा के प्रीतिपूर्ण आदेश पर उसमें पौराणिक सृष्टिविद्या का अध्ययन भी सन्निविष्ट कर लिया गया। उस समय मुझे पुराणों का क-ख-ग भी मालूम नहीं था। दो-ढाई वर्ष तक शोध-कार्य चला और सन् १९७१ में मुझे 'जैन सृष्टिविद्या तथा पौराणिक सृष्टिविद्या का, विकासवाद के सन्दर्भ में, तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोध प्रबन्ध पर पी-एच. डी. की उपाधि जबलपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। अनन्तर भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशन की वार्ता प्रारम्भ हुई। जिसका सुफल आपके कर-कमलों में समर्पित करते हुए आह्लादित हूँ।

शोध-कार्य में प्रवृत्त होने के समय मेरे मन में एक अंकुर और था जो कहीं अब जाकर पल्लवित हुआ है। वह था—उक्त कार्य में बौद्ध सृष्टिविद्या का समावेश। शोध-कार्य के एक परीक्षक डॉ. मोहनलाल जी मेहता ने अपनी संस्तुति में लिखा है कि यदि उक्त कार्य भी इस प्रबन्ध में समाहित हो जाता तो यह शोध और भी व्यापक तथा परिपूर्ण हो जाता। उनकी इस प्रेरणा ने अंकुर पर जल-वृष्टि का कार्य किया है। लेकिन यह जल-वृष्टि भी व्यर्थ जाती यदि मेरे प्रकाशकों ने पुनः-पुनः अनुरोध करके मुझे लिखने के लिए बाध्य न किया होता।

अन्त में मैं उन सब विद्वान् लेखकों, अन्वेषकों तथा प्रेरणा देनेवाले प्रेमी मित्रों का आभार मानता हूँ जिनकी ज्ञानसाधना तथा स्नेहराशि से यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। उन विज्ञ पाठकों तथा समालोचकों का भी मैं आभारी रहूँगा जो प्रस्तुत कृति के दोषों से अवगत कर विद्या को निर्दोष बनाने में सहकारी होंगे।

—प्रकाश

संकेत सूची

अग्नि.	=	अग्निपुराण
अथर्व.	=	अथर्ववेद
अभि.	=	अभिधर्मकोश
उत्तर.	=	उत्तरपुराण
ऋक्.	=	ऋग्वेद
कार्तिकेया	=	कार्तिकेयानुप्रेक्षा
गरुड	=	गरुडपुराण
देवी.	=	देवीभागवतपुराण
पद्म.	=	पद्मपुराण
पैंगलो.	=	पैंगलोपनिषद्
पाण्डव.	=	पाण्डवपुराण
बृहद्धर्म.	=	बृहद्धर्मोत्तरपुराण
बृहन्नार.	=	बृहन्नारदीयपुराण
ब्रह्मवै.	=	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भाग.	=	श्रीमद्भागवत महापुराण
महापु.	=	महापुराण
मार्क. सां. अ.	=	मार्कण्डेयपुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन
मुण्डक.	=	मुण्डकोपनिषद्
मत्स्य.	=	मत्स्यपुराण
मनु.	=	मनुस्मृति
तत्त्वार्थ.	=	तत्त्वार्थसूत्र
तिलोय.	=	तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)
योगचूडा.	=	योगचूडामण्युपनिषद्

वायु.	=	वायुपुराण
विष्णु.	=	विष्णुपुराण
व्याख्या.	=	व्याख्याप्रज्ञप्ति
वैदिक. सा. सं.	=	वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
वैष्णविज्म.	=	वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजन सेक्ट
लिंग.	=	लिंगपुराण
शतपथ.	=	शतपथ ब्राह्मण
श्वेताश्व.	=	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सां. कारिका	=	सांख्य कारिका
सां. सूत्र	=	सांख्य सूत्र
स्कन्द.	=	स्कन्दपुराण
हरिवंश.	=	हरिवंशपुराण
हिन्दूगाड्स.	=	हिन्दूगाड्स एण्ड हिडिन मिस्ट्रीज़
हिन्दूपाली.	=	हिन्दूपालीथीइज़्म

प्रस्तावना

पुराण भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि हैं। परम्परा के अनुसार उनके रचयिता भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास है। लोक में उनके द्वारा रचित अष्टादश महापुराण अति प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अष्टादश उपपुराण भी उनकी रचना माने जाते हैं किन्तु आधुनिक विद्वान् इन समस्त पुराणों की भाषा-शैली तथा उनमें उद्धृत सन्दर्भों के अनुसार उन्हें विभिन्न लेखकों की रचना बतलाते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पुराण का रचनाकाल भी पृथक्-पृथक् है।

पुराणों की इस महान् परम्परा के समानान्तर विभिन्न जैनाचार्यों ने भी जैन चरित्रों को लेकर पुराण-लेखन की एक परम्परा का निर्माण किया है। उसकी पहली कड़ी आचार्य विमलसूरि कृति पउमचरिय (पद्मचरित) नामक पुराण ग्रन्थ है। पुराण प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रन्थ ईसा की प्रथम शताब्दी की रचना है। उसके पश्चात् रविषेण ने पद्मपुराण, जिनसेन ने हरिवंशपुराण, जिनसेन द्वितीय ने महापुराण तथा गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचनाएँ ईसा की सातवीं से नवमी शताब्दी के मध्य कीं। इसी परम्परा में शुभचन्द्र ने पाण्डवपुराण की रचना सत्रहवीं शताब्दी में की। जैनों की ये सब रचनाएँ संस्कृत भाषा में है।

दिगम्बर जैन विद्वानों ने उपर्युक्त संस्कृत पुराण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक पुराणों की रचना प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल तथा हिन्दी आदि अनेक लोक-भाषाओं में की है। इन पुराणों के अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ति प्रभृति अत्यन्त पुरातन लोकग्रन्थों में भी पुराण विषयक सामग्री संकलित है। दिगम्बरों के समान श्वेताम्बर जैन परम्परा भी इस दिशा में जागरूक रही है। प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैनाचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित इसका जीता-जागता उदाहरण है।

महर्षि वेदव्यास प्रणीत जिस पुराण वाङ्मय का निर्देश ऊपर किया गया है उसकी विषय वस्तु सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंश्यानुचरित नामक पाँच विभागों में बँटी हुई है। यह विषय विभाग किंवा पुराण पंच लक्षण प्रायः प्रत्येक पुराण में स्वीकृत है तथा उनमें इस अभिप्राय का सूचक निम्नांकित श्लोक प्राप्त होता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।[1]

---

१. वायु० ४।१०-११; विष्णु० ३।६।२४; मार्क० १३४।१३; अग्नि० १।१४।

जैन पुराणों की रचना यद्यपि पुराणों के समान किसी लक्षण के आधार पर नहीं हुई है तथापि उन सबमें महापुराण में निर्दिष्ट पुराणों के इस अष्टलक्षण का अनुशासन बहुधा बना हुआ है—

लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानं तपोऽन्वयः।
पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि ॥

अर्थात् प्रत्येक पुराण में लोकाख्यान, देशाख्यान, पुराख्यान, राज्याख्यान, तीर्थाख्यान, तपदानाख्यान, गत्याख्यान तथा फलाख्यानात्मक पुराण अष्टलक्षण का पालन किया जाना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विषयवस्तु पुराण पंचलक्षण के सर्ग एवं प्रतिसर्ग तथा जैनों एवं बौद्धों के लोकाख्यान तक सीमित है क्योंकि अध्येय सृष्टिविद्या का वर्णन इन्हीं के अन्तर्गत प्राप्त होता है। पुनश्च, इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य भी जैन, बौद्ध एवं पौराणिक सृष्टिविद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करना रहा है। इस उद्देश्य में विकासवादी सन्दर्भों का समावेश इस विचार से किया गया है कि जिससे इन प्राचीन सृष्टिविद्याओं का संसर्ग किंवा संस्पर्श आधुनिक सृष्टि विज्ञान से हो सके और हम उनके यथार्थ रूप से परिचित हो सकें।

सृष्टिविद्या का अर्थ है सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड, लोक अथवा विश्व की उत्पत्ति को बतलानेवाला ज्ञान।

पं. मधुसूदन जी ओझा के एक लेख के अनुसार सृष्टिविद्या के अन्तर्गत इन पाँच बातों का समावेश होता है—

१. त्रैलोक्यविद्या, २. ज्योतिष्चक्र, ३. भुवनकोश, ४. प्रासंगिक तथा ५. वंशावली।[1]

अपने अध्ययन में हमने सृष्टिविद्या के विश्वोत्पत्ति सम्बन्धी पूर्वोक्त अर्थ को ध्यान में रखते हुए इन पाँच बातों का समावेश प्रसंगानुसार किया है। फिर भी हमारी दृष्टि सृष्टि के मूलतत्त्व, सर्गप्रक्रिया तथा ब्रह्माण्डविद्या के तीन घटकों की ओर विशेष रूप से रही है। ओझा जी द्वारा प्रतिपादित पाँच बातें हमारी ब्रह्माण्डविद्या में बहुधा गर्भित हो गयी हैं।

जैन सृष्टिविद्या के सन्दर्भ में हमने जैन सृष्टिदर्शन के अन्तर्गत सृष्टि के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में लोक-विभाग के अन्तर्गत ब्रह्माण्डविद्या तथा काल-विभाग के अन्तर्गत प्रायः सर्गप्रक्रिया का विचार किया है।

बौद्ध सृष्टिविद्या के सन्दर्भ में बौद्धदर्शन के अन्तर्गत सृष्टि का स्वरूप, लोक-वर्णन तथा कल्प सम्बन्धी मान्यताओं को प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार पौराणिक सृष्टिविद्या के सन्दर्भ में दैवत संहिता के अन्तर्गत सृष्टि

---

१. ओझा—'पुराण प्रसंग' पुराणम् १।२।१९५९।

के मूल तत्त्व का, सर्ग संहिता के अन्तर्गत सर्गप्रक्रिया का तथा ब्रह्माण्ड संहिता के अन्तर्गत ब्रह्माण्डविद्या का अनुसन्धान किया है।

विकासवाद सम्बन्धी विवरण देते हुए भी इसी बात को ध्यान में रखा गया है। विकासवादी दर्शन में सृष्टि के मूल तत्त्व का, ब्रह्माण्ड के उद्भव एवं विकास में ब्रह्माण्ड-विद्या का तथा अन्य परिच्छेदों में प्रायः सर्गप्रक्रिया का अध्ययन किया गया है। तत्पश्चात् तीनों सृष्टि मतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इस सम्पूर्ण अध्ययन की उपलब्धियाँ अथवा प्रस्थापनाएँ बहुधा पौराणिक सृष्टि-विद्या से सम्बद्ध हैं। इनमें सर्वप्रमुख प्रस्थापना पौराणिक देवताओं के स्वरूप निर्वचन से सम्बन्धित है। उसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के अतिरिक्त गणेश एवं कार्तिकेय भी पौराणिक देवता हैं तथा उनकी मूर्त कल्पना का आधार भी ब्रह्मादि के समान सांख्य दर्शन तथा पुराणों में स्वीकृत सर्गक्रम है। ये पाँचों देवता सृष्टि के मूलाधार ब्रह्मस्वरूपी भगवान् नारायण के विभिन्न रूप अथवा अवतार हैं जिन्हें कि वे सर्गक्रम के अनुसार धारण करते हैं।

इस प्रस्थापना का संकलन दैवत संहिता में किया गया है। उनका सूत्रात्मक विवरण इस प्रकार है—

देवता	सर्गक्रम
१. नारायण	ब्रह्म
२. विष्णु	मूल प्रकृति
३. ब्रह्मा	महत्तत्त्व
४. शिव	अहंकार
५. कार्तिकेय	इन्द्रियसर्ग
६. गणेश	भूतसर्ग

दूसरी प्रमुख प्रस्थापना त्रिदेव तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध है। उसका संकलन प्राकृतिक आधार नामक शीर्षक में किया गया है। उसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—इन तीन देवताओं (त्रिदेव) के गुण, वर्ण तथा कार्य की पौराणिक परिकल्पना का आधार सूर्य है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन एवं पुराणों में स्वीकृत त्रिगुणात्मक प्रकृति की परिकल्पना का आधार निसर्ग या भौतिक प्रकृति है।

तीसरी प्रमुख प्रस्थापना स्वस्तिक के प्रतीक की व्याख्या से सम्बन्ध है। उसका संकलन प्रतीकात्मक सृष्टिविद्या के अन्तर्गत किया गया है। उसके अनुसार स्वस्तिक एक अक्षरात्मक प्रतीक है जिसका सम्बन्ध सृष्टि के देवता ब्रह्मा अथवा प्रजापति 'क' से है तथा उसकी आकृति पौराणिक सृष्टिविद्या के प्रायः सभी रहस्यों को संकेतित करने में समर्थ है।

इन तीन प्रमुख प्रस्थापनाओं के अतिरिक्त शेषनाग, वाराह, लिंग, कुमार सर्ग, सलिल तत्त्व, गर्भशास्त्रीय आधार, अग्नि एवं प्रलय आदि पर नवीन प्रकाश डाला गया है जो कि यथास्थान द्रष्टव्य है।

इस अध्ययन-अनुसन्धान की चर्चा के पश्चात् हम इस प्रबन्ध का मुख्यांश प्रस्तुत करेंगे। इसके पूर्व प्रबन्ध में अपनायी गयी अनुसन्धान प्रक्रिया के सम्बन्ध में मीमांसक कुमारिल का यह श्लोक उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—

विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गशास्त्राधिकरणं स्मृतम्॥

प्रस्तुत कार्य के प्रेरणास्रोत मेरे प्रिय मित्र श्री निकलंककुमार रहे हैं। उनके सम्पर्क की मधुर स्मृति से मैं सदैव प्रेरित होता रहा हूँ। पूज्य गुरुवर्य डॉ. चन्द्रधर शर्मा, जो कि इस प्रबन्ध के निर्देशक भी हैं, के स्नेहपूर्ण आशीर्वाद एवं बहुमूल्य सुझावों ने सदैव मेरा पथ प्रदर्शन किया है। मैं उनके प्रति किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ। उनके कुशल निर्देशन के अभाव में इस प्रबन्ध की सफलता की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। श्री नरेश 'जोशी' के बहुमूल्य सुझाव एवं प्रिय मित्र रमेश चौधरी के सहयोग भी इस प्रबन्ध की सफलता के सहभागी हैं। मैं उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। श्री पार्श्वनाथ शोध संस्थान वाराणसी के निर्देशक डॉ. मोहनलाल मेहता का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अपने संस्थान से बहुमूल्य ग्रन्थ अवलोकन के लिए उदारतापूर्वक प्रदान किये। अन्त में मैं उन सब विद्वान् लेखकों का हृदय से आभार मानता हूँ जिनके विद्वत्तापूर्ण अध्ययनों ने मेरा पथ प्रशस्त किया है।

—*प्रकाश*

१५ अगस्त, १९७४

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : जैन सृष्टिविद्या

द्वितीय खण्ड : बौद्ध सृष्टिविद्या

तृतीय खण्ड : पौराणिक सृष्टिविद्या

चतुर्थ खण्ड : विकासवाद एवं तुलनात्मक अध्ययन

चित्र-सूची

भारतीय सृष्टिविद्या

प्रथम खण्ड

जैन सृष्टिविद्या

जैन सृष्टिदर्शन

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पुराणों के अनुसार इस समय ब्रह्माजी की शतायु के पचास वर्ष (एक परार्ध) व्यतीत हो चुके हैं। सम्प्रति उनके इक्यावनवें वर्ष का श्वेतवाराह-कल्प नामक प्रथम दिवस चल रहा है।[1] इस दिवस के प्रारम्भ में उनके शरीर से स्वायम्भुव नामक प्रथम मनु उत्पन्न हुआ था। वह आद्यमानव अर्थात् प्रथम मनु इस कल्प के पहले मन्वन्तर का संस्थापक था।[2] उसने मरीचि प्रमुख अत्रि, अंगिरस, वशिष्ठ आदि सप्तर्षियों के साथ मिलकर इस भारतभूमि पर वेदयज्ञ धर्म की संस्थापना पहली बार की थी। वेदोद्धारक सप्तर्षियों ने विवाह, अग्निहोत्र तथा ऋग्यजुःसामवेद का त्रयीमय धर्म प्रवर्तित किया जब कि स्वायम्भुव मनु ने चार वर्णों की स्थापना करके चार आश्रमवाले लोकधर्म की *स्थापना की थी, पुराणों में ऋषि-प्रवर्तित धर्म श्रौत तथा मनु-प्रवर्तित धर्म स्मार्त धर्म* कहलाता है।[3]

इन स्वायम्भुव मनु के काल में ही यज्ञ धर्म का प्रवर्तन हुआ। तब यज्ञ का उद्देश्य वर्षा को प्राप्त करना था और वह यज्ञ दुग्धादि ओषधियों से ही सम्पन्न होता था। कालान्तर में जब सब लोग गृहस्थ धर्म में प्रतिष्ठित हो गये तब राजा वसु ने पशुहिंसा-प्रधान अश्वमेध आदि यज्ञों का प्रवर्तन किया। पुराण कहते हैं कि हिंसा-

---

१. विष्णु० १।३।२८

द्वितीयस्य परार्धस्य वर्तमानस्य वै द्विज।
वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकीर्तितः॥

संकल्पवाक्य : ॐ तत् सत्। अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे...। इत्यादि।

२. विष्णु० ३।१।४८

स्वायंभुवो मनुः पूर्वं···।
स्वायंभुवं तु कथितं कल्पादावन्तरं...।

३. वायु० ५७।३६-४१, ६०

तत्र त्रेतायुगस्यादौ मनुः सप्तर्षयश्च ते।
श्रौतं स्मार्तं च धर्मं च ब्रह्मणा च प्रचोदितम्॥
दाराग्निहोत्रं संयोगमृग्यजुःसामसंज्ञितम्।
इत्यादिलक्षणं श्रौतं धर्मं सप्तर्षयोऽब्रुवन्॥
परम्परागतं धर्मं स्मार्तं चाचारलक्षणम्।
वर्णानां प्रविभागश्च त्रेतायां संप्रकीर्तिताः।
संहिताश्च ततो मन्त्रा ऋषिभिर्ब्राह्मणैस्तु ते॥

प्रधान इस अद्भुत यज्ञ-मार्ग के बलपूर्वक प्रवर्तन को देखकर कुछ ऋषियों ने उसका बहिष्कार किया और वे जैसे आये थे वैसे ही वापस चले गये।[1] लेकिन फिर भी यज्ञ हुआ और एक बार बल पड़ने पर वह फिर रोका न जा सका।

जैन धर्म एवं संस्कृति के सूत्रधार भगवान् ऋषभदेव का जन्म भी इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था। पुराणों के अनुसार वे आद्यमनु स्वायम्भुव के वंशज थे। उनकी वंशपरम्परा देते हुए वहाँ बतलाया गया है कि मनु की चौथी पीढ़ी में प्रजापति के समान ओजवाले राजा नाभि से ऋषभदेव उत्पन्न हुए। ऋषभ के पुत्र भरत थे। जिनके नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया।[2]

जैनों के अनुसार पुराण-वर्णित नाभिपुत्र ऋषभदेव ही उनके श्रमण धर्म के आद्य संस्थापक हैं। उनके इस महान् कार्य के अतिरिक्त जैन पुराणों में उनके द्वारा (गृहस्थाश्रम में रहते हुए) किये गये अनेक लोकोपकारी कार्यों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जैनों के अनुसार ऋषभदेव ने ही सबसे पहले के मनुष्यों को शस्त्रविद्या, लेखनकला, कृषिविद्या, व्यापार, पशुपालन तथा नाना प्रकार के शिल्प कार्यों की शिक्षा दी थी। उन्हें ग्राम-नगर में निवास करना सिखलाया था तथा उन प्रथमतः बसाये गये ग्राम-नगरों की शासन-व्यवस्था के लिए राजसंस्था का संगठन भी उन्होंने किया था। शासन के लिए उन्होंने सर्वसमर्थ पुरुषों को चुनकर कुरु, हरि, नाथ तथा उग्र नामक क्षत्रिय राजवंशों की स्थापना की थी और वर्ण-रहित प्रजा को क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों में विभक्त किया था।

---

१. वायु० ५७।६१,८६,९२,१२०

यज्ञः प्रवर्तितश्चैव तदा ह्येवं तु दैवतैः।
यामैः शुक्रैर्जपैश्चैव सर्वसंभारसंवृतैः॥
यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्।
ओषधीषु च जातासु प्रवृत्ते वृष्टिसर्जने।
प्रतिष्ठितायां वार्तायां गृहस्थाश्रमपुरेषु च॥
अथाश्वमेधे वितते समाजग्मुर्महर्षयः।
यजन्ते पशुभिर्मेध्यैर्हुत्वा सर्वे समागताः॥
ततस्ते ऋषयो दृष्ट्वाद्भुतं धर्मं बलेन तु।
वसोर्विमयमनादृत्य जग्मुस्ते वै यथागताः॥

२. वायु० ३३।५-५२

स्वायंभुवेऽन्तरे पूर्वमाद्ये त्रेतायुगे तदा।
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तैः पौत्रैः स्वायंभुवस्य तु॥
अग्नीध्रश्च वपुष्मांश्च मेधा मेधातिथिर्विभुः॥
जम्बूद्वीपेश्वरं चक्रे अग्नीध्रं तु महाबलम्।
ज्येष्ठो नाभिरिति ख्यातस्तस्य किंपुरुषोऽनुजः॥
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मेरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरपुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतः पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत।
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

विष्णु० २।१ पूर्वप्राय, गरुड० १।५४, भाग० ५।१, अग्नि० १०७, मार्क० ५३।

उनके इन लोकहितैषी कार्यों के कारण उन्हें ब्रह्मा, विधाता, स्रष्टा आदि के नाम से जैन पुराणकारों ने स्मृत किया है।[1] लेकिन इन सबसे ऊपर उनका धर्म-प्रवर्तक रूप प्रतिष्ठित है जिसने प्राणिमात्र की समानता, स्वतन्त्रता और मुक्ति की सम्भावना का सिंहनाद सबसे पहले किया था।

ऋषभ-प्रणीत धर्म में अपने पूर्वजों (पुराणों के अनुसार स्वायम्भुव मनु आदि) द्वारा प्रतिपादित श्रौत-स्मार्त धर्म के स्त्रीपरिग्रह, अग्निहोत्र, अन्नमय अथवा पशुहिंसामय यज्ञ, बलिदान तथा देवपूजा के लिए कोई स्थान न था और न किसी वर्ण और आश्रम का ही बन्धन था। किसी विश्व-रचयिता, विश्व-पालक एवं संहारक, शक्ति, देवता, ईश्वर अथवा ब्रह्म में उसकी आस्था नहीं थी। उसके स्थान पर स्वकर्म को ही अपने-आपका विधाता, संरक्षक और विनाशकर्ता बतलाया गया था।

ऋषभ के इस कर्मप्रधान आत्मधर्मको समय-समय पर अनेक विचारशील महापुरुषों ने उत्थापित किया है। जैन परम्परा में वे महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। जैनों के अनुसार उनकी संख्या चौबीस है। तीर्थंकरों की इस शृंखला की अन्तिम कड़ी भगवान् महावीर थे, जिनका जन्म आज से लगभग पचीस सौ वर्ष पहले मगध (आधुनिक बिहार) के वैशाली नामक वैभवशाली नगर में हुआ था।

आज हमें जो भी और जितना भी ज्ञान ऋषभदेव के धर्म के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है वह सब इन्ही भगवान् महावीर की वाणी के रूप में विविध आगम ग्रन्थों एवं जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत असंख्य शास्त्रों में संग्रथित है। इन शास्त्रों में सृष्टि के सम्बन्ध में भी प्रभूत विचार-राशि पायी जाती है क्योंकि आत्मतत्त्व-निर्णय अर्थात् मानव व प्राणिमात्र के आत्मस्वातन्त्र्य, कर्मस्वातन्त्र्य एवं मुक्ति के प्रश्न इससे अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं।

जैनों का सृष्टिविषयक सम्पूर्ण विवरण-विवेचन मुख्यतः दो विभागों में बाँटा जा सकता है :

१. लोक-विभाग तथा

२. काल-विभाग।

प्रथम विभाग के अन्तर्गत त्रिलोक का रचनासम्बन्धी विवरण तथा द्वितीय विभाग के अन्तर्गत त्रिलोक में होनेवाले कालजन्य परिवर्तन रखे जा सकते हैं।

अब हम सृष्टि के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण अर्थात् जैन सृष्टि-दर्शन पर प्रकाश डालते हुए उपर्युक्त दोनों विभागों के अन्तर्गत अपना अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

●

---

१. महापुराण ३।२३२

वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू।

पाण्डवपुराण० २।१५४ असि मषि कृषि विद्यावाणिज्यं पशुपालनम्।

एवं षट्कर्मसंघातं वृषभस्तानुपादिशत्॥

पद्मपुराण ३।२५५, महापुराण १६।२५६-६१, पाण्डवपुराण २।१६१-६२।

जैन सृष्टिदर्शन

सृष्टि के सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण पूर्णतः निर्णीत है। उसके अनुसार यह लोक (विश्व या सृष्टि) जीव तथा पुद्गल आदि छह द्रव्यों से निर्मित है। ये छह द्रव्य न तो कभी किसी से उत्पन्न हुए हैं और न कभी किसी अन्य द्रव्य में विलीन ही होंगे। अनादि अनन्त द्रव्यों से निर्मित यह लोक भी आदि अन्त रहित, अकर्तृक तथा स्वसंचालित है। इसका स्रष्टा, पालक अथवा संहारक भी कोई नहीं है।[1]

जैनों के विश्वविषयक इस संक्षिप्त वक्तव्य का अध्ययन अब हम आगम तथा शास्त्रों के प्रकाश में करेंगे।

सृष्टि का मूलतत्त्व—षड्द्रव्य

ब्रह्मवादी पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का मूल तत्त्व सत् है। सत् ब्रह्म है। यह सद्ब्रह्म ही सृष्टि का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है। वही निमित्त और वही उपादान है। उस सद्ब्रह्म से ही अव्यक्त, महत्, अहंकार आदि प्राकृत पदार्थों की सृष्टि होती है और वही ब्रह्म ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि देवताओं के रूप में इस सृष्टि का सृजन-संहार आदि करता है। इतना ही नहीं वह ब्रह्म, सृष्टि के असंख्य पुरुषों के रूप में भी प्रकट हो रहा है। यह त्रिविध विश्व आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक एकमेवाद्वितीय सत् उसी ब्रह्म का प्रकाशन है। सारा चिदचिद् सृष्टि प्रपंच उस सत् का ही फैलाव है। वह सत् चैतन्य एवं आनन्दपूर्ण है। उसकी इच्छा मात्र से यह महान् सृष्टि उत्पन्न होती, स्थिर रहती तथा विलय को प्राप्त होती है। यह सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का खेल उसीकी इच्छा से, उसीके तत्त्व से और उसीकी लीला के लिए होता है। जो कुछ भी जहाँ कहीं भी है वह सब ब्रह्ममय है। ब्रह्म है। सत् है।

जैन दार्शनिक भी सद्वादी हैं। किन्तु उनका सत् पुराणों के समान कोई तत्त्व अथवा द्रव्य नहीं है। अपितु वह द्रव्य का लक्षण मात्र है।[2] इस लक्षण से कुछ उत्पन्न नहीं होता। किन्तु उस लक्षण से युक्त द्रव्य से निरन्तर अनेक पर्यायों की उत्पत्ति एवं संहृति होती रहती है तथा इसके बावजूद भी वह द्रव्य अव्यय बना रहता है।[3]

---

१. महापुराण ४।१५ लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहकः।
नित्यः स्वभाव-निर्वृत्तः सोऽनन्ताकाशमध्यगः॥
वही ३।४ यथास्वं गुणपर्यायैरसौ नान्योऽन्यसंप्लवः।
कार्तिकेया० ११५ सर्वाकाशमनन्तं तस्य च बहुमध्यसंस्थितः लोकः।
स केनापि नैव कृतः न च धृतः हरि-हरादिभिः॥

२. तत्त्वार्थ० ५।३२. सद् द्रव्यलक्षणम्॥ ३. वही, ५।३३. उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्॥ वही, ५।३८ गुणपर्ययवद् द्रव्यम्॥

जैनों के अनुसार इस विश्व की संरचना में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल—ये छह द्रव्य पाये जाते हैं।[1] ये छहों द्रव्य सत् अर्थात् यथार्थ हैं—वास्तविक हैं। इस लोक में उपर्युक्त छहों द्रव्य यद्यपि एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं तथापि तात्त्विक दृष्टि से वे सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। न तो वे कभी किसी एक तत्त्व से उत्पन्न ही हुए हैं और न कभी किसी एक तत्त्व में बिलीन ही होंगे। वे अनादि काल से आपस में मिले हुए होने पर भी, अबतक आपस में नहीं मिल पाये हैं और न कभी भविष्य में ही उनके अन्योन्य संप्लव की आशा की जा सकती है।[2] वे अनादि, अनन्त, अकृत्रिम एवं शाश्वत हैं। उनसे निर्मित यह लोक भी अनादि, अनन्त, अकर्तृक एवं शाश्वत है।[3]

जैनों के अनुसार आकाश द्रव्य अनन्त-अनन्त विस्तारवाला है।[4] वह एक परमविस्तृत गतिरहित अचेतन द्रव्य है। जिसमें सभी प्रकार के रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श का सर्वथा अभाव है। इस परम विस्तृत व्योम के बहुमध्य में (केन्द्र में) एक छोटे-से क्षेत्र में, यह नाना प्रकार के जीव तथा जड़ पदार्थों से भरा हुआ अनादि तथा अन्तरहित लोक है।[5] इस लोक जितने विस्तृत, गति तथा स्थिति के सहायक धर्म एवं अधर्म नाम के एक-एक द्रव्य इसमें समान रूप से स्थित हैं। काल नामक द्रव्य भी उसके प्रत्येक प्रदेश में स्थित है। किन्तु असंख्य स्कन्ध परमाण्वात्मक पुद्गल तथा अनन्तसंख्यक जीवात्माएँ उसमें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। जीव एवं पुद्गल द्रव्यों को छोड़कर अन्य सब द्रव्य गतिशून्य (अचल) हैं। पौद्गलिक क्रियाओं तथा जीवात्माओं के संसर्ग के कारण पुद्गल तथा स्वकर्म के कारण जीवगण इस लोकाकाश में सर्वत्र भ्रमण करते हैं।[6] उनके इस स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति उनका परिचालन नही करती।

सृष्टि का संचालक : स्वभाव

पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का संचालन सदात्मक ब्रह्म अथवा ईश्वर करते हैं। अतीतकाल में कभी एक समय ऐसा था जबकि ईश्वर या ब्रह्म एकाकी थे। उनके मन में सृष्टि की कामना हुई। उससे महदादिक्रम से पाँच भौतिक जगत् उत्पन्न हुआ। तब ईश्वर ने स्वांश से इस संसार के समस्त प्राणियों की रचना की। उसने जिस रूप मे इस विश्व को रचा वह ब्रह्मा के नाम से लोक प्रसिद्ध है। ब्रह्मा के पश्चात् वह ब्रह्म विष्णु का रूप धारण करके जगत् का पालन करता है। प्रलयकाल में वही ब्रह्म शंकर

---

१. तिलोय० १।१३४, १३५।

२. कार्तिकेया० ११६ अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ।
महापुराण० ३।४ यथास्वं गुणपर्यायैरतो नान्योऽन्यसंप्लवः॥

३. त्रिलोकसार ४ लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
लोकतत्त्वनिर्णय ३।३४-३६। जीवा जीवेहि फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो।

४. सर्वार्थसिद्धि ५।६। ५. वही, ५।१२, लोकाकाशेऽवगाहः। महापुराण ४।१५, पूर्वोद्धृत। ६. सर्वार्थ-सिद्धि ५।१९-२२।

का रूप धारण करके इस विश्व का संहार कर डालता है। फिर कुछ समय विश्राम करके पहले के समान नयी सृष्टि का सृजन करके, परिपालन एवं संहार भी वही करता है। इस प्रकार उस एकमेवाद्वितीय सद् ब्रह्म के द्वारा ही इस सृष्टि का सृजन, पालन, तथा संहार रूप संचालन पुराणों में प्रतिपादित किया गया है।

जैन दार्शनिकों को विश्व के एकमेव अद्वितीय मूल तत्त्व—ब्रह्म के समान, उसके द्वारा विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का सिद्धान्त भी अमान्य है। उनके अनुसार न तो कोई ब्रह्मा इस सृष्टि का सृजन करता है और न कोई विष्णु या शंकर उसका परिपालन अथवा संहार ही। इसके विपरीत इस विश्व को उन्होंने आदि-अन्त रहित, सृष्टि-प्रलय रहित तथा शाश्वत माना है।[1] इसके संचालन के लिए वे किसी दिव्य शक्ति अथवा ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यह विश्व पूर्वोक्त छह द्रव्यों के स्वभाव से ही संचालित है। यथा—

परम विस्तृत आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को स्थान देता है जबकि धर्म और अधर्म द्रव्य गतिमान् हुए जीव एवं पुद्गलों की गति एवं स्थिति में सहायक होते हैं। काल द्रव्य स्वयं प्रतिक्षण बदलता हुआ अन्य द्रव्यों को नये-नये रूप धारण करने में सहयोग देता है। जबकि चेतनारहित पुद्गल द्रव्य चेतनायुक्त जीवों को स्वकर्मानुसार देहादि धारण करने में सहयोगी होता है और चेतन जीव भी परस्पर एक दूसरे को नाना प्रकार से सहायता करते हैं।[2]

इस प्रकार षड्द्रव्यों से निर्मित अकृत्रिम-अनीश्वर विश्व की कल्पना जैन दर्शन में प्राप्त होती है। उसके इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के पश्चात् हम उसके विराट् स्वरूप का अध्ययन लोक तथा काल-विभाग के अन्तर्गत करेंगे।

●

---

१. कार्तिकेया० ११५. सर्वाकाशमनन्तं तस्य च बहुमध्य-संस्थितः लोकः।
स केनापि नैव कृतः न च धृतः हरिहरादिभिः॥
महापुराण ४।४० असृज्योऽयमसंहार्यः स्वभाव-नियतस्थितिः।
२. सर्वार्थ० ५।१-२२।

लोक रचना
(चित्र नं० १)

स्वोदरस्थितनिःशेषपुरुषार्थपदार्थकः।
अपौरुषेय एवैष सर्वलोकपुरुषः स्थितः ॥

—हरिवंश० ४।३७
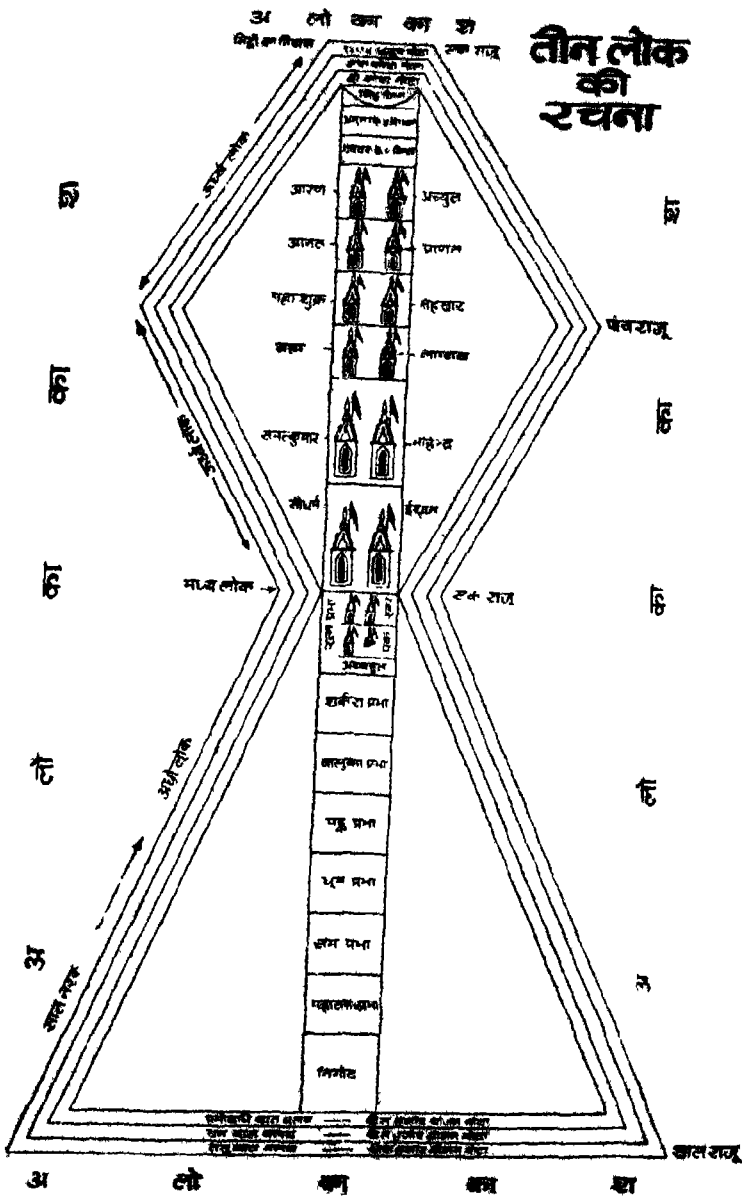
लोक परिचय

लोक

जैनों के अनुसार आकाश द्रव्य सर्वाधिक विस्तृत द्रव्य है। उसके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव एवं काल—इन पाँच द्रव्यों की कल्पना जैन दर्शन में की गयी है। ये पाँच द्रव्य अनन्त विस्तृत आकाश के जिस छोटे-से भाग में देखे जाते हैं (यत्र लोक्यन्ते) वह आकाश-खण्ड लोकाकाश तथा वह एवं उसमें स्थित पदार्थ समूह लोक कहलाता है।[1]

विश्व, ब्रह्माण्ड, सृष्टि, जगत्, संसार आदि उसके पर्याय नाम हैं।

अलोक

उपर्युक्त लोकाकाश के बाहर अन्य द्रव्यों से सर्वथा शून्य, अनन्त-विस्तृत-विशुद्ध आकाश तत्त्व को, जैन दर्शन में अलोक अथवा अलोकाकाश कहा गया है।[2]

व्याख्याप्रज्ञप्ति में उसका स्वरूप सुषिर गोल संस्थानवाला बतलाया गया है। विष्णुपुराण भी इसी मन्तव्य को पुष्ट करता है।[3]

उसके अनुसार आकाश का स्वरूप सुषिर परिमण्डल है। उसे जैन ग्रन्थों में निम्नांकित संकेत से संकेतित किया जाता है—
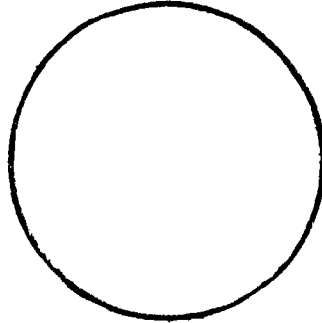
१. तिलोय० १।१३४ — धम्माधम्मणिबद्धा गदिरगदी जीवपोग्गलाणं च।
जेत्तियमेत्ता आसे लोयाआसो स णादव्वो॥
कार्तिकेया० १२१ — दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
सर्वार्थ० ५।१२ — को लोकः? धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति।
महापुराण० ४।१३

२. तिलोय० १।१३५ — लोयायासट्ठाणं सयंपहाण सदव्व छक्कं हु।
सव्वमलोयायासं तं संवास हवे णियमा॥

३. व्याख्या० ४२०।५ — अलोए णं भंते किं संठिये पण्णत्ते?
गोयमा! झुसिर गोल संठिये पन्नत्ते।
विष्णु० ६।४।२६ — परिमण्डलं च सुषिरमाकाश···सर्वमावृत्य तिष्ठति।

लोक स्थिति

जैन वाङ्मय में लोक की स्थिति अनन्त आकाश के बहुमध्य अर्थात् केन्द्र में मानी गयी है।[1] अनन्त विस्तृत विशुद्ध आकाश के केन्द्र में केन्द्रबिन्दु की भाँति नगण्य विस्तारवाला यह विशाल लोक स्थित है।

जैनों के अनुसार इस अनन्ताकाश में केवल एक ही लोक है। इसके विपरीत पुराणों में अनन्त लोकों अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डों की कल्पना प्राप्त होती है।

लोकाकार

जैन लोकवेत्ताओं ने लोक के आकार की कल्पना पुरुष के रूप मे की है। यह पुरुषाकार लोक अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है।[2] इसके विपरीत पुराणकारों ने लोक की कल्पना अण्डे (ब्रह्म अण्ड) अथवा कमल (लोकपद्म) के रूप में की है और उसे सादि, सान्त एवं अशाश्वत माना है। उनके अनुसार सृष्टि के आदि में ब्रह्मा उसे रचते है, मध्य में विष्णु उसका पालन करते है और अन्त में शिव उसका संहार करते हैं।

जबकि जैनों के अनुसार वह अकृत्रिम और आदि-अन्तरहित है तथा हरि, हर आदि के द्वारा रचित अथवा धारित नही है।[3]

जैन पुराणों में—कमर पर हाथ रखकर तथा पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुष के समान लोक आकार कल्पित किया गया है।[4] कुछ पुराणों में वैसाखी पर खड़े हुए तथा कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के रूप में उसे कल्पित किया गया है।[5]

व्याख्याप्रज्ञप्ति उसे सुप्रतिष्ठक शरयन्त्र (तरकस, तूणीर) के समान निर्दिष्ट करती है।[6]

उसके ऊर्ध्व-अधः आदि भागों की कल्पना वेत्रासन, झल्लरी तथा मृदंगाकार रूप मे भी जैनग्रन्थों में की गयी है। अधोलोक वेत्रासन के समान, मध्यलोक झल्लरी के समान तथा ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान आकारवाला है।[7]

---

१. कार्तिकेया० ११५ — सर्वाकाशमनन्तं तस्य च बहुमध्यसंस्थितः लोकः।
तिलोय० १।६१ — पूर्वानुसारी, त्रिलोकसार ३ पूर्वानुसारी, महापुराण ४।१५., हरिवंश ४।१, ४

२. हरिवंश ४।३२ — स्वोदरस्थित-निःशेषपुरुषादि-पदार्थकः।
अपौरुषेय एवैष सल्लोकपुरुषः स्थितः॥
महापुराण ४।४२

३. कार्तिकेया० ११५ — सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ।
सो केण वि णेव कओ ण य धारियो हरिहरादीहिं॥
पाण्डव० २५।१०८ — आद्यन्तरहितो लोकोऽकृत्रिमः कैर्न निर्मितः॥

४. पाण्डव० २५।१०८ — प्रसारिताङ्घ्रिनिक्षिप्त-कटि-हस्त-नरोपमः।

५. महापुराण ४।४२ — वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद्यादृशः पुमान्।
तादृशं लोकसंस्थानमामनन्ति मनीषिणः॥
हरिवंश० ४।८ — पूर्वानुसारी।

६. व्याख्या० ४२० — लोए णं भंते किं संठिये ?
गोयमा सुपइट्ठग संठिये लोए पण्णत्ते।

७. महापुराण० ४।४१ — वेत्रविष्टरझल्लयोर्मृदङ्गस्य यथाविधाः।
संस्थानैस्तादृशान् प्राहुस्त्रींल्लोकाननुपूर्वशः॥

लोक विस्तार

पुराणों की भाँति, जैनग्रन्थों में भी, लोक की लम्बाई-चौड़ाई का वर्णन पाया जाता है। जैनों के अनुसार यह लोक चौदह राजु (रज्जु या चेन) ऊँचा है और इसका घनफल तीन सौ तैंतालीस (३४३)राजु है।[१]

पुराणों के चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड तथा जैनों के चतुर्दश रज्जु उत्तुंग-लोक की कल्पना में चतुर्दश संख्या की समानता दर्शनीय है। चौदह भुवन—चौदह राजु।

जैनों के अनुसार हमारा यह पृथ्वीलोक मध्य लोक में स्थित है। इसके ऊपर सात राजु तक ऊर्ध्वलोक तथा इसके अधोभाग में सप्तराजु नीचे तक अधोलोक स्थित है।

लोकाधार

जैनों के अनुसार इस विशाल लोक का आधार आकाश है। लोक में पाये जाने-वाले जीव, पुद्गल, धर्म, काल आदि द्रव्य इसी आकाश की नाभि (केन्द्र) में प्रतिष्ठित हैं और वह ही उन्हें धारण किये हुए है। कोई विष्णु आदि देवता अथवा शेषनाग आदि उसे धारण नहीं किये हुए हैं—जैसा कि पुराणों में वर्णित है।

लोक का आधारभूत आकाश स्वप्रतिष्ठित है। उसका अन्य कोई आधार नही है। उसका आधार वह स्वयं है।[२]

व्याख्याप्रज्ञप्ति में भी आकाश के इसी सर्वाधारत्व को बतलाते हुए कहा गया है कि आकाश में वायु प्रतिष्ठित है, वायु में समुद्र तथा समुद्र में पृथ्वी प्रतिष्ठित है और पृथ्वी पर सभी स्थावर जंगम जीव।[३]

लोकावरण : वातवलय

पुराणों में मुख्यतः पृथ्वी महाभूत से निर्मित इस ब्रह्माण्ड को सप्त आवरणों से वेष्टित बतलाया गया है। जैन ग्रन्थों में भी इस आवरण कल्पना का लघु रूप दिखलाई देता है। उनके अनुसार आकाश को नाभि में स्थित यह लोक तीन प्रकार के वायवीय

व्याख्या० ४२० अहोलोग...तप्पागारसंठिये।
तिरियलोग...झल्लरिसंठिये।
उड्ढलोय...मुइंगाकारसंठिये॥
तिलोय० १।१३७, ३८ पूर्वानुसारी।

१. तिलोय० १।१५० चोद्दस रज्जुपमाणो उच्छेहो होदि लोगस्स।
कार्तिकेया० ११६ उड्ढ चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ।
७३ रज्जु = ३४३ घन रज्जु।
टिप्पणी—रज्जु या राजु प्राचीनकाल में दूरी का मापक एक मान था। जैन ग्रन्थों में इसका प्रयोग एक अकल्पित लम्बाई के मान की उपमा के रूप में हुआ है। तिलोयपण्णत्ति १।१३२ आदि में उसका मान बतलाया है जो कि मानव को विज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक है।

२. सर्वार्थ ५।१२ लोकाकाशेऽवगाहः।...आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्।

३. व्याख्या० ५५ आगासपइट्ठिये वाये, वायपइट्ठिये उदही, उदहीपइट्ठिया पुढवी, पुढविपइट्ठिया तसा थावरा पाणा।

वेष्टनों से आवेष्टित है। इन वेष्टनों को जैनवाङ्मय में वातवलय अर्थात् हवा के घेरे कहकर पुकारा गया है। तनुता तथा सघनता के अनुसार उनके नाम हैं—

१. घनोदधिवायु या वातवलय
२. घनवातवलय तथा
३. तनुवातवलय।[1]

त्रिलोकसारादि ग्रन्थों के अनुसार वृक्ष के वल्कल के समान ये तीनों वायुमण्डल लोक को घेरे हुए हैं। तिलोयपण्णत्ति में इनकी मुटाई एवं रंग आदि का भी विधान पाया जाता है।[2]

त्रसनाली

जिस प्रकार वृक्ष के ठीक मध्य में उसका सार भाग हुआ करता है उसी प्रकार लोक-वृक्ष के बहुमध्य में, एक राजु लम्बी तथा इतनी ही चौड़ी तथा क़रीब तेरह (मतान्तर से चौदह) राजु ऊँची, त्रसनाली की कल्पना जैन लोकविदों ने की है।[3]

जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है कि इस नाली में त्रस अर्थात् जंगम जीवों का निवास एवं गमनागमन होता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार इस नाली के बाहर जंगम जीवों की गति असम्भव है किन्तु स्थावर जीवों का निवास इस नाली में वे मानते हैं। उनके अनुसार देव, नारकी, पशु, मनुष्यादि जंगम (त्रस) जीवों के निवासभूत स्वर्ग, नरक, तिर्यग्मानुषलोक आदि इसी त्रसनाली में अवस्थित हैं।

त्रिलोक कल्पना

जैसा कि पहले संकेतित किया जा चुका है—जैनों ने इस समग्र लोक-को, ऊर्ध्व, अधः, मध्य के क्रम से तीन भागों में विभक्त किया है। लोक के मध्य में होने से हमारी पृथ्वी को मध्यलोक, पृथ्वी के ऊपर की ओर के लोक को ऊर्ध्वलोक तथा पृथ्वी के नीचे के लोक को अधोलोक कहा जाता है।

जैन ग्रन्थों में इन लोकों की लम्बाई-चौड़ाई एवं वहाँ के निवासी जैनों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहा गया है। प्रबन्ध की मर्यादा देखते हुए हम इन तीन लोकों का संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत करेंगे। इसके साथ ही पुराणगत सन्दर्भों से उसकी समता-विषमता को भी प्रकाशित करते चलेंगे।

---

१. तिलोय० १।२६६ पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणानिलो तत्तो।
सप्परदो तणुवादो अंतम्मि णहं णियाधारं॥

२. त्रिलोकसार १२३ वादाणं वलयं तयं रूक्खस्स तयं व लोगस्स।
तिलोय० १।२६८,७३ गोमुत्त मुग्गवण्णा घणोवही तह घणाणिलो वाऊ।
तणुवादो बहुवण्णो रूक्खस्स तयं व वलयत्तियं।

३. तिलोय० २।६. लोय बहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जु पदरजुदा।
तेरस रज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसणाली॥
त्रिलोकसार० १४३. चौदह रज्जुत्तुंगा तसणाली होदि गुणनामा।

ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक को स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है —

१. सिद्धलोक और

२. देवलोक

सिद्धलोक

जैनों के अनुसार ऊर्ध्वलोक किंवा समग्र लोक के शिखर भाग में सिद्धलोक है। इसमें सिद्धपुरुष अर्थात् मुक्तात्माएँ निवास करती हैं। ये सिद्धात्माएँ सभी प्रकार के कर्मावरणों तथा शरीरादि से पूर्णतः रहित होती हैं। उनमें अनन्त सुख, बल एवं ज्ञानदर्शन की अनन्त शक्ति सदा विद्यमान रहती है। उनका पुनर्जन्म नहीं होता।[1]

सिद्धों का यह लोक पुराणों के सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोक से तुलनीय है। क्योंकि इस लोक में भी सिद्धों के समान पुनर्जन्मरहित अपुनर्मारक देवता निवास करते हैं और स्थिति की दृष्टि से भी यह लोक सिद्धलोक के ही समान, ब्रह्माण्ड के शीर्षस्थ भाग में कल्पित किया गया है।

देवलोक

जैनाचार्यों ने चार प्रकार के देवता माने हैं। ये देवता जिस लोक में निवास करते हैं, वह देवलोक कहलाता है। देवताओं की चार कोटियों के अनुसार देवलोक अर्थात् स्वर्गलोक भी चार प्रकार का है—

१. भावनलोक

२. व्यन्तरलोक

३. ज्योतिर्लोक

४. विमानलोक (कल्प और कल्पातीत)।

भावनलोक

इस देवलोक की अवस्थिति ऊर्ध्वलोक में न होकर मध्यलोक अर्थात् पृथ्वीतल के अधोभाग में है। जैनों के अनुसार इस पृथ्वीतल में अत्यन्त विशाल एवं वैभव सम्पन्न अनेक भवन हैं। इन भवनों में असुर, नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वायु, स्तनित, उदधि,

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, ६८.

अट्ठविह कम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

तिलोय० ६।९६, कार्तिकेया० १२१।

२. वायु० १०१। २७, १४१।

सत्येति ब्रह्मणः शब्दः सत्तामात्रस्तु स स्मृतः।
ब्रह्मलोकस्ततः सत्यं सप्तमः स तु भास्करः॥
अपुनर्मारकामानां ब्रह्मलोकः स उच्यते।

दिक् तथा द्वीपकुमार नामक दस प्रकार के देवता निवास करते हैं।[1] भवनों में निवास करने के कारण वे भवनवासी कहलाते हैं।

पुराण वर्णित अतल, वितल आदि सप्त पाताललोकों में रहनेवाले दैत्य, दानव, यक्ष, नाग आदि देवताओं से जैनों के उपर्युक्त देवों तथा भावनलोक की तुलना की जा सकती है। दोनों सम्प्रदायों में वर्णित इन भूविवरों की विभूति का वर्णन भी पर्याप्त साम्य रखता है।[2] विष्णुपुराण के अनुसार तो ये भूतल स्वर्ग से भी रमणीय एवं सम्पन्न लोक हैं। तिलोयपण्णत्ति भी इन्हें नानाविधविन्यासा वरकञ्चनरत्ननिर्मिता बतलाती है।[3]

व्यन्तरलोक

उपर्युक्त भूमिगत भवनों के अतिरिक्त समुद्रस्थ भवनपुरों तथा पर्वतस्थ आवासों में निवास करनेवाले देवता व्यन्तर कहलाते हैं। इनके आठ प्रकार हैं—

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत एवं पिशाच।[4]

जैनों के इन व्यन्तर देवताओं की तुलना पुराणों के अन्तरिक्षचारी गन्धर्व, अप्सरा, भूत, पिशाच, नाग, अश्विनी, मरुद्गण आदि अनिकेत देवताओं से की जा सकती है।[5]

ज्योतिर्लोक

पृथ्वी के मध्य में स्थित सुमेरु पर्वत से ऊपर आकाश में रहनेवाले देवता ज्योतिषीदेव कहलाते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह तथा प्रकीर्णक के भेद से उनके पाँच प्रकार हैं। इन्हीं सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारादि रूप ज्योतिपिण्डों में इन देवताओं का निवास है। जैनों के अनुसार ये ज्योतिष्क देवगण नित्यप्रति सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं। उनके इस परिक्रमण से ही दिवस-रात्रि रूप कालविभाग होता है।[6]

जैनों के इन ज्योतिषी देवों की तुलना पुराणों के स्वर्लोक निवासी आदित्य, ऋभु, विश्वेदेवा, साध्यगण, ऋषिगण, पितृगण तथा अंगिरस आदि देवताओं से की जा

---

१. तिलोय० ३।६, तत्त्वार्थ० ४।१०।

२. विष्णु० २।५, सप्तपाताललोक वर्णन। तिलोय० ३।१-२४३ भवनवासीलोक निरूपण।

३. विष्णु० २।५।५ स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानि…।
तिलोय० ३।५६ णाणाविहविण्णासा वरकंचणरयणणियरमया।

४. तिलोय० ६।२५।६ भवणं भवणपुराणि आवासा इय भवंति तिवियप्पा।
तत्त्वार्थ० ४।११ व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः॥

५. वायु० १०१।२८-२९ गन्धर्वाप्सरसो यक्षा गुह्यकास्तु सराक्षसाः।
सर्वभूत-पिशाचाश्च नागाश्च सह मानुषैः॥
मरुतो मातरिश्वानो रुद्रो देवास्तथाश्विनौ।
अनिकेतान्तरिक्षास्ते भुवर्लोक-दिवौकसः॥

६. तत्त्वार्थ० ४।१२-१५ ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च।

सकती है। पुराणों में जैनों की भाँति इन्हें भी सूर्य-चन्द्र-तारादि रूप विमानों में रहनेवाला बतलाया गया है।[1]

विमानलोक

वैमानिक देवताओं के निवासभूत क्षेत्र को जैनाचार्यों ने कल्प और कल्पातीत इन दो विभागों में बाँटा है।[2] पूर्वोक्त ज्योतिर्लोक के ऊपर कल्प और कल्पों के भी ऊपर कल्पातीत विमान हैं। ये विमान रत्नादि विनिर्मित तथा अकृत्रिम हैं अर्थात् इन विमानों को कभी भी किसी ब्रह्मा आदि देवता ने नहीं बनाया है और न कोई उन्हें नष्ट ही करेगा। वे सदा से हैं और सदा रहेंगे। तिलोयपण्णत्ति में कल्पों की संख्या बावन तथा कल्पातीत विमानों की संख्या ग्यारह मानी गयी है।[3]

कल्प-विमान

कल्प नामक विमानों में रहनेवाले देवता कल्पवासी कहलाते हैं। जैन ग्रन्थों में कल्पों की संख्या सोलह बतलायी गयी है। कोई-कोई आचार्य उसे बारह बतलाते हैं।[4] ये पटल आकाश में ऊर्ध्व-ऊर्ध्व (ऊपर-ऊपर की ओर) स्थित हैं।

सोलह कल्पों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सौधर्म	५. ब्रह्म	९. शुक्र	१३. आनत
२. ईशान	६. ब्रह्मोत्तर	१०. महाशुक्र	१४. प्राणत
३. सानत्कुमार	७. लान्तव	११. शतार	१५. आरण
४. माहेन्द्र	८. कापिष्ठ	१२. सहस्रार	१६. अच्युत।[5]

बारह कल्पों में ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र तथा शतार की गणना नहीं की जाती है।[6] पुनश्च तिलोयपण्णत्ती में ऋतुविमल आदि बावन कल्प माने गये हैं।[7]

पुराणों के महर्लोक एवं जनलोक निवासी कल्पवासी देवताओं से जैनों के सोलह कल्पों में निवास करनेवाले कल्पवासी देवताओं का ऐकात्म्य स्थापित किया जा सकता है। पुराणों में महर्जनःलोक के देवताओं को इसलिए कल्पवासी कहा जाता है कि वे एक कल्प तक उन लोकों में निवास करते हैं।[8]

---

१. वायु० १०१।३०-३१ — आदित्या ऋभवो विश्वे साध्याश्च पितरस्तथा।
ऋषयोऽङ्गिरसश्चैव भुवर्लोक-समाश्रिताः॥
एते वैमानिका देवास्ताराग्रह-निवासिनः॥

२. तिलोय० ८।११४ — कप्पाकप्पातीदं इदि दुविहं होदि णाकवरलोए।
बावण्ण कप्पपडला कप्पातीदा य एक्करस॥

वही, ८।१० — सव्वे अणाविणिहणा रयणमया इंदया होंति।

३. वही, ८।११५ — बारस कप्पा केई केई सोलस वदंति आइरिया।

४. वही, ८।१२७, १२८,

५. तिलोय० ८।१२७-२८।

६. तिलोय० ८।१२०-२१।

७. तिलोय० ८।१२-१६।

८. वायु० १०१।३३ — महर्लोकश्चतुर्थस्तु तस्मिंस्ते कल्पवासिनः।
वायु० १०१।१४, ६३.६५; विष्णु० २।७।१२।

कल्पातीत विमान

सोलह कल्पों से ऊपर किन्तु सिद्धलोक से नीचे के लोकाकाश में कल्पातीत विमान हैं। उनमें से पाँच विमान अनुत्तर, नव विमान अनुदिश तथा नव विमान ग्रैवेयक के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१] इन अकृत्रिम विमानों में कामवासना शून्य तथा ज्ञानवैराग्य प्रधान देवता निवास करते हैं।[२]

इन कल्पातीत देवताओं की तुलना पुराणों के तपोलोकवासी वैराग्यप्रधान वैराज नामक देवताओं से की जा सकती है। ऋभु, सनक, सनन्दन आदि ऊर्ध्वरेता देवगण इसी तपोलोक में निवास करते हैं।[३]

ऊर्ध्वलोक के समापन के पूर्व हम देवलोक की कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं का विवरण देंगे।

देवलोक की कुछ विशेषताएँ

देवताओं में केवल स्त्री और पुरुष—ये दो ही लिंग होते हैं। वहाँ पर नपुंसक नहीं होते।[४] पुनश्च स्त्रियाँ भी केवल सौधर्म एवं ऐशान कल्प तक ही होती हैं। अन्य कल्पों के देवगण अपने उपभोग के लिए उन्हें इन्हीं कल्पों से प्राप्त करते हैं।[५]

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं सौधर्म-ऐशान कल्प के देवता ही देवियों से सम्भोग करते हैं। शेष कल्पों के देवता, देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द तथा विचार मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं। कल्पातीत देवगण कामशून्य होते हैं।[६]

देवताओं का जन्म उपपाद विधि से होता है—गर्भ से नहीं। अतः देवलोक में सन्तति परम्परा का अभाव है। माता-पिता तथा पुत्र-सम्बन्ध वहाँ नहीं हैं।[७]

देवताओं में बाल एवं वृद्धावस्था नहीं होती। वे जन्म से मरण पर्यन्त युवा ही रहते हैं।

देवदेह मांस, अस्थि, रक्त आदि धातुओं से रहित होता है तथा उसमें इच्छानुसार विविध रूप धारण करने का सामर्थ्य रहता है।[८]

देवताओं का मूल शरीर पृथ्वी पर नहीं आता। माया या विक्रियाजन्य उत्तर

---

१. तिलोय० ८।११७ — गेवज्ज मणुद्दिसयं अणुत्तरं इय हुवंति तिविहप्पा।
कप्पातीदा पडला गेवज्जं णवविहं तेसुं।

२. तत्त्वार्थ० ४।६। — परेऽप्रवीचाराः।

३. वायु० १०१।१४०, ३७ — चतुर्गुणोत्तराद्धूर्ध्वं जनलोकात् तपः स्मृतम्।
वैराजा यत्र ते देवा भूतदाह-विवर्जिताः॥

विष्णु० २।७।१४ — ऋभु-सनत्कुमाराद्या वैराज्यास्ते तपोधनाः।
मन्वन्तराणां सर्वेषां सावर्णीनां तत: स्मृताः।

४. सर्वार्थ० २।५१,५२।

५. तिलोय० ८।३३१-३३।

६. सर्वार्थ० ४।७,८,६।

७. सर्वार्थ० २।३४; तिलोय० ८।५६७।

८. तिलोय० ८।५६८-६६।

शरीर ही यहाँ अवतरित होते हैं।[1]

देवताओं में भी स्वामि-सेवक भाव होता है।[2]

स्वर्ग की व्यवस्था शाश्वत है अर्थात् वहाँ पर पृथ्वी के समान कालजन्य परिवर्तन—उथल-पुथल नहीं होती।

अधोलोक

पृथ्वीतल के अधोभाग में प्रायः एक-एक राजु की दूरी पर सात नरक भूमियाँ हैं। उनके यौगिक एवं रूढ़ नाम इस प्रकार हैं।[3]

यौगिक नाम	रूढ़ नाम	यौगिक नाम	रूढ़ नाम
१. रत्नप्रभा	घर्मा	५. धूमप्रभा	अरिष्टा
२. बालुकाप्रभा	वंशा	६. तमप्रभा	मघवी
३. शर्कराप्रभा	मेघा	७. महातमप्रभा	माघवी।
४. पंकप्रभा	अंजना		

इन सात नरक भूमियों में नारकी जीव निवास करते हैं। यहाँ पर वे स्वोपार्जित पापकर्मों के अनुसार परस्पर एक दूसरे को महान् दुख पहुँचाते हैं और अन्यों से पीड़ित होते हैं। इन भूमियों में नैसर्गिक रूप से उपलब्ध अत्यन्त शीतातप से भी वे सदा पीड़ित रहते हैं।

जैन ग्रन्थों में उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है।[4]

रत्नप्रभा

हमारी पृथ्वी की तीन सतह हैं। पहली ठोस सतह (खर भाग) पर हम सब निवास करते हैं। दूसरी सतह पंक-बहुल है तथा तीसरी सतह जल-बहुल। इस पृथ्वी में नाना प्रकार के रत्न-धातु आदि पाये जाते हैं। इसलिए इसे रत्नप्रभा कहते हैं।

इस पृथ्वी के गर्भ में नारकियों के उत्पत्ति-विलय एवं आवास के स्थानभूत तीस लाख बिल (गड्ढे, भू-विवर या अन्धकूप) हैं। इन बिलों में नारकी जीव अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। नारकीजन नाना रूप धारण करके एक दूसरे को तो दुख देते ही हैं साथ ही असुरजातीय भवनवासी देवता भी उनमें कलह उत्पन्न करके दुखित करते हैं। नरकों में दुख का कारण अतिप्रचण्ड शीत, आतप, बध, बन्धन, दुर्गन्ध, भय आदि जनित वेदनाएँ हैं। वहाँ पर किसी भी प्रकार का सुख नहीं

---

१. तिलोय० ८।५६५।
२. तत्त्वार्थ० ४।४।
३. तिलोय०, १।१५२-१५३, तत्त्वार्थ० ३।१।
४ तिलोय० २।१-३६७, तत्त्वार्थ० ३।१-६, हरिवंश ४।

है । समस्त नारकीयों के नपुंसक होने से कामसुख भी वहाँ उपलब्ध नहीं है ।[1]

नरकों में न्यूनतम आयु दस हजार वर्ष है ।[2]

बालुकाप्रभा

इस द्वितीय नरक भूमि में पचीस लाख नारक बिल हैं जिनमें रत्नप्रभा के ही समान अत्यन्त उष्णता है । जैनाचार्यों के अनुसार सुमेरु पर्वत जितना लोहपिण्ड भी इस भयंकर उष्णता में क्षण-भर में गलाया जा सकता है ।

शर्कराप्रभा

नरक की तीसरी भूमि । बिल संख्या पन्द्रह लाख । दुख का कारण अत्यन्त उष्णता ।

पंकप्रभा

शीतप्रधान नरक भूमि । बिल संख्या दस लाख ।

धूमप्रभा

शीतप्रधान पाँचवीं नरक भूमि । धूम्रपूरित तीन लाख नारक बिल ।

तमप्रभा

अत्यन्त शीतयुक्त नारक भूमि । क़रीब एक लाख नारक बिल एवं अन्धकार युक्त भूमि ।

महातमप्रभा

घोर शैत्य एवं अन्धकार पूरित महादुखपूर्ण अन्तिम नरक भूमि । यहाँ पर मानसिक एवं दैहिक दुख अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं ।

जैन ग्रन्थकारों की भाँति पुराणकारों ने भी नरकों की सत्ता स्वीकार की है । तथापि उनके नामों एवं संख्या के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद हैं । जैनों के अनुसार केवल सात नरक हैं और इनमें कुल मिलाकर चौरासी लाख नरक बिल हैं । जबकि पुराणों के अनुसार रौरव, सूकर, ताल आदि अट्ठाईस नरक हैं । ये नरक पृथ्वीतल में स्थित हैं और यहाँ पर पापी प्राणियों को उनके दुष्कृत्यों का दण्ड प्राप्त होता है ।[3]

---

१. तत्त्वार्थ० ३।१-६।, वही, २।५० नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ।
२. वही, ४।३६ दशवर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम् ।
३. विष्णु० २।६ ; वायु० १०१।१४५-१५० ; भाग० ५।२६ ।

मध्यलोक

जैन मान्यता के अनुसार मध्यलोक में स्थित हमारी पृथ्वी के बीचों-बीच सुमेरु नाम का पर्वत है। इस पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन (चार कोस या आठ मील = एक योजन) है। इस लक्षयोजन उत्तुंग सुमेरु जितना ऊँचा और एक राजु लम्बा तथा इतना ही चौड़ा क्षेत्र मध्यलोक है। यह लोक सुमेरु के चारों ओर व्याप्त है।

इस सम्पूर्ण मध्यलोक में त्रस (जंगम) तिर्यग्योनिजों का निवास होने से उसे त्रस तिर्यग्लोक भी कहा जाता है।[१]

इस तिर्यक् त्रसलोक में असंख्य द्वीप सागर एक दूसरे को परिवेष्टित करके स्थित हैं।[२] और उनका विस्तार द्विगुण-द्विगुण है।[३]

तिर्यक् त्रस जीवों के अतिरिक्त तिर्यक् स्थावर एवं मनुष्य-देवादि जीवगण भी इस लोक के विशिष्ट भागों में निवास करते हैं।

मनुष्यलोक

मध्यलोक के भी बहुमध्य अर्थात् केन्द्र में पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाला अतिगोल मनुष्यलोक है।[४] मनुष्यलोक के बीचों-बीच जम्बूद्वीप है। इस द्वीप का विस्तार एक लाख योजन है।[५] इस जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत तथा ऐरावत—ये सात क्षेत्र हैं।[६] इनमें से भरत क्षेत्र अथवा भारतवर्ष में हम निवास करते हैं।

भारतवर्ष में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी नाम से जानेवाले सुप्रसिद्ध छह परिवर्तन होते हैं।[७] कालविभाग के अन्तर्गत आगे चलकर हम उनका विशिष्ट परिचय देंगे।

तिर्यक्लोक

तिर्यग्योनिजों का आवास क्षेत्र तिर्यक्लोक कहलाता है। स्थावर एवं त्रस के भेद से वह दो प्रकार का है।[८]

---

१. तिलोय० ५।६ मंदरगिरि मूलादो इगिलक्खं जोयणाणि बहलम्मि।
रज्जूय पदरखेत्ते चिट्ठेदि तिरिय तसलोओ॥

२. वही, ५।८,६ चेट्ठन्ति दीवउवही एक्केक्कं वेढिऊण हुप्परिदो॥

३. वही, ५।३२ जंबूजोयणलक्खप्पमाणवासो दु दुगुण दुगुणाणि

४. वही, ४।६ तसणाली बहुमज्झे चित्ताए खिदीय उवरिमे भागे।
अइवट्टो मणुवजगो जोयण पणदाल लक्ख विक्खंभो॥

५. वही, ५।३२

६. तत्त्वार्थ० ३।१० भरतहैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावत-वर्षाः क्षेत्राणि॥

७. वही, ३।२७ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।

८. तिर्यग्योनिज— मनुष्य, देवता तथा नारकियों को छोड़कर शेष समस्त पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तथा वृक्षादि प्राणी तिर्यंच या तिर्यग्योनिज कहलाते हैं।
वही, ४।२७, औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः॥

चूंकि स्थावर तिर्यंक् जीव सम्पूर्ण लोक में पाये जाते हैं इसलिए सारा लोक ही तिर्यंक् स्थावर लोक है।

किन्तु त्रस तिर्यंक् जीव केवल मध्यलोक में पाये जाते हैं इसलिए मध्यलोक, तिर्यंक् त्रस लोक भी कहलाता है।

उपर्युक्त त्रस स्थावर दोनों प्रकार के तिर्यंचों के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में कुछ आश्चर्यजनक किन्तु महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनके शारीरिक विकास की अधिकतम सीमा बतलाते हुए वहाँ कहा गया है कि—

१. स्थावर कमल की उत्कृष्ट अवगाहना एक सहस्र योजन है।

२. त्रस महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना भी इतनी ही है।

३. द्वीन्द्रिय शंख का विस्तार बारह योजन तक हो सकता है।

४. त्रीन्द्रिय चींटी पौन योजन विस्तृत तथा

५. चतुरिन्द्रिय भ्रमरादि एक योजन विस्तारवाले हो सकते हैं।[1]

६. मनुष्य भी अधिक से अधिक छह मील लम्बा हो सकता है।[2]

अद्यावधि इतने विशाल जीव-जन्तुओं के सम्बन्ध में हमें कोई ज्ञान नहीं है और न इतने विशाल प्राणी पाये ही जाते हैं किन्तु सैकड़ों फ़ीट लम्बे विचित्र जीवधारियों एवं वृक्षों के जीवाश्म (फासिल्स) इस तथ्य की सत्यता की ओर संकेत करते हैं। शताधिक फ़ीट लम्बे महामत्स्यों (ह्वेल मछली आदि) की उपलब्धि भी इस तथ्य की सचाई की ओर संकेत करती है। अस्तु।

चौरासी लाख जीवयोनियाँ

जैन आचार्यों ने चौरासी लाख योनियों में विभक्त सम्पूर्ण जीवराशि को चार भागों में संहृत किया है।[3] यथा—

१. देवयोनियाँ	चार लाख		
२. नारकयोनियाँ	चार लाख		
३. मनुष्ययोनियाँ	चौदह लाख		
४. तिर्यग्योनियाँ	बासठ लाख।		
		(१) वनस्पतियाँ	दस लाख
		(२) इतर	बावन लाख

---

१. तिलोय० ५।३१७. जोयण सहस्समधियं बारस कोसूणमेक्कमेक्कं च।
दोह सहस्सं पम्मे वियले संमुच्छिमे महामच्छे॥

२. वही, ४।३३५. तस्सिंकाले छच्चिय चापसहस्साणि देह उस्सेहो।

३. वही, ५।२९६-९७; ८।७००-७०१; ४।२९५३।

पौराणिक विद्वान् भी इन्हीं चौरासी लाख जीवयोनियों की बात करते हैं। इन चौरासी लाख योनियों में असंख्य जीवात्माएँ प्रतिक्षण जन्म-मरण को प्राप्त हो रही हैं और उनसे ही यह सारा लोक भरा हुआ है।

इस प्रकार जैन परम्परा में स्वीकृत लोकतत्त्व का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् हम उनके द्वारा प्रतिपादित कालतत्त्व का अध्ययन कालविभाग में प्रस्तुत करेंगे।

●

काल-चक्र

(चित्र नं० २)
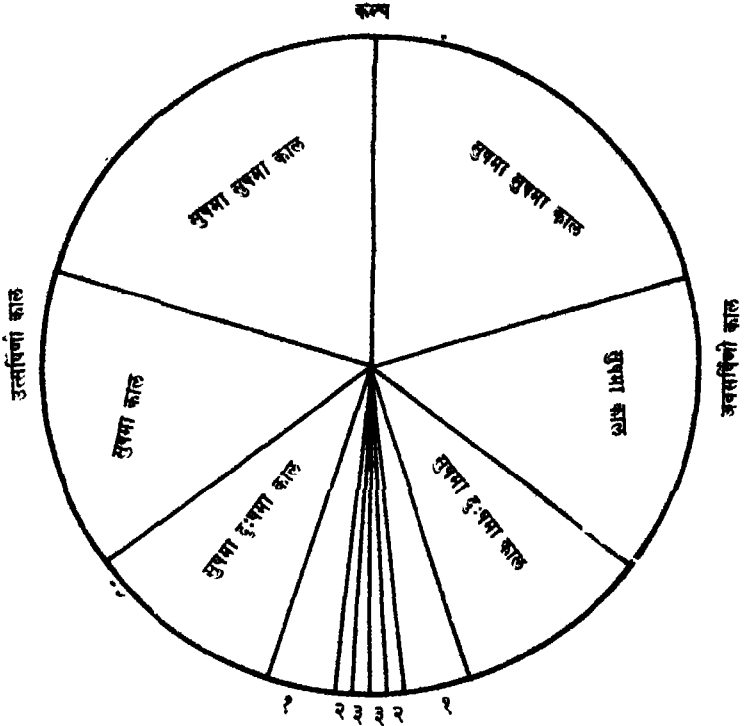
३. दुःषमा दुःषमा काल
२. दुःषमा काल
१. दुःषमा सुषमा काल

काल-परिचय

काल

जैनतत्त्व-दर्शन में स्वीकृत छह द्रव्यों में से एक द्रव्य काल भी है।[1] उसका मुख्य लक्षण अन्य द्रव्यों की पर्यायों को बदलना (वर्तना) है। यद्यपि द्रव्य स्वयं अपनी पर्यायें (अवस्थाएं) बदलते हैं तथापि उनके परिवर्तन का बाह्य हेतु भी होता है; वह बाह्य हेतु काल है।[2]

---

१. तत्त्वार्थ० ५।३९ कालश्च।

२. सर्वार्थ० ५।२२ वर्तते द्रव्य-पर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः। महापुराण ३।२। अनादिनिधनः कालो वर्तनालक्षणो मतः। वही, ३।५। स्वतोऽपि वर्तमानानां सोऽर्थानां परिवर्तकः।

उस काल में अनन्त समय है तथा परिणाम, क्रिया तथा कालिक पूर्वापरत्व उसके अन्य लक्षण हैं। उनसे उस काल के अस्तित्व का बोध भी होता है।[१]

जैनाचार्यों ने व्यवहार तथा परमार्थ की दृष्टि से उसके दो भेद माने हैं। व्यवहारत: काल में भूत भवद् भविष्य का भेद किया जाता है, परामर्थत: नहीं। दिवस, रात्रि, घण्टा, प्रहर आदि भेद भी काल के व्यावहारिक भेद हैं, पारमार्थिक नहीं।[२]

कल्प

व्यवहार काल की सबसे बड़ी इकाई कल्प है। जैनाचार्यों के अनुसार उसका मान बीस कोट्याकोटि सागरोपम है।[3] सागर या सागरोपम मानव को ज्ञात, समस्त संख्याओं से अधिक कालवाले काल-खण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण है। लोक ग्रन्थों में उसका सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है।[४]

जैनों की भाँति पुराणों में भी कल्प की कल्पना प्राप्त होती है। लेकिन वहाँ पर उसका मान सुनिश्चित है। केवल चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प होता है। इस कल्प में एक हज़ार चतुर्युग होते हैं। पुराणों में इतना काल ब्रह्मा के एक दिन या रात्रि के बराबर माना गया है।

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी

पूर्वोक्त कल्प के अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी नाम के दो समान विभाग होते हैं। बीस कोट्याकोटि सागरोपम कल्प का अर्धांश अर्थात् दस कोट्याकोटि सागरोपम काल अवसर्पिणी तथा शेष अर्धांश उत्सर्पिणी काल के नाम से जैन वाङ्मय में प्रसिद्ध है।[५]

इनमें से प्रत्येक अर्धांश के सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दु:षमा, दु:षमा-सुषमा, दु:षमा, तथा दु:षमा-दु:षमा नामक छह उपविभाग होते हैं; किन्तु उनका क्रम दोनों अर्धांशों में विपरीत होता है। जैन ग्रन्थों में उनके क्रम तथा विस्तार के सम्बन्ध में निम्नांकित निर्देश प्राप्त होते हैं[६]—

अवसर्पिणी

क्रम	काल विस्तार
१. सुषमा-सुषमा	चार कोट्याकोटि सागर
२. सुषमा	तीन कोट्याकोटि सागर
३. सुषमा-दु:षमा	दो कोट्याकोटि सागर

१. तत्त्वार्थ० ५।२२ वर्तना परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥
वही, ५।४० सोऽनन्तसमयः ॥
सर्वार्थ० ५।२२ त एते वर्तनादय उपकाराः कालस्यास्तित्वं गमयन्ति ।
२. सर्वार्थ०, ५।२२ ।
३. तिलोय० ४।३१५-१६ । ४. वही, १।११६-३२ । ५. वही, ४।३१६-१६, सर्वार्थ० ३।२७ ।
६. तिलोय० ४।३१६-१६ ; सर्वार्थ० ३।२७ ।

४. दुःषमा-सुषमा	एक कोट्याकोटि सागर में ४२००० वर्ष न्यून
५. दुःषमा	केवल २१००० वर्ष
६. दुःषमा-दुःषमा	केवल २१००० वर्ष

उत्सर्पिणी

क्रम	काल विस्तार
१. दुःषमा-दुःषमा	केवल २१००० वर्ष
२. दुःषमा	केवल २१००० वर्ष
३. दुःषमा-सुषमा	एक कोट्याकोटि सागर में ४२००० वर्ष न्यून
४. सुषमा-दुःषमा	दो कोट्याकोटि सागर
५. सुषमा	तीन कोट्याकोटि सागर
६. सुषमा-सुषमा	चार कोट्याकोटि सागर

इन छह काल विभागों के सुषमा-दुःषमा आदि नाम काल अथवा समय वाचक समा शब्द में शुभ-अशुभ सूचक सु एवं दु उपसर्गों के योग से निष्पन्न हुए हैं।[१]

जैनों के अनुसार अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी नामक इन दोनों कल्पार्धों का प्रवर्तन भारतवर्ष तथा ऐरावत क्षेत्र[2] में रहट-घट न्याय[3] से अथवा शुक्ल-कृष्ण पक्ष के समान एकान्तर क्रम से सदा होता रहता है।[४] अवसर्पिणी नामक कल्पार्ध के पश्चात् उत्सर्पिणी नामक कल्पार्ध तथा उसके अशेष होने पर पुनः अवसर्पिणी काल का प्रवर्तन होता है। यह प्रवर्तन अनादि काल से होता आ रहा है तथा जैनों के विश्वास के अनुसार अनन्त काल तक होता रहेगा।

काल के इन द्विविध प्रवर्तनों के कारण भारतवर्ष तथा ऐरावत क्षेत्र में पूर्वोक्त सुषमा-सुषमादि काल क्रमशः प्रवर्तित होते रहते हैं। इन कालखण्डों के प्रभाव के फलस्वरूप इन दोनों क्षेत्रों (भारत तथा ऐरावत) के मनुष्यादि की आयु, शरीर की ऊँचाई तथा अनुभव में वृद्धि एवं ह्रास (उत्सर्पण एवं अवसर्पण) होता रहता है।[५]

---

१. महापुराण ३।१६ समा कालविभागः स्यात् सुदुस्सावर्हगर्हयोः ॥

२. आधुनिक भूगोलमें ऐरावत क्षेत्र कहाँ है ? यह विज्ञात नहीं है तथापि मेरे अनुमानसे यह प्राचीन ईरान अर्थात् ऐर्यविज्जा का संस्कृत नाम प्रतीत होता है।

३. तिलोय० ४।१६१४ अवसप्पणि उस्सप्पणि कालच्चिय रहटघटियणाए।
होंति अणंताणंता भरहेरावद खिदिम्मि पुडं ॥

४. महापुराण ३।७३ यथा शुक्लं च कृष्णं च पक्षद्वयमनन्तरम्।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरेवं क्रमसमुद्भवः ॥

५. सर्वार्थ० ३।२७,२८ ॥

अवसर्पिणी काल में मनुष्यों का अनुभव आदि क्रमशः घटता जाता है किन्तु उत्सर्पिणी काल में वह क्रमशः बढ़ता जाता है। कालजन्य इन अवसर्पणों तथा उत्सर्पणों की एक सीमा होती है जिसका विवरण जैन ग्रन्थों में अति विस्तार से दिया गया है। इस विवरण के आलोक में हम इसका अध्ययन आगे करेंगे।

पुराणों में जैनों को अभिप्रेत, इन कल्पार्धों तथा उनके छह-छह भेदों की कल्पना की चर्चा कहीं भी प्राप्त नहीं होती किन्तु ज्योतिष तथा आयुर्वेद के दो ग्रन्थों में इनका उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। आर्यसिद्धान्त नामक प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ में अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी नाम के युगार्धों तथा उनके अन्तर्वर्ती सुषमा-दुःषमा आदि का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है।[1] काश्यप संहिता नामक आयुर्वेद ग्रन्थ भी इनका उल्लेख करता है।[2] आर्य-सिद्धान्त में इक्कीस लाख साठ हजार वर्ष (२१,६०,००० वर्ष) के युगार्ध तथा ४३,२०,००० वर्ष (तेंतालीस लाख बीस हजार वर्ष) के युग की गणना भी प्राप्त होती है।[3] किन्तु जैन जगत् में इन संख्याओं को स्वीकार नहीं किया गया है।

भोगभूमि—कर्मभूमि

उपर्युक्त अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी नामक कल्पार्धों का पुनर्विभाजन जैनाचार्यों ने भोगभूमि तथा कर्मभूमि—इन दो भागों में किया है।

अवसर्पिणी काल के प्रथम तीन विभाग तथा उत्सर्पिणी काल के अन्तिम तीन विभाग भोगभूमि कहलाते हैं। शेष तीन-तीन विभाग कर्मभूमि।

भोगभूमि

भोगभूमि के अन्तर्गत आनेवाले सुषमा-सुषमादि तीन कालखण्ड इसलिए भोग-भूमि कहलाते हैं क्योंकि इन कालखण्डों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यादि प्राणियों का जीवन भोग प्रधान रहता है। इस समय प्रकृति ही स्वयं इतनी सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवन-यापन के लिए किसी भी प्रकार के कृषि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा युद्ध आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। केवल प्रकृति से सहज रूप से प्राप्त पदार्थों का भोग करना ही उनका कार्य रहता है। मनुष्यों को यह भोग-सामग्री प्रकृति में स्वाभाविक रूप से पाये जानेवाले कल्पवृक्षों से संकल्पमात्र से प्राप्त हो जाती है।

भोगभूमि की जैन ग्रन्थकारों को अभिप्रेत व्यवस्था का वर्णन पुराणों में भी सर्वत्र पाया जाता है। पुराणों में कृतयुग अथवा सत्ययुग के नाम से जिस व्यवस्था का वर्णन पाया जाता है—वह जैनों के भोगभूमि वर्णन से ऐकात्म्य रखता है किन्तु वायु-पुराण में आद्य कृतयुग के अन्तर्गत जिस व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसका तो जैनोक्त व्यवस्था से पूर्णतः तादात्म्य ही स्थापित किया जा सकता है।[4]

---

१. आर्यसिद्धान्त ३।९ उत्सर्पिणी युगार्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्धं च।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुष्षमेन्दूच्चात्॥
(श्री कर्मानन्द की पुस्तक 'धर्म का आदि प्रवर्तक' पृ० ११६ से उद्धृत)

२. काश्यपसंहिता० शारीर संस्थान (श्री भगवद्दत्त के "भारतवर्ष का बृहद इतिहास" प्रथम भाग के पृ० १५७ से उद्धृत।

३. कर्मानन्द : 'धर्मका आदि प्रवर्तक', पृ० ११६ से उद्धृत। ४, देखिए, पृ० २५१।

यही भोगभौमिक अथवा कृतयुगीन व्यवस्था आधुनिक इतिहास में स्टेट ऑफ नेचर अर्थात् प्राकृतिक दशा के नाम से सुविख्यात है। श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल पुराणों की उक्त भोगभौमिक कल्पना को गुप्तयुगीन लेखकों की देन मानते हैं।[1]

कर्मभूमि

कर्मभूमि के अन्तर्गत जिन दुःषमादि तीन काल विभागों की गणना की जाती है, वे विभाग कृषि आदि षट्कर्म प्रधान होने के कारण कर्मभूमि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

जैनों के अनुसार वर्तमान कल्पार्ध में कर्मभूमि की व्यवस्था के आद्य संस्थापक भगवान् ऋषभदेव थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम कृषि, वाणिज्य, राज्य शासन, उद्योग, शिल्प आदि जीविकोपार्जन के षट्कर्मों का उपदेश भारतवासियों को दिया था।[2]

पुराण ग्रन्थों में भी उपर्युक्त कर्मभूमिज व्यवस्था का वर्णन बहुधा आद्य त्रेतायुग के वर्णन प्रसंग में पाया जाता है। वायुपुराण ने इस प्रसंग में जिस अभिमत को प्रकट किया है, वह जैनों के स्वीकार्य मत से अत्यन्त सामीप्य रखता है।[3]

भोग और कर्म प्रधान इन भूमियों का नामोल्लेख यद्यपि पुराण ग्रन्थों में भी पाया जाता है तथापि जिस तन्मयता एवं आग्रह से जैनों ने इन शब्दों का प्रयोग तथा इन व्यवस्थाओं का वर्णन किया है वह वहाँ प्राप्त नहीं होता।

आधुनिक इतिहासवेत्ताओं द्वारा कल्पित चरागाह एवं कृषि युगों से भी जैनों की उपर्युक्त कर्मभूमिज व्यवस्था का सूत्रपात हुआ माना जा सकता है किन्तु इससे अधिक सामंजस्य उनमें नहीं स्थापित किया जा सकता क्योंकि उसके कालक्रम के सम्बन्ध में वे गहन मतभेद रखते हैं।

मन्वन्तर

जैनों के अनुसार प्रत्येक कल्प की अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के अन्तर्गत चौदह मन्वन्तर भी होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर का स्वामी एक-एक मनु होता है। जैन वाङ्मय में उन्हें मनु की अपेक्षा कुलकर कहकर ही बहुधा सम्बोधित किया गया है। समस्त जैनपुराण एवं लोकग्रन्थ इन चौदह कुलकरों का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

पुराणों में भी चतुर्दश मनुओं एवं उनके मन्वन्तरों का वर्णन विस्तारपूर्वक पाया जाता है किन्तु जैनोक्त वर्णनों से वह पर्याप्त भिन्नता रखता है। पहले तो दोनों परम्पराओं में उनके उत्पत्ति काल के सम्बन्ध में मतभेद है और फिर उनके नाम, धाम एवं काम के सम्बन्ध में मतभेद तो प्रत्येक पग पर है।

पुराणों के अनुसार अभी तक केवल स्वायम्भुवादि वैवस्वतपर्यन्त केवल सात मनु ही उत्पन्न हुए हैं तथा सावर्णि आदि सप्त मनु भविष्य में होंगे। जब कि जैन परम्परा के

---

१ मार्क० सां० : अध्ययन, पृ० ४।२, पाण्डव० २।१६५।३, वायु० ५७।

अनुसार चौदहों मनु (कुलकर) भोगभूमि एवं कर्मभूमि के संक्रान्तिकाल में ही उत्पन्न हो चुके हैं तथा भविष्य में अब और मनु (इस अवसर्पिणी काल में) उत्पन्न नहीं होंगे। इन मनुओं के नाम-धाम-काम आदि सम्बन्धी अन्य मतभेदों का उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

इस प्रकार जैन सृष्टिविद्या से सम्बन्धित कालतत्त्व से परिचित होने के पश्चात् अब हम जैन सृष्टिविद्या के सारभूत अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी काल का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

अवसर्पिणी-काल

इस कल्पार्ध में पूर्वोक्त सुषमा-सुषमादि छह कालखण्ड गर्भित हैं।[1] जैनों के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् अवसर्पिणी काल का दुःषमा नामक पाँचवाँ कालखण्ड प्रवर्तित हुआ था।[2] इसके पूर्व चार कालखण्ड प्रवर्तित हो चुके हैं तथा इस २१,००० वर्ष तक प्रवर्तित रहनेवाले पंचम काल के पश्चात् इतने ही प्रवर्तन कालवाला, छठा कालखण्ड प्रवर्तित होगा।

भोगभूमि

अवसर्पिणी काल (ह्रासोन्मुख युग) के प्रथम तीन कालखण्डों की समवेत संज्ञा भोगभूमि है। भोग सामग्री की उत्तमता आदि के भेद से सुषमा-सुषमा नामक प्रथम कालखण्ड उत्तमभोगभूमि; सुषमा नामक द्वितीय कालखण्ड मध्यमभोगभूमि तथा सुषमा-दुःषमा नामक तृतीय कालखण्ड जघन्यभोगभूमि कहलाता है।

इन भोगभूमियों के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं—

प्राकृतिक स्थिति

उस समय की प्रकृति (नेचर, निसर्ग) अत्यन्त सौम्य, शान्त, सुखद एवं सम्पन्न थी। भूमि अत्यन्त स्वच्छ—धूलि कण्टक कर्दम आदि से रहित तथा दिव्य बालुकामय थी। चारों ओर छोटे-छोटे घास के मैदान भरे हुए थे। झील, तालाब, वापिका तथा नदियाँ स्वच्छ शीतल जल से परिपूर्ण थीं और उन्हीं जलाशयों के किनारे भोगभूमियों के प्राकृतिक भवन, प्रासाद आदि आवास-स्थल बने हुए थे।[3]

रात्रि दिवस का भेद, अन्धकार तथा शीतग्रीष्म आदि ऋतुओं का उस समय सर्वथा अभाव था।[4]

---

१. सर्वार्थ० ३।२७।

२. तिलोय० ४।१४७४ णिव्वाणे वीरजिणे वाससये अट्ठमास पक्खेसुं।
गलिदेसुं पंचमओ दुस्समकालो समल्लियदि॥

३. तिलोय० ४।३२०-३२०।

४. वही, ४।३३३ रत्तिदिणाणं भेदो तिमिरादव सोद वेदणा णिदा।
परदाररदी परधणचोरी णं णत्थि णियमेण॥

समस्त पृथ्वी मण्डल दस जातियों के कल्पवृक्षों से परिपूर्ण था। इन कल्प-वृक्षों से उस भूमि के निवासियों को संकल्प मात्र से ही इच्छित सामग्री की प्राप्ति हो जाती थी।[1] ये कल्पवृक्ष आधुनिक तथा पुरातन समस्त प्रकार की वनस्पतियों से भिन्न प्रकार के थे। वे किसी देवता का चमत्कार अथवा वरदान भी न थे। जैन ग्रन्थकारों के अनुसार वे कल्पवृक्ष पूर्णतः पार्थिव थे अर्थात् उस समय की भूमि या पृथ्वी ही इस तरह के वृक्षाकारों में परिणत हो गयी थी जिससे प्राणियों को बिना श्रम या प्रयास किये ही मनोवांछित फल प्राप्त हो जाता था।[2]

उन यथार्थनामा कल्पवृक्षों के दस प्रकार ये हैं[3]—

१. पानांग कल्पवृक्ष	सुस्वादु पेय पदार्थों के प्रदाता कल्पवृक्ष।
२. तूर्यांग ,,	वाद्ययन्त्रों के प्रदाता।
३. भूषणांग ,,	आभूषणों के प्रदाता।
४. वस्त्रांग ,,	वस्त्रों के प्रदाता।
५. भोजनांग ,,	भोजन के प्रदाता।
६. आलयांग ,,	शरण स्थलों के प्रदाता।
७. दीपांग ,,	दीप्ति के प्रदाता।
८. भाजनांग ,,	बरतन आदि के प्रदाता।
९. मालांग ,,	पुष्पमालाओं के प्रदाता।
१०. तेजांग ,,	प्रकाश के प्रदाता।

कल्पवृक्षों तथा भोगभूमि का वर्णन जैन परम्परा की अपनी विशेषता है। पुराणों में भी यद्यपि इनका उल्लेख मिलता है तथापि इनके साग्रह वर्णन एवं कल्प-वृक्षों का विभिन्न जातियों में वर्गीकरण करके सविस्तार वर्णन करना जैन ग्रन्थकारों की निजी विशेषता है।

आधुनिक भारत के बिहार प्रदेश में सम्प्राप्त पर्णांग जाति के महावृक्षों के जीवाश्मों (फासिल्स) से जैनों के कल्पवृक्षों की तुलना की जा सकती है। ये वृक्ष सैकड़ों फ़ीट ऊँचे व कई फ़ीट व्यास के होते थे तथा इनकी प्रकृति भी आधुनिक वनस्पतियों से भिन्न प्रकार की थी।[4]

पूर्वोक्त उत्तम मध्यमादि तीनों भोगभूमियों में ये कल्पवृक्ष विद्यमान थे किन्तु ह्रासोन्मुख काल-क्रम के कारण उनकी फल प्रदान शक्ति इन भोगभूमियों में क्रमशः क्षीण होती चली गयी। अन्त में कर्मभूमि का प्रारम्भ होते-होते ये कल्प वृक्ष सर्वथा विलुप्त हो गये और उनका स्थान अन्यान्य वानस्पतिक वृक्षों ने ले लिया।[5]

---

१. वही, ४।३४१ ते होंति सव्व कप्पतरू।
णियणिय मण संकप्पिय वत्थूणि देंति जुगलाणं॥
२. वही, ४।३५४ ते सव्वे कप्पदुमा ण वणप्फदी णो वेंतरा सव्वे।
३. वही, ४।३४१-५४ णवरि पुढवि सरूवा पुण्णफलं देंति जीवाणं॥
४. विकासवाद, पृ० ४१, ४३।
५. तिलोय० ४।४६७ कप्पदुमा पणट्ठा ताहे विविहोसहीणि सस्साणिं
महुररसाइं फलाइं पेच्छन्ति सहावदो धरित्तीइ॥

जैविक स्थिति

भोगभूमि की उपर्युक्त सुख-सम्पदापूर्ण प्रकृति में दो प्रकार का जीवन लहलहा रहा था। जीवन का एक प्रकार था महामानवों का और दूसरा प्रकार था दैत्याकार पशुपक्षियों का।

महामानव

उस समय के मनुष्यों के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि उत्तम भोगभूमि काल में मनुष्यों का परिपूर्ण किंवा चरम-विकास हो चुका था। तत्कालीन स्त्री-पुरुष क़रीब छह मील (छह हज़ार धनुष) ऊँचे होते थे और इस ऊँचाई के अनुरूप उनकी पृष्ठास्थि (रीढ़ या मेरुदण्ड) में २५६ अस्थियाँ (कशेरुक) होती थीं। उनकी इस महाकाया में नौ हज़ार हाथियों जितना महाबल था तथा उनकी आयु भी अत्यन्त सुदीर्घ (तीन पल्य) थी।[1]

वे चिरयुवा, सुन्दर, सौम्य-मृदुल स्वभाववाले तथा स्वर्ण वर्ण थे। यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त विशाल था तथापि वे स्वल्पभोजी थे। कहा जाता है कि वे तीन दिन में केवल एक बेर फल जितना आहार करते थे जो कि कल्पवृक्षों से प्राप्त होता था। वे सर्वथा शुचि अर्थात् मलमूत्र रहित थे।[2]

उत्तम भोगभूमि का उपर्युक्त चरमविकसित मानव जीवन, अवसर्पिणी काल के प्रभाव से धीरे-धीरे ह्रासोन्मुख हुआ और मध्यम भोगभूमि के प्रारम्भ में अर्धप्राय रह गया। इस समय मनुष्यों की ऊँचाई क़रीब चार मील (चार हज़ार धनुष), आयु दो पल्य तथा पृष्ठास्थि संख्या १२८ थी।[3] काल प्रभाव से इस मध्यावस्था का भी ह्रास हुआ और जघन्य भोगभूमि के प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊँचाई केवल दो मील, आयु एक पल्य तथा पृष्ठास्थि संख्या मात्र ६४ रह गयी।[4] किन्तु इस अवसर्पण के बावजूद भी तीनों भोगभूमियों की कुछ बातें अथवा व्यवस्थाएँ ऐसी थीं जो कि अपरिवर्तित रहीं। यथा—

तीनों भोगभूमियों में उसके निवासी स्त्री-पुरुषों के जन्म की प्रणाली एक समान थी। उस समय की स्त्रियों में मासिक धर्म का सर्वथा अभाव था तथा वे केवल जीवनान्त में (मृत्यु के ठीक नौ माह पूर्व) केवल एक ही बार गर्भवती होती थीं। मरणवेला सन्निकट आने पर वे अपने सहचर (पति) के साथ भूमि पर लेट जाती थीं। इसी समय स्त्री एक शिशु-युगल को जन्म देकर अपने पति के साथ मृत्यु को प्राप्त होती थी। मृत्यु के क्षण पर स्त्री को जँभाई तथा पुरुष को छींक आती थी। उनका पार्थिव शरीर जीवन शेष होने पर स्वयमेव विशीर्ण (विलुप्त) हो जाता था। अतः अग्नि आदि संस्कारों की तब आवश्यकता न थी।[5]

सद्योजात युगल-शिशु में से एक शिशु पुंल्लिग तथा दूसरा स्त्रीलिंगी होता था।

---

१. तिलोय० ४।३३४-३४०।
२. वही। ३. वही, ४।३९६-९७। ४. वही, ४।४०४-५। ५. वही, ४।३७५-७७।

वे शिशुयुगल बिना अपने माता-पिता के लालन-पालन के अपने पैर के अँगूठे को चूसते हुए भोगभूमियों के उत्तमादिक्रम के अनुसार, क्रमशः तीन, पाँच तथा सप्ताहों में ही पूर्ण तारुण्य को प्राप्त हो जाते थे।[1] आगे चलकर इन युगल स्त्री-पुरुषों में पति-पत्नी के सम्बन्ध स्थापित हो जाते और वे अपने जीवन पर्यन्त प्रकृति-प्रदत्त कल्पवृक्ष-जन्य सुख सामग्री का यथेच्छ उपभोग करते थे। अन्त में वे अपने पूर्वजों के समान जीवनान्त में केवल एक शिशु-युगल को जन्म देकर स्वर्गस्थ हो जाते थे।

दैत्याकार पशु-पक्षी

उपर्युक्त भोगभूमिज मानवों के ही समान युगल धर्मपरायण पशु-पक्षी (तिर्यंच) भी भोगभूमियों में निवास करते हैं। उनका आकार-प्रकार भी मनुष्यों के समान सुविशाल होता है तथा उनके संकल्पों के अनुसार यथेच्छ फल भी उन्हें कल्पवृक्षों से प्राप्त होता है।[2]

वे मनुष्यों की ही भाँति जीवनान्त में शिशु-युगल को जन्म देकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनका स्वभाव भी अत्यन्त शान्त एवं अहिंस्र होता है। तिलोयपण्णत्ति में बताये गये उनके बहुत से नामों में से कुछ ये हैं—

गाय, सिंह, हाथी, मगर, सुअर, भैंस, बन्दर, रीछ आदि पशु तथा हंस, कोयल, कौए, कबूतर, मुर्गे, क्रौंच आदि पक्षी।[3]

इन पूर्ण विकसित (संज्ञी पंचेन्द्रिय) पशु-पक्षियों एवं मनुष्यों के अतिरिक्त अन्यान्य अल्प विकसित (असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय) कीट, पतंग, मक्खी, मच्छर, चींटी, शंख, कृमि आदि क्षुद्र जन्तु उन भोगभूमियों में बिलकुल नहीं रहते।[4]

इस प्रकार उस प्रशान्त प्रकाशवान् भोगभूमि में अत्यन्त श्रेष्ठ स्वभाव एवं शरीर-वाले प्राणी ही पूर्णायु पर्यन्त शान्तिपूर्वक निवास करते हैं। वहाँ पर कीट-पतंग तथा अन्य मानवों द्वारा प्रेरित समस्त आधिभौतिक दुखों का सर्वदा अभाव रहता है। परिवार-सम्पत्ति तथा युद्ध संघर्ष आदि के अभाव के कारण किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक दुःख भी उन भोगभूमियों को नहीं उठाना पड़ता। वहाँ पर उपलब्ध मानवीय सुख अतुलनीय हैं। इसी की ओर संकेत करते हुए तिलोयपण्णत्तिकार ने कहा है कि भोग-भूमिज प्राणियों का सुखोपभोग चक्रवर्ती सम्राटों के सुख की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है।[5]

सांस्कृतिक स्थिति

भोगभूमिकालीन संस्कृति और सभ्यता का विकास आधुनिक संस्कृति एवं

---

१. तिलोय० ४।३७६, ३८० ; वही, ४।३९९, ४०० ; वही, ४।४०७, ४०८। २. वही, ४।३९१–९३। ३ वही, ४।३८८–९०। ४. वही, ४।३९१, ३९२।

५ तिलोय० ४।३९७ कुणमाणि धम्मखुरं भोगं चक्कहर भोगयोहारी।
भुंजंति जाव आऊ कदलीघादेण रहिदाणि॥

सभ्यता की तुलना में नगण्य ही नहीं शून्यप्राय था। उस समय सारी भूमि तृणों तथा कल्पवृक्षों से आच्छादित थी और उसके बीच-बीच में भरे हुए जलाशयों के तटों पर युगल नर-नारी तथा पशु-पक्षी निवास करते थे।[1]

तब स्त्री और पुरुष के संगठन के अतिरिक्त अन्य कोई भी संगठन न थे। न तो उस समय परिवार थे और न कबीले। ग्राम, नगर तथा राज्य की संस्थाओं का नाम भी लोग नहीं जानते थे। जाति-कुल तथा स्वामी और भृत्य के सम्बन्ध भी तब नहीं जन्मे थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना भी तब नहीं थी। प्रकृति आत्यन्तिक रूप से समृद्ध थी। अतः लोगों में संग्रहवृत्ति तथा तज्जनित दरिद्रता एवं समृद्धि भी नहीं थी।[2] और तो और उस समय पिता-पुत्र, माता-पिता तथा भाई-बहन जैसे अत्यन्त प्राथमिक सम्बन्ध भी उदित नही हुए थे।

सच पूछिए तो तब केवल, युगल—दम्पतियों की, स्वल्प इकाइयाँ ही थीं और वे भी आपस में असम्बद्ध थीं। उनमें सम्बद्धता अथवा सम्बन्ध का सर्वथा अभाव था। वे युगल दम्पत्ति इन पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्ध संस्कारों से उदासीन होने के साथ-साथ अपने स्वयं के शारीरिक संस्कारों से भी पूर्णतः उदासीन थे। उस समय स्नान, विलेपन, मुख-दन्त-नयन-प्रक्षालन तथा नख-केश-कर्तन आदि का सर्वथा अभाव था। लोग अपने जन्मजात रूप में इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करते थे। किन्तु फिर भी वे पूर्णतः जंगली नही थे क्योंकि वे जन्म से ही अक्षर, चित्र, शिल्प, गायन, वादन तथा नृत्य आदि ललित कलाओं में पारंगत होते थे। उनका सम्पूर्ण समय इन्हीं कलाविनोदों में व्यतीत होता था।[3]

तिलोयपण्णत्ति मे वर्णित भोगभूमि के उपर्युक्त वर्णन के समान वर्णन, पुराणग्रन्थों में भी सर्वत्र पाया जाता है। यहाँ पर उसका वर्णन करना पुनरुक्ति मात्र होगा। अतएव इस दोष से बचने के लिए यहाँ केवल उनके इस वर्णनवाले स्थलों का निर्देश मात्र पर्याप्त होगा।[4]

मन्वन्तर

जैनलोक ग्रन्थों एवं पुराणों के अनुसार उपर्युक्त भोगभूमि के अन्तिम चरण में, इस भूमि पर भयंकर एवं युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होते हैं। इन

---

१. तिलोय० ४।३२०-५४।

२. वही, ४।३४०,३४१,३३२,३८७ ते जुगलधम्मजुत्ता परिवारा णत्थि तक्काले।
गामणयरादि ण होदि ते होंति सव्वकप्पतरू।
कुल जादि भेद हीणा सुहसत्ता चत्त दारिदा।

३. तिलोय. ४।३८४-८५ ताण जुगलाण देहा अब्भंगुव्वट्टणंजणविहीणा।
मुहदंत णयण धोवण णह कट्टण विरहिदा वि रेहंति।
अक्खर आलेक्खेसुं गणिदे गंधव्व सिप्प पहुदीसुं।
ते चउसट्ठि कलासुं होंति सहावेण णिउणयरा॥

४. वायु, ८।३६-५२, मार्क, ४६, (जैन) हरिवंश, ७ (जैन) पद्मपुराण, ३ (जैन) महापुराण, ३

परिवर्तनों से अनभिज्ञ एवं भयभीत मानव जाति को, इन परिवर्तनों के अनुकूल सर्वाजित होनेका उपदेश देनेवाले कुछ महापुरुष भी तब वहाँ पर उत्पन्न होते हैं। जैनग्रन्थों में इन महापुरुषों को कुलकर कहा जाता है। किन्तु पुराणों की शब्दावलि अपनाते हुए उन्हें मनु भी कहा गया है।[1] पुराणों के चतुर्दश मनुओं के समान जैन लोकविदों ने भी चौदह कुलकरों की कल्पना की है।[2]

जैन अनुश्रुति में उनके ये नाम बतलाये गये हैं—

१. प्रतिश्रुति
२. सन्मति
३. क्षेमंकर
४. क्षेमंधर
५. सीमंकर
६. सीमंधर
७. विमलवाहन
८. चक्षुष्मान्
९. यशस्वी
१०. अभिचन्द्र
११. चन्द्राभ
१२. मरुदेव
१३. प्रसेनजित्
१४. नाभि

कहीं-कहीं नाभिपुत्र ऋषभदेव तथा ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत को भी कुलकर या मनु मानकर, सोलह कुलकरों की कल्पना भी प्राप्त होती है।[3]

महापुराण तथा तिलोयपण्णत्ति के अनुसार उपर्युक्त चौदह मनुओं के नाम यथा नाम तथा गुणाः हैं।[4]

जैनपुराण तथा लोकसम्बन्धी ग्रन्थों में इन चौदह किंवा सोलह मनुओं का विवरण पृथक्-पृथक् संग्रहीत है। इस बिखरे हुए मनु-मन्वन्तर सम्बन्धी विवरण के एकीकृत ज्ञान के लिए हम उसका अध्ययन इन तीन शीर्षकों में प्रस्तुत करेंगे—

१. प्राकृतिक; २. जैविक एवं; ३. सांस्कृतिक परिवर्तन।

प्राकृतिक परिवर्तन

जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है कि चतुर्दश मनुओं का युग अत्युग्र प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तनों का युग रहा है। इसके पहले की भोगभूमियों की प्रकृति अत्यन्त प्रशान्त, जीवन अत्यन्त अगतिशील तथा संस्कृतिशून्य रहा है। जैन ग्रन्थों के अनुसार भोगभूमि के अन्त में जो सबसे पहला एवं भयंकर प्राकृतिक परिवर्तन इस भूमि के निपट भोले मनुष्यों ने देखा—वह था सूर्य तथा चन्द्रमा के ज्योतिर्मय पिण्डों का प्रथमोदय।[5] इसके पहले इस भूमि के निवासियों ने कभी भी सूर्य-चन्द्रबिम्बों को नहीं देखा। इसका कारण क्या हो सकता है? क्या उस समय सूर्य-चन्द्रमा नहीं थे? अथवा कुछ और ही बात थी। जैनग्रन्थकारों के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा उनके दिखलाई देने के पहले से ही विद्यमान थे किन्तु पृथ्वीस्थ कल्पवृक्षों के (तेजांगजातीय कल्पवृक्षों के) महान्

---

१. तिलोय० ४।५०८, ६।
२. तिलोय० ४।५०४ एवे चउदस मणुओ पविसुदि पहुदिहु णाहिरायंता। वही, ४।४२१-५०४।
३. महापुराण ३।२३२ वृषभो भरतेशश्च तीर्थ-चक्रभृतौ मनू।
४. तिलोय० ४।४२१-५०४। महापुराण ३।६३, २१६-२३७।
५. तिलोय० ४।४२३-२४।

तेज के कारण उनकी रश्मियाँ एवं मण्डल, पृथ्वी के लोगों को दिखलाई नहीं देते थे।[1] काल की ह्रासोन्मुखी गति (अवसर्पण) के कारण उनका तेज धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा था। और उनसे तीक्ष्ण तेजवाले सूर्य चन्द्रमा का तेज इस स्वयंप्रभा पृथ्वी के प्रभामण्डल में शनैः-शनैः प्रविष्ट हो रहा था। इस अवसर्पण काल के प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति का काल आते-आते वे पृथ्वीपुत्रों को स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगे थे।

प्रतिश्रुति—प्रथम मनु ने इन सूर्य-चन्द्र नामक अपरिचितों से आतंकित भोग-भूमिजों को बतलाया कि इन ज्योतियों से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि ये ज्योतिर्पिण्ड तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। ये ज्योतियाँ अजनबी भी नहीं हैं क्योंकि इनका अस्तित्व पहले से विद्यमान है तथा दिवस-रात्रि की जनयित्री ये ज्योतियाँ हमसे बहुत दूरी पर स्थित होकर सुमेरु की प्रदक्षिणा किया करती हैं।[2] प्रतिश्रुति के इन वचनों से लोग प्रतिश्रुत—आश्वस्त हुए और उन्होंने उनकी मान-वन्दना की।[3]

काल के अवसर्पणजन्य प्रभाव से तेजांग कल्पवृक्षों का तेज दिन-प्रतिदिन क्षीण होता रहा और सन्मति नामक द्वितीय मनु का समय आते-आते क्षुद्र प्रभावाले तारागण भी लोगों को दिखलाई देने लगे। अन्धकार का साक्षात्कार भी लोगों को अब पहली बार हुआ। इन अजनबियों से लोग पुनः भयभीत हुए और सन्मति के पास आये। सन्मति ने उन्हें बतलाया—तेजांग कल्पवृक्षों का तेज काफ़ी मन्द हो जाने से ये शाश्वत पड़ोसी हमें दिखलाई देने लगे हैं। ये पहले से ही विद्यमान हैं और सूर्य-चन्द्र की भाँति सुमेरु की प्रदक्षिणा कर रहे हैं। उनकी इस सन्मति से लोग निर्भय और प्रसन्न हुए और उनने सन्मति की पूजा की।[4]

क्षेमंकर और क्षेमन्धर नामक तृतीय एवं चतुर्थ मनु के युग में कोई उल्लेखनीय प्राकृतिक परिवर्तन नहीं हुए। किन्तु तेजांग कल्पवृक्षों के विलय से प्रारम्भ हुआ कल्पवृक्ष-विलोप का सिलसिला अब सुदृढ़ हो चला था। सीमंकर तथा सीमन्धर नामक पाँचवें एवं छठे मनु के समय में कल्पवृक्ष इतने कम हो गये कि शान्त निश्चिन्त भोगभूमिज स्त्री-पुरुष उनके लिए विवाद करने लगे थे। इन दोनों मनुओं ने कल्पवृक्षों की सीमा निर्धारित करके उस विवाद को उपशान्त किया था।[5]

सातवें मनु विमलवाहन से लेकर दसवें मनु अभिचन्द्र के मन्वन्तर में कोई उल्लेखनीय प्राकृतिक परिवर्तन नहीं हुए।[6] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि चन्द्राभ नामक आठवें मनु के समय में उठ खड़ा होनेवाला भीषण हिमतुषार का शीतयुग आकस्मिक था। इस सुदीर्घ अन्तराल में भौतिक प्रकृति स्वयं को धीरे-धीरे इस महा-

---

१. तिलोय० ४।४२७।

२. सुमेरु प्रदक्षिणा — आधुनिक भूगोल के उत्तरी ध्रुव (जैनों के सुमेरु) में आज भी समस्त तारामण्डल उसकी (उत्तर ध्रुव की) परिक्रमा करते हुए देखा जा सकता है। यद्यपि सचाई यह है कि घूमती हुई पृथ्वी के कारण ऐसा दिखलाई देता है।

३. तिलोय०, ४।४२१-२१। ४, वही, ४।४३०-३८। ५. वही, ४।४३६-५६। ६. तिलोय० ४।४५७-४७४।

परिवर्तन के लिए तैयार कर रही थी ।[1]

आखिर इस हिमयुग के अवतरण का कारण क्या हो सकता है? पूर्व प्राकृत परिवर्तनों पर दृष्टिपात करने से अनुमान होता है कि ऋतुरहित पृथ्वी पर जब क्रमशः प्रकाश एवं ताप के रूप में सूर्य शक्ति आविर्भूत हुई होगी तो उससे पृथ्वीस्थ जल का वाष्पीकरण बड़ी तेजी से हुआ होगा और उस महावाष्प से यह भूमण्डल घिर गया होगा। यह वाष्पावरण इतना अधिक हो गया होगा कि सूर्य की तप्त किरणें उसे भेद न सकी होंगी और इस प्रकार ताप के अभाव में वह वाष्प, हिम तथा तुषार के रूप में बदल गयी होगी।

जो भी हो जैनों के अनुसार वह तुषार इतना सघन था कि उसके पार चन्द्रमा-जैसी ज्योतियाँ दिखलाई नहीं देती थीं और वह सुदीर्घ काल तक लोगों को अपने हिम-स्पर्श से कम्पित करता रहा था। चन्द्राभ मनु ने सूर्य-किरणों को इस हिम की औषधि बतलाया था।[2]

हजारों वर्षों तक निरन्तर आच्छादित रहने के पश्चात् वह हिमवाष्प बादलों में बदलने लगी और मरुदेव नामक बारहवें मनु का युग आते-आते उसने बरसना भी प्रारम्भ कर दिया। भोगभूमि के निवासियों ने इस प्रकार पृथ्वी की प्रथम वर्षा देखी। इस भयंकर महावृष्टि से पृथ्वी का पृष्ठभाग छिन्न-भिन्न हो गया और उस विच्छिन्न-पृष्ठ पर प्रवाहित पंकिल जल से असंख्य क्षुद्र नदियों का जन्म हुआ। छोटे-छोटे पर्वत एवं पर्वतमालाएँ भी इसी भीषण आँधी-तूफ़ान एवं वर्षा के युग की देन हैं।[3] दयालु मरुदेव ने इस जलसंप्लव से घिरे हुए मनुष्यों को नौका निर्माण की विद्या सिखलायी और आकाशीय वर्षा से बचने के लिए छाते का निर्माण एवं प्रयोग।[4]

इस प्रकार भोग और कर्मभूमियों की सन्धि में क्रमशः सूर्य-चन्द्रादि ज्योतियों के ज्योतिर्युग, हिमतुषारशीत के हिमयुग तथा महावृष्टि के वर्षायुग का प्रादुर्भाव हुआ और चौदहवें मनु नाभिराज का मन्वन्तर आते-आते वे इस भूमि पर प्रतिष्ठित हो गये। ऋषभ और भरत चक्रवर्ती के समय में तो उपर्युक्त महापरिवर्तनों द्वारा प्रस्थापित, ग्रीष्म, शीत तथा वर्षा का ऋतुचक्र वार्षिक हो गया और तब से आज तक वह अनाहत रूप से प्रवर्तमान है।

आगे चलकर हम देखेंगे कि वर्षा के इस अन्तिम युग द्वारा निर्मित परिस्थितियों के कारण ही मनुष्य ने ग्राम-नगर आदि बसाकर कृषिकर्माश्रित स्थायी जीवन का समारम्भ किया था।

जैविक परिवर्तन

इन चतुर्दश मन्वन्तरों में हुए महान् प्राकृतिक परिवर्तनों का प्रभाव इस प्राकृत पर्यावरण में रहनेवाले जीवों पर भी आत्यन्तिक रूप से हुआ। इन प्रभावों के फलस्वरूप

---

१ तिलोय०, ४।४७५-४८१ । २. वही । ३, महापुराण, ३।१४६ । ४. तिलोय० ४।४८२-८८ ।

जीवों (भोगभूमिज मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणी वर्ग) का बाह्य रहन-सहन तो और बदल ही गया किन्तु इससे उनकी आन्तरिक संरचना भी मौलिक रूप से विपरिवर्तित हो गयी। आवश्यक रूप से जीवन में केवल एक ही बार, केवल एक शिशु-युगल को जन्म देनेवाली नारी तो इन परिवर्तनों से आमूल ही बदल गयी। जैनग्रन्थों में उसकी तथाकथा तदतिरिक्त अन्य परिवर्तनों के साथ इस प्रकार चित्रित की गयी है—

उत्तम भोगभूमि के प्रथम क्षण से लेकर विमलवाहन नामक सातवें मनु तक, इस भूमि पर युगल सन्तति उत्पन्न होने की प्रसवप्रणाली प्राकृतिक रूप से प्रवर्तित रही। अबतक पुरुष की सहचरी स्त्री उसके साथ ही एक ही माता-पिता से उनके जीवनान्त में उत्पन्न होती थी। उन दोनों के माता-पिता, बिना अपनी सन्तति के मुखदर्शन के प्रसव के तत्काल पश्चात् मर जाया करते थे।[1] किन्तु चक्षुष्मान् नामक आठवें मनु के मन्वन्तर से इस प्राकृत प्रथा में कुछ-कुछ फेर-बदल होने लगा। शिशुयुग्म को जन्म देने के तत्काल पश्चात् अब उनके जनक माता-पिता की मृत्यु नहीं होती थी। अब वे अपनी युग्मसन्तति का मुँह देख सकते थे। किन्तु अपनी सन्तान का मुँह देखना उनके लिए किसी आनन्द अथवा हर्ष की सूचना नहीं थी वरन् यह तो उनकी मृत्यु का आमन्त्रण होता था क्योंकि मुखदर्शन के कुछ समय पश्चात् ही उनकी मृत्यु हो जाया करती थी।[2]

चक्षुष्मान् ने लोगों को बतलाया कि ये बालक-बालिका तुम्हारी ही सन्तान हैं। आनन्दपूर्वक इनका मुख देखो और निर्भय होकर अपनी मृत्यु का साक्षात्कार करो।[3] उस समय के लोग इस बात से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने चक्षुष्मान् मनु की पूजा की।

यशस्वी एवं अभिचन्द्र नामक नवें तथा दसवें मनु के युग में उपर्युक्त प्रथा का ही विकास हुआ। युगल-शिशु के जन्म के पश्चात् उनके जनक माता-पिता अब अपेक्षाकृत अधिक समय तक जीवित रहने लगे। इस अतिरिक्त जीवित का उपयोग वे शिशुओं के नामकरण एवं रुदननिवारण आदि कार्यों में किया करते थे। यशस्वी मनु ने सन्तति के नामकरण की प्रथा का सूत्रपात किया था और अभिचन्द्र ने खेल-खिलौने आदि के द्वारा शिशुओं को रुदन विमुख करने का आविष्कार।[4]

चन्द्राभ एवं मरुदेव नामक ग्यारहवें तथा बारहवें मन्वन्तर में युगलदम्पति एवं उनके दो शिशुओं (शिशु-युग्म) तक सीमित परिवार का विकास हो चला था। इन मनुओं के काल में किसी विशिष्ट जैव परिवर्तन के उल्लेख जैन ग्रन्थों में नहीं मिलते। तब सम्भवतः प्रकृति अपनी प्रशान्त गम्भीरता में किसी बड़े परिवर्तन की योजना बना रही थी। हमें उसकी इस योजना का क्रियान्वय आगामी मन्वन्तरों में देखने को मिलता है।

उपर्युक्त चन्द्राभ एवं मरुदेव के मन्वन्तर जैसा कि पहले वर्णित किया जा चुका है, महाशैत्य, आँधी-तूफ़ान तथा महावृष्टि के युग थे। इन शीत एवं वर्षा के सहस्राब्दियों

---

१. तिलोय० ४।३७५-७६ गब्भादो जुगलेसुं णिक्कंतेसु मरंति तक्कालं ॥
२. वही, ४।४६०-६४। ३. वही, ४।४६३-६४। ४. वही, ४।४६५-४७३।

लम्बे युगों के प्रभाव के कारण मानवीय प्रजननांगों में विशिष्ट परिवर्तन हुए। यद्यपि शिशु-युग्म की भोगभूमिकालीन प्रक्रिया अब भी प्रवर्तित थी तथापि अधुना उत्पन्न शिशु, वस्तिपटल (जरायु, गर्भ को आवृत रखनेवाली झिल्ली) में आवेष्टित होते थे।[1] जरायु-युक्त बालकों का जन्म इस युग के मानवों के लिए एक भयोत्पादक आश्चर्य था। इस जरायु निर्माण का कारण हम शीत-वर्षा से सहस्राब्दव्यापी पूर्वोक्त युगों में ढूंढ़ सकते हैं—शीत एवं वर्षा के प्रकोपों से गर्भस्थ शिशु की रक्षा के निमित्त 'प्राकृतिक रूप से इस झिल्ली का निर्माण हुआ होगा।

प्रसेनजित् नामक तेरहवें मनु ने इस जरायु को अलग करने का उपदेश लोगों को दिया और उन्हें आश्वस्त किया कि इस नव प्रयोग से उन्हें कोई हानि न होगी।[2]

इस विशिष्ट परिवर्तन के पश्चात् भी प्रकृति एवं कालकृत परिवर्तनों ने विराम न लिया। चौदहवें तथा अन्तिम मनु नाभिराज के मन्वन्तर में उपर्युक्त जरायु के साथ नाभिनाल (गर्भनाल) युक्त सन्ततियाँ लोगों को उत्पन्न होने लगी।[3] इसके साथ ही युगल-शिशु की पुरातन प्रसूति-प्रक्रिया भी विच्छिन्न होने लगी। अब लोगों को दो के स्थान पर बालक या बालिका के रूप में केवल एक ही सन्तान उत्पन्न होने लगी थी। एवं नाभि को ऋषभ नामक पुत्र की प्राप्ति इसी प्रकार हुई थी। वह बालक एकाकी ही उत्पन्न हुआ था।[4]

नाभिराज ने अपने विवेक से इन दोनों घटनाओं से उत्पन्न समस्याओं का लोक-प्रिय समाधान किया। उन्होंने नाभिनाल छेदन तथा विवाह की प्रथाओं का सूत्रपात किया। ये दोनों प्रथाएँ तब से लेकर आज तक प्रचलित हैं।

जैनों के अनुसार मनुष्यों के समान तिर्यंचों में भी यही परिवर्तन युग के अनुसार हुए थे। उनकी युग्मोत्पादन की क्षमता अब समाप्त हो गयी थी और वे एक बार में केवल एक सन्तति ही उत्पन्न कर सकते थे। फिर भी इस नवीन प्रथा के अपवाद आज भी यत्र-तत्र दिखलाई दे जाते हैं।

इस प्रकार इन चौदह मनुओं के काल में अनेक जैविक परिवर्तन हुए। संक्षेप मे उन्हें सन्ततिमुखदर्शन, जरायु उत्पत्ति, नाभिनालोत्पत्ति तथा युग्मप्रसूतिभंग–इन चार शीर्षको मे रखा जा सकता है। इन प्रमुख परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ अन्य जैविक परिवर्तन जैन ग्रन्थों में वर्णित हैं। उनका सार इस प्रकार है—

सूर्योदयादिजन्य ताप एवं प्रकाश, शीत तथा वर्षा आदि के संयोगों के कारण एवं कालकृत अवसर्पण के फलस्वरूप, नाभिराज के मन्वन्तर में अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ तथा मक्खी, मच्छर, भ्रमर, शंख, चींटी आदि विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। इसके पहले भोगभूमिकाल में इन सब का सर्वथा अभाव था। कर्मभूमि के प्रारम्भ में उत्पन्न ये जीव, उसके अन्त तक फलते-फूलते रहते हैं किन्तु आगामी

---

१. तिलोय० ४।४८६-९३ । २. वही, ४।४९१-९२ । ३. वही, ४।४९४-९६ । ४. तिलोय० ४।४९७-५०० । वही, ४।१६०६-१० ।

भोगभूमि के प्रारम्भ होते ही समाप्त हो जाते हैं।[1]

अब हम इन जैव एवं प्राकृत परिवर्तनों के कारण मानवीय जीवन क्रम के हुए संस्कारों आदि का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

सांस्कृतिक परिवर्तन

काल के अवसर्पण के कारण भोगभूमि की प्राकृतिक दशा धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। ज्यों-ज्यों कर्मभूमि का उत्थानकाल उसके सन्निकट आया त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप मानव तथा उसके द्वारा निर्मित व्यवस्थाओं में पर्याप्त संस्कार हुआ। जैन ग्रन्थों में इस संस्कार अथवा मानवीय संस्कृति का पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है। यह विवरण आधुनिक विद्वानों द्वारा निर्धारित प्रागैतिहासिक-युगविभागों से भी पर्याप्त सामंजस्य रखता है। यथा—

प्राकृतिक दशा	भोगभूमि।
आखेटयुग	प्रथम सात मन्वन्तर।
चरागाह युग	अन्तिम सात मन्वन्तर।
कृषियुग	कर्मभूमि का प्रारम्भिक काल।

अब हम प्रसंग प्राप्त मन्वन्तरों की चर्चा इस सन्दर्भ में करेंगे।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रथम मनु प्रतिश्रुति के पूर्व तक भोगभूमि की प्राकृतिक दशा विद्यमान थी। भोगभूमिज युगल तब सर्व संस्कारशून्य थे। उनका जीवन पूर्णतः स्वच्छन्द तथा सम्बन्ध निरपेक्ष था किन्तु प्रतिश्रुति कुलकर के समय में प्रथमतः दिखलाई देनेवाले सूर्य-चन्द्रमा तथा सन्मति (द्वितीय मनु) के युग में प्रथमतः साक्षात्कृत होनेवाली असंख्य तारा ज्योतियों के नव परिचय ने उन्हें आपस में सम्बद्ध होने की दिशा में अज्ञात रूप से प्रेरित किया। इन नये पड़ोसियों के प्रति प्रत्येक युग्म के हृदय में वैसे ही भय का वातावरण बना हुआ था तभी उस भय को अन्धकार के भयावह प्रथम साक्षात्कार ने और भी प्रबल बना दिया।[2]

मेरे विचार से इन आकाशीय ज्योतिर्पिण्डों तथा अन्धकार के साक्षात्कारजन्य भय एवं अज्ञान की प्रतिक्रिया स्वरूप धर्म और ज्योतिष-जैसे सर्वप्राचीन विषयों का आविष्कार हुआ। अन्धकार के असुर से त्राण पाने के लिए वे भयभीत भोगभूमिज युगल निश्चय ही सूर्य एवं चन्द्रमा जैसी अन्धकार विनाशक दिव्य ज्योतियों के कृतज्ञ हुए होंगे और उन ज्योतियों के सम्मुख उन्होंने अपना मस्तक विनम्रता से झुका दिया होगा। मेरे विचार से यही सूर्य-चन्द्र-पूजा विश्वव्यापक सर्व प्राचीन धर्म का पहला बीज थी। इसका

---

१. महापुराण, ३।६८-७०।

२. तिलोय०, ४।४२३,२४, ३२,३३

> चंदाइच्चाण मंडलाणि तदा···दट्ठूण भोगभूमिजा सव्वे।
> तत्तो सूरत्थमणे दट्ठूण तमाइ ताराइं।
> उप्पादा अइघोरा अदिट्ठपुव्वा त्ति अंभिदा एदे।
> इय भोगज णर तिरिया णिब्भर भय संभला जादा।

हैं दूसरा पक्ष था ज्योतिर्विद्या का पृथ्वी पर अवतरण। इन महान् ज्योतियों के आगे मानवीय हृदय के समर्पण से जिस प्रकार धर्म का जन्म हुआ उसी प्रकार इन ज्योतियों के प्रति मानवीय मस्तिष्क के समर्पण से ज्योतिर्विद्या का। लोग धीरे-धीरे अन्धकार के भय से मुक्त हुए होंगे और उन्होंने विमुक्त आकाश में असंख्य देवताओं (तारागणों) की आंखमिचौनी देखी होगी। उन्होंने उस दिव्य खेल के नियमों को समझने का प्रयास भी किया होगा। बुद्धिमान् मानव इस प्रयास में सफल हुआ और उससे जिस विद्या ने पृथ्वी पर पदार्पण किया वह ज्योतिष कहलायी।

उपर्युक्त पूजाधर्म अभी चलकर और भी पुष्ट हुआ होगा क्योंकि आगामी मन्वन्तरों (तृतीय तथा चतुर्थ मन्वन्तर) में अनेक पशुपक्षी हिंस्र होकर मनुष्यों पर आक्रमण करने लगे थे।[1] इन आक्रमणों से भयभीत मनुष्यों ने रक्षा के लिए अपने देवताओं को याद किया होगा। इस प्रकार उनका विश्वास उपर्युक्त सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं में और सुदृढ़ हुआ होगा। इस उपाय के अतिरिक्त उन भयभीत मानवों ने पहले तो हिंस्र पशुओं के प्रति बचाव की नीति अपनायी। इसका उपदेश क्षेमंकर (तीसरे मनु) ने लोगों को दिया था।[2] पुनः जब हिंस्र पशुओं की क्रूरता और उपद्रव आत्यन्तिक रूप से बढ़ने लगे तब क्षेमन्धर (चतुर्थ मनु) ने लोगों को लाठी आदि हथियार रखने की सलाह दी।[3] इस सलाह के साथ ही मानवीय इतिहास में आखेटयुग का विधिवत् सूत्रपात हुआ।

भोगभूमिज मानव अब अपने प्रमुख शत्रुओं—हिंस्र पशु-पक्षियों के आखेट में लग गया। इससे उसे अपरिमित लाभ हुआ। एक ओर तो वह घातक पशुओं के संहार से अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित हो गया तथा दूसरी ओर उसे विभिन्न पशु-पक्षियों के सतत सम्पर्क से उनके स्वभाव आदि के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ। शान्त स्वभाववाले पशुओं से उसने मित्रता स्थापित की और विमलवाहन (सातवें मनु) के उपदेश से उनमें से कुछ का उपयोग उसने वाहन (सवारी) के रूप में करना प्रारम्भ कर दिया। सातवें मन्वन्तर में लोगों को जीवन धारण के उपयुक्त सामग्री के अन्वेषण के लिए दूर-दूर तक की यात्राएँ अपने वाहनों द्वारा करनी पड़ती थीं क्योंकि उसके पहले के (पांचवें एवं छठे) मन्वन्तरों से ही इस भूमि पर यथेच्छ फल देनेवाले कल्पवृक्षों का अभाव हो चला था।[4]

लोग अब भी शिकार करते, उपयोगी पशु पालते तथा भोजनादि के अन्वेषण में दूर-दूर की यात्राएँ करते थे। जहाँ भी उपयोगी कल्पवृक्ष तथा पशुओं के चरने के उपयुक्त घास के मैदान तथा जलाशय आदि मिलते, लोग वहीं पर रुक जाते और

---

१. तिलोय० ४।४४१,४६

कम्मादि तिरियजीवा कालवसा कूरभावमावण्णा।
तक्काले सीहादी कूरयरा एंति मणुव मंसाई॥

२. वही, ४।४४२-४३

३. तिलोय० ४।४४७। ४. वही, ४।४४८-४९।

आवश्यकता पड़ने पर आगे बढ़ जाते। जैनों के अनुसार अब भी भोगभूमि की पुरातन प्रसूति प्रक्रिया प्रवर्तित थी। भोगभूमिज युगल अपने जीवनान्त में अपने ही समान शिशु युगल को जन्म देते और मरण को प्राप्त होते थे। न तो उस समय परिवार थे और न लोगों के घर-द्वार ही। तब मानव युगल थे और थे उनके प्रिय वाहन तथा आत्मरक्षा के साधन आयुधादि। इस प्रकार का घुमन्तू जीवन तब इस भूमि पर था। चूँकि तब शीतवर्षा आदि का ऋतुचक्र अप्रवर्तित था। इसलिए लोग गृहग्राम आदि के बन्धन से रहित होकर निर्बन्ध विचरण करते थे। जैन कालविदों के अनुसार यह परिव्रजनशील मानव जीवन कर्मभूमि के आरम्भ में तबतक प्रवर्तमान रहा जबतक कि ऋषभदेव ने लोगों को गाँव-नगर बसाकर कृष्यादि कर्म करने की शिक्षा नहीं दी। इस बीच अनेक प्राकृतिक एवं जैव परिवर्तनों से मानव जाति को गुज़रना पड़ा था जिसकी तथा-कथा अन्यत्र वर्णित है। इन महापरिवर्तनों के कारण मानव सभ्यता तथा संस्कृति का जो विकास हुआ वह इस प्रकार है—

चक्षुष्मान् (आठवें मनु) के समय लोगों को पहली बार अपनी सन्तति के सम्बन्ध में बोध हुआ। लेकिन यह बोध महाभयप्रदाता था। क्योंकि इसके साथ ही जनक दम्पति की मृत्यु हो जाती थी किन्तु जब यशस्वी (नवम मनु) के समय से जनक दम्पति की प्रसवोत्तर आयु में पर्याप्त वृद्धि हो गयी तब सन्तति के जन्म ने एक उत्सव का रूप ले लिया और यशस्वी मनु ने नामकरण संस्कार का प्रचलन इस भूमि पर किया।[1]

अभिचन्द्र (दसवें मनु) के समय जनक दम्पति की प्रसवोत्तर आयु में और भी वृद्धि हुई। इस आयुखण्ड में वह दम्पति अपने रुदनशील बालकों को नाना प्रकार के खिलौने आदि देकर प्रसन्न किया करते थे।[2] वे उनकी सुखद क्रीड़ाएँ देखते तथा अपने उद्‌गार व्यक्त करते थे। इससे भाषा एवं चारुशिल्प का उद्भव हुआ।

पश्चात् चन्द्राभ (ग्यारहवें मनु) के समय में लोगों को भयंकर हिमयुग का सामना करना पड़ा।[3] हिम से बचने के लिए सम्भवतः मिथुन दम्पतियों ने अपने युगल शिशुओं तक सीमित परिवार के साथ गिरि-गुफाओं में शरण ली होगी और गुहाभित्तियों पर अपनी कल्पना तथा कलाबोध के अनुसार गुहाचित्रों की रचना की होगी। शीत से बचने के लिए पर्णादिनिर्मित आच्छादन अथवा वस्त्रों का आविष्कार भी उसने किया होगा।

इसके बाद आनेवाले महावर्षा के युग में लोगों ने पर्वतादि ऊँचे शरणस्थलों का महत्त्व समझा और मरुदेव (बारहवें मनु) के निर्देशन में नौका-सीढ़ी तथा छाते आदि का आविष्कार किया।[4] मैदानों में स्वच्छन्द विचरण करनेवाले मानव के मार्ग में, महावृष्टि से उत्पन्न, असंख्य नदियों, पर्वतों तथा दलदल ने असीम रुकावटें उत्पन्न कर

---

१. तिलोय० ४।४६०-६८; २. वही, ४।४६९-७२; ३. वही, ४।४७५-८१; ४. तिलोय० ४।४८२-८८।

दीं। प्रकृति द्वारा वह पर्यटनशील प्राणी पुनः निश्चल-सा कर दिया गया।

शीत और वर्षा के भयंकर महायुगों के प्रभाव के कारण पृथ्वी पर कुछ नये परिवर्तन हुए। पहले से ही निरन्तर ह्रासोन्मुख-कल्पवृक्ष इस वर्षादि के कारण और भी तेजी से प्रणष्ट हुए किन्तु उनके स्थान पर वर्षादि के कारण नाना प्रकार की नयी-नयी वनस्पतियाँ लहलहाने लगीं। नाभिराज (चौदहवें कुलकर या मनु) ने क्षुधार्त लोगों को इनके सेवन की सलाह दी[1]। किन्तु मनुष्यों एवं पशुओं की महाक्षुधा उनको कुछ ही दिनों में उदरस्थ कर गयी और नवीन उत्पादन के अभाव में वनस्पतियों का अभाव एक समस्या बन गया।

तभी ऋषभदेव (नाभिराज के पुत्र—पन्द्रहवें मनु) ने अपने युग तक पूर्णतः व्यवस्थापित ऋतुचक्र, भूमि, वनस्पति आदि के स्वरूप को भलीभाँति हृदयंगम करके लोगों को कृषिकर्म का सदुपदेश दिया। तब से लेकर आज तक वह कृषिकर्म ही मनुष्यों के जीवन का प्रमुख आधार बना हुआ है। ऋषभदेव ने इसके अतिरिक्त लोगों को शस्त्रविद्या, लेखन, कला-वाणिज्य, शिल्प तथा पशुपालन-जैसी उपयोगी विद्याओं की शिक्षा भी दी।[2] उन्होंने ही सर्वप्रथम लोगों को घुमन्तू जीवन त्याग कर ग्राम-नगर के स्थायी जीवन को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया था। ग्राम, नगर तथा गृह-प्रासाद आदि बनाने की लोकोपयोगी विद्याओं के आविष्कर्ता भी वही थे।[3] जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव ने ही उस प्रारम्भिक अराजकतापूर्ण युग में राज्यशासन की सुव्यवस्था के लिए चार क्षत्रिय राजवंशों की स्थापना की थी तथा सामाजिक उत्थान के लिए मनुष्यों को गुण-कर्मों के अनुसार क्षत्रिय-वैश्य आदि वर्णों में विभाजित किया था।[4] अपने गृहस्थ जीवन में उपर्युक्त महान् कार्यों से लोकाराधन करनेवाले ऋषभदेव ने अपना उत्तर-जीवन एक सर्वारम्भ त्यागी दिगम्बर संन्यासी के रूप में व्यतीत किया तथा अपने महान् चिन्तन से सर्वबन्धनों से मुक्त करनेवाले आत्मधर्म का सारी भारतभूमि में पैदल घूम-घूमकर प्रचार किया। उनका यह मुक्तिप्रदायक आत्मधर्म जैनधर्म के रूप में आज भी इस देश में प्रवर्तमान है।

ऋषभ के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत (सोलहवें मनु ने) ने अपने महान् पराक्रम से एक विशालतम साम्राज्य की स्थापना करके एक सर्वथा नवीन अध्याय मानव सभ्यता के इतिहास में समाविष्ट किया। उनके द्वारा अत्यन्त प्राचीनकाल में संस्थापित वह साम्राज्य आज भी भारतवर्ष के नाम से विश्व-भर में विख्यात है। हमारे देश के इस प्राचीन नाम द्वारा हम आज भी उन प्रतापी पिता-पुत्र—ऋषभ और भरत का स्मरण

---

१. तिलोय०, ४।४९४-५०१।

२. पाण्डव० २।१५४। असि-मसि-कृषि-विद्या-वाणिज्यं पशुपालनम्। एवं षट्कर्म-संघातं वृषभस्तानुपादिशत्॥

३. पद्मपुराण ३।२५५-५६ शिल्पानां शतमुद्दिष्टं नगराणां च कल्पनम्। युगं तेन कृतं यस्मादित्थमेतत्सुखावहम्॥

४. महापुराण १६।२४१-७२।

करते हैं। ऋषभ का एक नाम वृषभ अथवा वृष भी जैन परम्परा में प्रचलित है। उसके अनुसार भरत और वृष का यह देश भारतवर्ष कहलाता है।

सम्पूर्ण पुराण साहित्य भी ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का भारतवर्ष नाम पड़ना एक स्वर से स्वीकार करता है।[1] जैनों के अनुसार इन्हीं आद्य भारत सम्राट् ने विश्व में सर्वप्रथम दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् (विश्व-विजेता) बनने की प्रथा का सूत्रपात किया था। इसके अतिरिक्त लोकशिक्षण के लिए ब्राह्मण वर्ण की संस्थापना का श्रेय भी जैन परम्परा उन्हें प्रदान करती है। इसके पहले उनके पिता ऋषभदेव द्वारा संस्थापित केवल तीन ही वर्ण थे। भरत चक्रवर्ती के उपर्युक्त महान् कार्यों के कारण जैनाचार्य उन्हें सोलहवें मनु या कुलकर की पदवी से भी विभूषित करते हैं।

भरत चक्रवर्ती ने, उपर्युक्त महान् कार्यों के अतिरिक्त तत्कालीन दण्डनीति को भी एक नयी दिशा दी थी। उनके पहले चूँकि मनुष्यों का स्वभाव अत्यन्त सरल तथा सलज्ज था इसलिए वे एक तो अपराध में प्रवृत्त ही नही होते थे और यदि भूल से किसी अपराध में प्रवृत्त भी होते तो उनकी शाब्दिक भर्त्सना ही पर्याप्त होती थी। इसके अतिरिक्त निषेधात्मक आदेश तथा उनके कार्य पर पश्चात्ताप अथवा खेद प्रकाशित करके भी उन्हे दण्डित किया जाता है। जैन ग्रन्थों में ये तीनों न्याय व्यवस्थाएं हा, मा, धिक् —इस संक्षिप्त सूत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। प्रथम पांच मन्वन्तरों में हा, दूसरे पांच में मा, तथा अन्तिम पांच में धिक्कार रूप दण्ड व्यवस्थाएँ प्रचलित थीं। भरत चक्रवर्ती ने अत्यन्त उद्दण्ड मनुष्यों के शमन के लिए उनके अंग-भंग करने तथा आवश्यक होने पर मृत्युदण्ड तक देने की दण्ड-नीति प्रवर्तित की थी।

इस प्रकार जैन ग्रन्थों में भोगभूमि तथा कर्मभूमि के संक्रमणकालीन चतुर्दश किंवा, षोडश मन्वन्तरों का वर्णन विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है। यहाँ पर हमने उसका सामान्य विवरण पुराण तथा विकासवाद के कतिपय सन्दर्भ देते हुए प्रस्तुत किया है। आगामी परिच्छेद में कर्मभूमि आदि का वर्णन पुराणादि के सन्दर्भ में प्रस्तुत करेंगे।

कर्मभूमि

अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीन काल खण्ड कर्मभूमि के नाम से जैन वाङ्मय में प्रसिद्ध है। इस भूमि का पदार्पण पूर्वोक्त भोगभूमि एवं चतुर्दश मन्वन्तरों के तत्काल पश्चात् होता है। जैनों के अनुसार यह भूमि एवं इसकी व्यवस्थाएँ भोगभूमि की तुलना में उसके दशांश काल तक ही प्रवर्तित रहती हैं। उसके पश्चात् प्रलय होता है और उसके पश्चात् उत्सर्पिणी नामक कल्पार्ध का प्रारम्भ होता है जिसमें अवसर्पिणी काल में ह्रास को प्राप्त मनुष्यादि के शरीर, आयु तथा अनुभव दिनानुदिन बढ़ते चले जाते हैं।

---

१. वायु० ३३।५०-५२ ऋषभात भरतो जज्ञे वीर-पुत्र-शताग्रजः।
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
विष्णु० २।१।२८,३२; भाग० ५।७।१-३; अग्नि० १०७।११-१२, मार्क० ५३।

प्राकृतिक स्थिति

कर्मभूमि की प्रकृति भोगभूमि के समान सुखद, शान्त और अतिसमृद्ध नहीं थी। इस समय लोगों को अपनी आजीविका के लिए कृषि आदि परिश्रम प्रधान कार्य करने पड़ते थे जबकि भोगभूमि के निवासी संकल्पमात्र से ही कल्पवृक्षों से अपना मनोवांछित फल प्राप्त कर लेते थे। इस भूमि के प्रारम्भ में ही कल्पवृक्ष निश्शेष हो गये थे और उनके स्थान पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ स्वयमेव उग आयी थीं।[1] पहले तो मानव जीवन इन्ही पर आधारित रहा किन्तु धीरे-धीरे जब इनका भी अभाव होने लगा तब उसने कृषि आदि श्रमपूर्ण कार्यों से अपनी आवश्यकतानुसार उनका उत्पादन आदि प्रारम्भ कर दिया और दिनानुदिन उसका जीवन कठोर से कठोरतर श्रम पर प्रतिष्ठित होने लगा।

भोगभूमि की सदा वसन्ती ऋतु भी अब नही रह गयी थी। अब उसके स्थान पर ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत ऋतु का वार्षिक चक्र प्रतिष्ठित हो गया था। इन ऋतुओं के अनुसार ही अब मानव जीवन नियन्त्रित होता था। जैनों के अनुसार अद्यावधि प्रचलित यह ऋतु चक्र भी धीरे-धीरे ह्रास की ओर ढुलक रहा है। इस भूमि के अन्तिम चरण में यहाँ पर वर्षा का सर्वथा अभाव हो जायेगा।[2] वर्षा के अभाव से अन्न तथा वनस्पतियों का भी दिनानुदिन क्षय होगा जिससे उनपर आश्रित मानव जीवन भी नाश को प्राप्त हो जायेगा।

महाप्रलय

अन्त में सप्त-सप्ताहव्यापी महाप्रलय होगा। प्रत्येक सप्ताह में सप्ताहव्यापी विष, धूम, धूलि, वज्र, अग्नि, क्षार आदि घातक पदार्थों की महावृष्टि होगी। जिससे पृथ्वी का एक योजन मोटा भूकवच नष्ट हो जायेगा। इस भूपृष्ठ पर स्थित वृक्षलता, पशुपक्षी, मनुष्यादि सभी नष्ट हो जायेंगे। अन्त में केवल कुछ ही प्राणी गंगा-सिन्धु की उपत्यका में शेष रह जायेंगे जिनसे भावी सृष्टि का उत्सर्पण चक्र कल्पार्ध के लिए पुनः प्रवर्तित होगा।[3]

जैविक स्थिति

कर्मभूमि के पहले इस भूमि पर केवल पूर्णविकसित (संज्ञी पंचेन्द्रिय) पशु-पक्षी एवं मनुष्य ही निवास करते थे। किन्तु मन्वन्तरकालीन परिवर्तनों से इस भूमि के प्रारम्भ में उसपर अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ तथा क्षुद्र जीव-जन्तु (विकलेन्द्रिय) भी उत्पन्न हो गये। इन नवोत्पन्न जीव जातियों ने अत्यन्त तीव्रता से विकास किया और सारी पृथ्वी को उन्होंने अल्प समय में ही आच्छादित कर लिया। जैनों के

---

१. तिलोय० ४।४६७। २. उत्तरपुराण, ७६।४४२-४४७। ३. तिलोय० ४।१५४४-५२; उत्तरपुराण, ७६।४५२, ५५३; त्रिलोकसार ८६४ ६७; व्याख्या, २८६, २८७।

अनुसार उपर्युक्त सभी जीव जातियाँ इस कर्मभूमि के अन्त तक न्यूनाधिक रूप में बनी रहेंगी।

कर्मभूमि में मनुष्य की नृतत्त्वीय स्थिति जैनग्रन्थों में इस प्रकार वर्णित की गयी है—

उत्तम कर्मभूमि के प्रारम्भ में मनुष्यों की अधिकतम ऊँचाई ५२५ धनुष (क़रीब आधा मील, ४ हाथ = १ धनुष), आयु एक पूर्वकोटि (पूर्व = ८४ लाख × ८४ लाख वर्ष) तथा पृष्ठास्थि संख्या चौसठ होती है।[1]

मध्यम कर्मभूमि के प्रारम्भ में मनुष्यों की अधिकतम ऊँचाई सात हाथ (क़रीब १० फ़ीट), परमायु १२० वर्ष तथा मेरुदण्ड में अस्थि संख्या २४ होती है।[2]

जघन्य कर्मभूमि में अधिकतम ऊँचाई साढ़े तीन हाथ (क़रीब ५-६ फ़ीट), परमायु २० वर्ष तथा पृष्ठास्थियों की संख्या १२ होती है।[3]

मनुष्यों की ऊँचाई, आयु आदि में उपरिलिखित ह्रास अवसर्पिणीकाल के प्रभाव के कारण होता है। मनुष्य के समान पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि की आयु, ऊँचाई आदि भी पूर्वोक्त काल-क्रमानुसार न्यून से न्यूनतर होती जाती है। इसका कारण भी उपर्युक्त काल का अवसर्पण है।

सांस्कृति स्थिति

मन्वन्तरकालीन सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत हमने देखा कि किस प्रकार से भोगभूमिज मानव भोगभूमि की प्राकृतिक दशा से वन्य पशुओंसे संघर्ष के आखेटयुग में तथा आखेटयुग से परिव्रजनशील चरागाह युग में प्रविष्ट हुआ था और सबसे अन्त में उसने कृषि आश्रित स्थिर जीवनवाले कृषियुग में पदार्पण किया था।

कर्मभूमि के प्रारम्भ में संस्थापित वह कृषि-युग, उसके दुःषमा-सुषमा नामक प्रथम चरण में, निर्द्वन्द्व रूप से प्रतिष्ठित रहा था। जैनों के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक विस्तृत यह कृषि युग मुख्यतः धर्म तथा साम्राज्यों के विस्तार का युग था। जैनों के अनुसार इस युग में जैनधर्म के प्रधान प्रवर्तक एवं पुनरुद्धारक चौबीस तीर्थंकर तथा अखण्ड चक्रवर्ती साम्राज्य के संस्थापक बारह चक्रवर्ती, नव नारायण (अर्ध चक्रवर्ती), नव प्रतिनारायण (अर्ध चक्रवर्ती) एवं नव बलभद्र (नारायणों के अग्रज) उत्पन्न हुए थे। धर्म एवं साम्राज्यों के उन्नायक इन त्रेसठ क्षत्रिय पुत्रों की प्रसिद्धि जैनग्रन्थों में त्रिषष्टि शलाकापुरुष के रूप में है।[4]

इन शलाकापुरुषों की यशोगाथा प्रत्येक जैनपुराण तथा कथाग्रन्थ में विस्तार-पूर्वक गायी गयी है। इसके अतिरिक्त उनमें बारह कामदेव, एकादश रुद्र तथा नव-नारदों का जीवनवृत्त भी सादर संग्रहीत है।[5] कामदेव अपने समय के अतिप्रसिद्ध एवं

---

१. तिलोय० ४।१५६५। २. वही, ४।१४७५। ३. वही, ४।१५३६। ४. वही, ४।५१०।२१। ५. वही, ४।१४३६-७२।

सर्वाधिक सुन्दर पुरुष थे। इनमें से प्रथम कामदेव बाहुबलि का नाम विश्वविख्यात है। वे ऋषभदेव के पुत्र तथा भरत चक्रवर्ती के अनुज थे। एकादश रुद्र तथा नवनारद पौराणिक-पुरुष थे। पुराणों के एकादश रुद्रों तथा नवब्रह्माओं[1] (भृगु, दक्ष तथा सप्तऋषि) से इनकी तुलना की जा सकती है। जैनोंके अनुसार ये महापुरुष धर्मतत्त्व के प्रकाण्ड वेत्ता किन्तु रौद्रकर्मरत (हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि), महाविद्वान् एवं बलवान् पुरुष थे।[2]

इन महापुरुषों के धर्म तथा साम्राज्य विस्तार के युग के पश्चात् भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद से दुःषमा नामक कालखण्ड का प्रवर्तन इस भारत भूमि पर हुआ। इस युग में न तो किसी सार्वभौम धर्म का ही प्रवर्तन हो सका और न अखण्ड साम्राज्य की स्थापना ही। अपितु इसके विपरीत इसलाम तथा ईसाइयत-जैसे विदेशी धर्मों तथा उनके अनुयायी मुसलिम तथा अँगरेज शासकों द्वारा यह भूमि शताब्दियों तक पददलित तथा विखण्डित होती रही। आज इस भूमि पर इस देश के निवासियों का धर्मनिरपेक्ष स्वशासन भी बड़ी मुश्किल से स्थापित है। इस स्वराज्य में यह देश पाश्चात्यों के अनुकरण पर उद्योगप्रधान, यान्त्रिक जीवन की संस्थापना के लिए निरन्तर प्रयासरत है।

जैनो के अनुसार इस मध्यम कर्मभूमि की यह निरन्तर ह्रासोन्मुखी अवस्था महावीर के निर्वाण के पश्चात् आगामी २१००० वर्ष तक प्रायः इसी रूप मे प्रवर्तित रहेगी। जैन मान्यताओं के अनुसार इस सुदीर्घ अन्तराल में एक-एक हजार वर्ष के अन्तर से इक्कीस कल्कि नरेश तथा प्रत्येक पाँच सौ वर्षों के अन्तराल से इतने ही उपकल्कि उत्पन्न होंगे।[3] इन धर्मद्वेषी नरेशों के समय में सभी प्रकार के श्रेष्ठ आचार, विचार, संस्कार तथा शिष्टाचारों का क्रमशः विनाश होता जायेगा। अन्त में धर्म के समूल नाश के साथ ही यह पृथ्वी अग्निरहित हो जायेगी। इससे लोग बिना पकाया भोजन करने को बाध्य होंगे। धर्म, अधर्म, गुण, कर्म तथा वर्ण जाति आदि का भेद मूलतः मिट जाने से सब मानव गोधर्म परायण हो जायेंगे।[4]

इसके पश्चात् जघन्य कर्मभूमि इस भूमि पर प्रवर्तित होगी। उसका विस्तार भी पूर्ववत् २१००० वर्ष होगा। इस युग में नाना प्रकार की व्याधियों से युक्त कुटिल क्रूर स्वभाववाले अत्यन्त विरूप आकार-प्रकारवाले अल्पकाय (बौने) एवं अल्पायु मनुष्य उत्पन्न होंगे। जैनों के अनुसार उनकी ऊँचाई केवल एक हाथ तथा आयु केवल १६-२० वर्ष होगी। उनकी पृष्ठास्थि में भी केवल १२ अस्थियाँ (कशेरु) होंगी। ये सब दीनहीन मनुष्य बन्दरों के समान आचरण करनेवाले (शाखामृगोपमाः) तथा उन्हींके समान

---

१. विष्णु १।७।५-६ २. तिलोय० ४।१४४२, ७१। सव्वे दसमे पुव्वे रुद्दा भट्टा तवाउ विसयत्थं।
३. तिलोय० ४।१४१६। ४. वही, ४।१५६३-१५५३।

नंगे व गोधर्मपरायण होंगे।[1]

इसके पश्चात् उपर्युक्त कालावधि निश्शेष हो जाने पर सप्त-सप्ताहव्यापी महाप्रलय होगा। प्रलय के पश्चात् अवशिष्ट थोड़े-से प्राणियों के द्वारा नयी सृष्टि का समारम्भ होगा। जैन ग्रन्थों में निरन्तर शुभ की ओर प्रगति करनेवाली यह नयी सृष्टि—उत्सर्पिणीकाल के नाम से प्रसिद्ध है। आगामी परिच्छेद में हम उसीका अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

उत्सर्पिणी काल

अवसर्पिणी की भाँति उत्सर्पिणी काल में भी कर्म भोगभूम्यात्मक छह विभाग होते हैं। इस काल के प्रारम्भ में विद्यमान कर्मभूमि की निकृष्ट अवस्था काल के प्रभाव से निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हुए अन्ततः भोगभूमि की उत्कृष्टतम अवस्था—उत्तम भोगभूमि मे परिणत हो जाती है। इस विकासक्रम में विकास को गति देनेवाले चौदह मनु तथा त्रेसठ शलाकापुरुष भी अवसर्पिणी की भाँति उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि उत्सर्पिणी काल का विकास क्रम अवसर्पिणी की अपेक्षा पूर्णतः विलोम गतिवाला होता है तथापि मन्वन्तरों की स्थिति के सम्बन्ध में वह कुछ भिन्नता लिये होता है। अवसर्पिणी मे मन्वन्तरो की स्थिति, भोगभूमि एवं कर्मभूमि के ठीक मध्य में होती है जबकि उत्सर्पिणी काल में उनकी स्थिति कर्मभूमि के मध्य में होती है।

अब हम पूर्व योजनानुसार कर्मभूमि, मन्वन्तर तथा भोगभूमि के अन्तर्गत उत्सर्पिणी काल का वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

कर्मभूमि

उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीन कालखण्ड—दु.षमा-दुःषमा, दु.षमा तथा दु.षमा-सुषमा जैनग्रन्थो में कर्मभूमि के नाम से विख्यात हैं। जघन्य, मध्यम तथा उत्तम के भेद से उन्हें इन्हीं गुणवाली कर्मभूमि भी कहा जाता है।

प्राकृतिक स्थिति

जैनों के अनुसार इस भूमि के प्रथम चरण (दुःषमा-दुःषमा अर्थात् जघन्य कर्मभूमि) के प्रथम सात सप्ताहों में जल-दुग्ध, अमृत तथा दिव्य जलवाले मेघ इस भूमि पर उत्तम वृष्टि करते हैं जिससे अवसर्पिणी के अन्त में हुई धूमक्षार वज्रादिरूपा प्रलयंकर महावृष्टि का दुष्प्रभाव नष्ट हो जाता है और यह भूमि एक बार फिर से मनुष्य तथा पशु-पक्षियों के साधारण कोटि के जीवन-यापन के योग्य हो जाती है। पृथ्वी पर चारों

---

१. वही, ४।१४६१-१५४३। सव्वंग धूमवण्णा गोधम्मपरायणा कूरा।
दीणा वाणररूवा अहमेच्छा हुंडसंठाणा॥

उत्तरपुराण ७६।४३८-४७
पर्णादि-वसनाः कालस्यान्ते नग्ना यथेप्सितम्।
परिभ्रम्भित फलादीनि दीना. शाखामृगोपमाः।

और हरीतिमा छा जाती है और सुखद वायु प्रवाहित होने लगती है जिसका शीतल स्पर्श पाकर गिरि-कन्दरा आदि में शरण लिये हुए प्रलय शिष्ट मनुष्य तथा पशु-पक्षी बाहर आ जाते हैं।[1]

जैविक स्थिति

इस युग के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु सोलह वर्ष, ऊँचाई एक हाथ तथा पृष्ठास्थियाँ बारह होती हैं। काल के उत्तम प्रभाव के कारण इस भूमि के उत्कर्ष में यह हीनायु बढ़कर २० वर्ष तथा ऊँचाई साढ़े तीन हाथ हो जाती है तथा दूसरे चरण के अन्त में यह आयु १२० वर्ष, ऊँचाई सात हाथ तथा पृष्ठास्थियाँ २४ हो जाती हैं। कर्मभूमि के सर्वान्त में उत्पन्न स्त्री-पुरुषों की आयु एक पूर्वकोटि (८४ लाख × ८४ लाख × १ करोड़ वर्ष) ऊँचाई ५०० धनुष (क़रीब आधा मील) तथा पृष्ठास्थियाँ ६४ हुआ करती हैं।[2]

अवसर्पिणी काल में जिस क्रम से मानव तथा मानवेतर जीवन का ह्रास हुआ था उसके विपरीत क्रम से इस काल में उसकी वृद्धि होती है।

सांस्कृतिक स्थिति

इस काल का प्रथम चरण अवसर्पिणी के अन्तिम चरण की भाँति सभ्यता संस्कृतिविहीन होता है। लोक बन्दरों-जैसे आकार-प्रकारवाले तथा सदाचार शून्य (गोधर्मपरायण) होते हैं।

दूसरे चरण (दुःषमा नामक कालखण्ड अर्थात् मध्यम-भोगभूमि) के अन्तिम सहस्र वर्षों में इन गोधर्मपरायण मनुष्यों के शिक्षण के लिए चौदह मनु उत्पन्न होते हैं।[3] उनके द्वारा शिक्षित वह मनुष्य इस चरण की परिसमाप्ति पर राज्य विस्तार की अभीप्सा तथा धार्मिक महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होने लगता है। इन अभीप्साओं से प्रेरित त्रेसठ मानवों द्वारा इस भूमि के तृतीय चरण (दुःषमा-सुषमा अर्थात् उत्तम कर्मभूमि) में धर्म एवं साम्राज्य का विस्तार सम्भव होता है। ये धर्मराज्य संस्थापक मनुष्य पहले की ही भाँति त्रिषष्टि शलाकापुरुष कहलाते हैं।[4]

इन मनुओं एवं शलाकापुरुषों द्वारा शिक्षित-प्रशिक्षित होकर मानव समुदाय अपनी आदिम जंगली अवस्था को छोड़कर सभ्यता के सोपानों पर चढ़ता हुआ संस्कृति की पराकाष्ठा—मुक्ति धर्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस धर्म से विमुख किन्तु सरलहृदय प्राणी आगामी भोगभूमि में प्रवेश करते हैं जहाँपर वे अपनी भोगैषणा के अनुरूप फल (कल्पवृक्ष द्वारा) संकल्प मात्र से प्राप्त करते हैं।

---

१. तिलोय० ४।१५५८-६१; उत्तरपुराण ७६।४५३-५६। २. तिलोय० ४।१५६४, ६८, ७६, ७७, ९५।
३. वही, ४।१५६६-७५। ४. तिलोय० ४।१५७६-९५।

मन्वन्तर

जैन ग्रन्थों में उपर्युक्त कर्मभूमि के मध्याह्न में उत्पन्न होनेवाले कनक, कनकप्रभ, कनकराज, कनकध्वज, कनकपुंख, नलिन, नलिनप्रभ, नलिनराज, नलिनध्वज, नलिनपुंख, पद्मप्रभ, पद्मराज, पद्मध्वज तथा पद्मपुंख—इन चौदह मनुओं की उत्पत्ति की भविष्यवाणी की गयी है।[1]

ये चौदह मनु एक हज़ार वर्ष के अनथक परिश्रम के द्वारा लोगों को आग जलाना, उसपर भोजन पकाना, वस्त्र धारण करना तथा विवाहादि सम्बन्ध स्थापन करना सिखलायेंगे।[2] ये चौदह मनु सभ्यता के अग्रदूत एवं सम्पादक होंगे। इनके पश्चात् धर्म और संस्कृति के प्राण चौबीस तीर्थंकर जनमेंगे जो कि लोगों को परमपुरुषार्थ की ओर प्रेरित करेंगे। उसके पश्चात् भोगभूमि की प्राकृतिक दशा संख्यातीत काल के लिए प्रतिष्ठित हो जायेगी।

भोगभूमि

आगामी भोगभूमि का प्रारम्भ कर्मभूमि के अवसान से होगा। उसके सुषमा-दुःषमा, सुषमा तथा सुषमा-सुषमा नामक तीन काल खण्डों में क्रमशः साधारण, मध्यम तथा उत्तम कोटिक भोगभूमियाँ होंगी।

उनकी प्राकृतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक स्थिति इस प्रकार होगी।

प्राकृतिक स्थिति

कर्मभूमि के अन्त में सभी प्रकार की वनस्पतियाँ विलीन हो जायेंगी तथा उनके स्थान पर स्वयमेव कल्पवृक्ष उग आयेंगे। दस प्रकारवाले ये कल्पवृक्ष दिनानुदिन अधिक फल देनेवाले होते जायेंगे तथा भोगभूमि के अन्तिम समय में अपनी चरम फलशक्ति से मण्डित होंगे।[3]

छह ऋतुओं का चक्र भी थम जायेगा। तब केवल एक ही ऋतु इस भूमि पर प्रवर्तित होगी।

जैविक स्थिति

भोगभूमि के प्रारम्भ होते ही अल्प विकसित क्षुद्र जन्तु (विकलेन्द्रिय जीव) एकदम विलुप्त हो जायेंगे। तब भोगभूमि में केवल मनुष्य तथा विकसित पशु-पक्षी (संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव) ही शेष रह जायेंगे।[4]

कर्मभूमि के मनुष्यों में व्याप्त रंगभेद भी अब समाप्त हो जायेगा। श्वेत, श्याम, रक्त, पीत एवं पिंगल—इन पाँच रंगोंवाले पंच वर्ण मनुष्यों की जगह पर भोगभूमि में केवल एक ही रंग (स्वर्ण वर्ण) के लोग उत्पन्न हुआ करेंगे। धीरे-धीरे इन पुरुषों का रंग निखरकर सूर्याभ हो जायेगा।[5]

१. वही, ४।१५७०-७१। २. वही, ४।१५६६-७५। ३. तिलोय० ४।१६१०। ४. वही, ४।१६१८-११। ५. वही, ४।१५७७, १६०४।

भोगभूमि के प्रारम्भ में विद्यमान मनुष्यों की एक पूर्वकोटि वर्ष की आयु क्रमशः बढ़ते हुए ३ पल्य हो जायेगी। इसी प्रकार ५०० धनुष (आधा मील) की ऊँचाई भी बढ़कर ६ मील (६ हजार धनुष) हो जायेगी। भोगभूमि के प्रारम्भ की पृष्ठास्थि (मेरुदण्ड के करोरु) संख्या ६४ से २५६ तक बढ़ जायेगी।[१] इस आयु तथा ऊँचाई-वाला भोगभूमिज मानव पृथ्वी का आत्यन्तिक रूप से विकसित अति-मानव होगा।

तब प्रसूति की विधि भी पूर्ववत् युगल शिशुवाली हो जायेगी। स्त्रियाँ अपने जीवनान्त में, एक बालक तथा बालिका रूप, शिशु युगल को जन्म देकर अपने सहचर पुरुष के साथ मृत्यु का वरण करेंगी।

सांस्कृतिक स्थिति

उस भोगभूमि के लोग समस्त संस्कारों से शून्य होने पर भी स्वाभाविक रूप से सुसंस्कृत होंगे। वे अत्यन्त एकाकी, अनिकेत यथेच्छाचारी तथा कल्पवृक्षों से यथेच्छ फल पानेवाले होंगे। तब किसी भी प्रकार के घर-द्वार, ग्राम-नगर, राज्य तथा परिवार आदि नहीं होंगे और न होंगे इन सबसे उत्पन्न नियम और विवाद तब प्रकृति ही इन सबकी नियामक और निर्णायक होगी।

इस भोगभूमि के सर्वान्त से, पुनः काल का अवसर्पण प्रारम्भ होगा और चरम विकसित मानव तथा प्रकृति ह्रास के चक्र में पड़ जायेगी।[२]

हुण्डावसर्पिणी

काल के असंख्य उत्सर्पणों तथा अवसर्पणों के पश्चात् उसकी यान्त्रिक गति में थोड़ा-सा व्यतिक्रम होता है। वह व्यतिक्रम किसी एक अवसर्पिणी काल में अभिव्यक्त होता है। वह व्यतिक्रान्त अवसर्पिणी काल जैन ग्रन्थों में हुण्डावसर्पिणी के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल भी हुण्डावसर्पिणी है क्योंकि इस काल में सुषमा-दुःषमा (तृतीय काल) के अवशिष्ट रहने पर भी दुःषमा-सुषमा (चतुर्थ काल) की प्रवृत्ति अन्य वर्षा तथा विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति प्रारम्भ हो गयी थी। पुनश्च बाहुबलि-जैसे साधारण राजा द्वारा भरत-जैसे चक्रवर्ती की पराजय, तीर्थंकरों के तप काल में उनपर नाना प्रकार के उपसर्ग, तीर्थंकरों के धर्म का समय-समय पर विलोप तथा कल्कि-उपकल्कि आदि धर्मद्वेषी नरेशों की उत्पत्ति इस व्यतिक्रमण की साक्षी है।[3] अन्य अवसर्पणों में इस प्रकार के अपवाद या व्यतिक्रमण नहीं होते।

---

१. तिलोय० ४।१५९४-९९,१६०१-५। २. वही, ४।१६०६। ३. वही, ४।१६१४-१६२३।

द्वितीय खण्ड

बौद्ध सृष्टिविद्या

बौद्ध सृष्टिविद्या : परिचय

बौद्ध सृष्टिदर्शन

भगवान् बुद्ध के समय मे और उनसे पहले भी आत्मा, परमात्मा, जगत्, परलोक, पाप, पुण्य, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में घोर वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क आदि हुआ करते थे। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् अनुभव किया कि इन दार्शनिक और तात्त्विक विवादों में कोई सार नहीं है। और ये सारे के सारे विवाद प्राणीमात्र में व्याप्त दुख की समस्या का कोई निदान प्रस्तुत नहीं करते। इन वाद-विवादों के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण इस दृष्टान्त में भली-भाँति समझ में आ सकता है कि जिस प्रकार किसी आदमी को विषाक्त तीर लगा हुआ हो और उसके मित्र-रिश्तेदार उसे तीर निकालने-वाले वैद्य के पास ले जावें। लेकिन वह कहे—'मैं यह तीर तबतक नहीं निकलवाऊँगा जबतक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने यह तीर मुझे मारा है वह क्षत्रिय है, वैश्य है *या शूद्र है; अथवा कहे कि जिस आदमी ने यह तीर मारा है उसका नाम क्या है ? गोत्र* क्या है ? वह लम्बे क़द का है, मझले क़द का है या छोटे क़द का है ?' तो हे भिक्षुओ, उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नही, और वह यूँ ही मर जायेगा।

बुद्ध की दृष्टि में जहर बुझे तीर को निकलवाना ही बुद्धिमानी और श्रेष्ठ आचरण है; न कि तीर के सम्बन्ध में चिन्तन करना। उनकी दृष्टि में जगत् की शाश्वतता या अशाश्वतता, जीव और देह की भिन्नता या एकता, मृत्यु के पश्चात् शाश्वतता की सत्ता या असत्ता तथा सृष्टि के रचयिता आदि का विचार करना भी उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जिस प्रकार उक्त दृष्टान्त में बाणाहत व्यक्ति का तीर सम्बन्धी चिन्तन।

इन प्रश्नों के सम्बन्ध में बुद्ध पुनः कहते हैं कि यदि उक्त प्रश्नों के उत्तर जान भी लिये जायें तो भी उनके जाननेवाले के दुखों का अन्त नहीं होता। क्योंकि उक्त ज्ञान के बाद भी उसका जन्म होता है, उसे बुढ़ापा आता है, उसकी मृत्यु होती है, उसे शोक होता है, चिन्ता होती है, परेशानी होती है। यह सब सोचकर पूर्वोक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध मौन रहे और सारे जगत् को दुख तथा उससे मुक्ति का उपदेश देते रहे।

महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन में जिन प्रश्नों को अनुत्तरित रखा वे प्रश्न अव्या-कृत—बे-कहे हुए प्रश्न कहलाते हैं। पिटक ग्रन्थों में उनकी संख्या १० से १६ तक पायी जाती है।[१] इनके सम्बन्ध में आग्रहपूर्वक पूछने पर बुद्ध कहा करते थे—तो भिक्षुओ,

१. अव्याकृत प्रश्न :

यह बातें तथागत के द्वारा बे-कही ही रहेंगी और वह मनुष्य (पूछनेवाला) यों ही मर जायेगा।

जिस प्रश्न को हमने अपने अध्ययन का विषय बनाया है उसके सम्बन्ध में भी बुद्ध ने अनेक बातों की ओर से मौन साधा है। उनके इस मौन का अर्थ उनके शिष्यों ने कई तरह से लगाया और उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार से उत्तर दिये जिसके आधार पर अनेक बौद्ध सम्प्रदायों का उदय हुआ। यहाँ हम उनकी चर्चा न करके केवल भगवान् बुद्ध के जगत् सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करेंगे।

सृष्टि का स्वरूप

महात्मा बुद्ध ने अपने चिन्तन में सदा ही मध्यममार्ग का अवलम्बन किया है। सृष्टि या जगत् के सम्बन्ध में उन्होंने यही मार्ग अपनाया है।

सृष्टि के आदि और अन्त के प्रश्नों को तो उन्होंने अव्याकृत ही रखा है। साथ ही उसके शाश्वत या अशाश्वत होने के प्रश्न भी इसी कोटि में रखे हैं। किन्तु सृष्टि या लोक के सम्बन्ध मे उन्होंने कहा है कि यह सारा जगत् 'पंचस्कन्धों' का प्रवाह मात्र है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—पंचस्कन्ध हैं। स्कन्ध का अर्थ है—राशि या समूह। ये पंचस्कन्ध निरन्तर परिवर्तनशील स्वभाव के होने के कारण प्रतिक्षण उदयव्यय को प्राप्त होते रहते हैं। लोक में जितने भी आध्यात्मिक एवं बाह्य पदार्थ है—वे सब पंचस्कन्धों से निर्मित हैं। महात्मा बुद्ध ने स्कन्धों का स्वरूप कुछ इस प्रकार बतलाया है :

(१) रूपस्कन्ध

जितना भी रूप है—चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का; चाहे अपने (देहादि के) अन्दर का हो अथवा बाहर का; चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म; चाहे बुरा हो अथवा भला; चाहे दूर हो या समीप—वह सब रूपस्कन्ध के अन्तर्गत है।[1]

पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियविषय और अविज्ञप्ति भी रूपस्कन्ध के अन्तर्गत हैं।

---

१. क्या यह लोक शाश्वत है ? २. क्या यह लोक अशाश्वत है ? ३. क्या यह लोक सान्त है ? ४. क्या यह लोक अनन्त है ? ५. क्या आत्मा तथा शरीर एक हैं ? ६. क्या आत्मा शरीर से भिन्न है ? ७. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है ? ८. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता ? ९. क्या तथागत का पुनर्जन्म होता भी है, नहीं भी होता है ? १०. क्या तथागत का पुनर्जन्म होना, और न होना, दोनों ही बातें असत्य हैं ?

टिप्पणी : अन्तिम प्रश्न के समान प्रथम ३ प्रश्नों की चार कोटियाँ करने से सब प्रश्नों की संख्या १६ हो जाती है।

१. संयुक्तनिकाय २५।२ — यत् किंचिद् रूपमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं आध्यात्मिकं बाह्यं वा औदारिकं वा सूक्ष्मं वा हीनं वा प्रणीतं वा दूरं वा अन्तिकं वा तदेकध्यमभिसंक्षिप्याऽयमुच्यते रूपस्कन्धः।

चार महाभूत—पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु तथा वायुधातु—तथा इन चारों से उत्पन्न समस्त रूप भी रूपस्कन्ध हैं। उक्त समस्त प्रकार का रूप अनन्त आकाश में प्रतिष्ठित है। आकाश अनावरण स्वभाववाला है, यहाँ रूप की अबाध गति है। यह रूप से आवृत भी नहीं होता क्योंकि यह रूप से अपगत नहीं होता। बौद्धों के अनुसार आकाश की गणना पंचस्कन्धों में नहीं की जाती वरन् उसे एक नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है जबकि पंचस्कन्ध अनित्य माने जाते हैं।[1]

(२) वेदना स्कन्ध

दुखादि का अनुभव वेदना (Sensation) है। यह अनुभव तीन प्रकार का है—सुखानुभव, दुखानुभव तथा अदुखअसुखानुभव। इसकी उत्पत्ति पंचइन्द्रियों तथा मन के साथ उनके विषयों के संस्पर्श से होती है।

रूप के समान जितनी भी वेदना है—चाहे भूतकाल की, चाहे वर्तमान की, चाहे भविष्य की, चाहे अपने अन्दर की हो अथवा बाहर की वह सब वेदनास्कन्ध के अन्तर्गत है।

(३) संज्ञास्कन्ध

संज्ञा (Perception) निमित्त का उद्ग्रहण है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुंसत्व, स्त्रीत्व, मनोज्ञत्व, अमनोज्ञत्व आदि विविध स्वभावों का उद्ग्रहण—परिच्छेद संज्ञा है।

वेदना के समान यह भी छह प्रकार की है। त्रिकालवर्ती समस्त आध्यात्मिक तथा बाह्य संज्ञा का समूह—संज्ञास्कन्ध है।

(४) संस्कार स्कन्ध

पूर्वोक्त रूप, वेदना तथा संज्ञा तथा आगे कहे जानेवाले विज्ञान स्कन्ध से भिन्न संस्कार स्कन्ध है। संस्कार (Impression) का लक्षण है—जो संस्कृत का संस्कार करता है। अर्थात् वह जो अनागत स्कन्ध पंचक का अभिसंस्करण और निर्धारण करता है।

वेदना तथा संज्ञा के समान यह भी छह प्रकार का है।

(५) विज्ञान स्कन्ध

प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति, विज्ञान (conciousness) कहलाती है। यह पूर्वोक्त प्रकार से छह प्रकार का है।

बुद्ध के अनुसार विश्व का प्रत्येक सत्त्व इसी स्कन्ध-पंचक से निर्मित है और अविद्या के कारण भवचक्र में पड़ा हुआ है।

---

१. अभि० १।५ ···तथाकाशमनावृत्तिः।
अभि० १।८ ···नित्या धर्मा असंस्कृताः।

पंचस्कन्ध क्या हैं ?

बौद्धों के पंचस्कन्धों के समान जैन भी विश्व को षड्द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से निर्मित बतलाते हैं। जैनों के अनुसार यह विश्व उक्त छह मौलिक द्रव्यों से मिलकर बना है। ये षड्द्रव्य अनादि काल से एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होकर स्थित हैं—लेकिन इनका संप्लव एक दूसरे द्रव्य में कभी नहीं होता। जबकि पुराणों में वर्णित प्रकृति, महत्, अहंकार तथा भूत एवं तन्मात्रों आदि सृष्टि-तत्त्वों का संप्लव एक दूसरे में सम्भव है। सृष्टिकाल में ये तत्त्व ब्रह्म से महद् आदि क्रम से आविर्भूत होते हैं और संहार काल में उसी में तिरोहित या विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार पुराणों के अनुसार एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ही सम्पूर्ण सृष्टिप्रपंच तथा उसके एकमेव कारण या मूलतत्त्व है—उससे भिन्न जो कुछ भी है वह अन्ततः उसी का प्रकाशन है।

महात्मा बुद्ध ने सृष्टि के घटक जिन पंचस्कन्धों का प्रवचन किया है—वे न तो जैनों के षड्द्रव्यों के समान एक दूसरे में स्वतन्त्र—मौलिक तत्त्व या मूल द्रव्य हैं और न पुराणों के समान एक दूसरे में विलीन हो सकनेवाले सृष्टि-तत्त्व। इसके विपरीत वे निरन्तर प्रवहमान विश्व के एक दूसरे पर आधारित क्षणिक स्कन्ध मात्र हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार उनकी एक अवस्था से दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है। और दूसरी अवस्था से तीसरी। इस प्रकार उनकी सन्तति अनन्त काल तक प्रवाहित होती रह सकती है। इस सन्तति के उत्पाद, व्यय तथा निरोध के कुछ नियम हैं और उन्हीं के अनुसार यह विश्व परिचालित हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धाभिमत पंचस्कन्ध किसी तत्त्व की कोटि में नहीं आते। वे न तो किसी एक तत्त्व के प्रपंच हैं और न स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले मौलिक द्रव्य। स्वयं भगवान् बुद्ध ने व्यर्थ के तात्त्विक विवाद से बचने के लिए इस प्रकार का मध्यम मार्ग अपनाया है। यदि इन तत्त्वों के किसी एक तत्त्व से निकलनेवाला माना जाये तो प्रश्न उठेगा—ऐसा क्यों हुआ ? कब हुआ ? किसकी इच्छा से हुआ ? और इसी प्रकार क्यों हुआ; अन्य प्रकार से क्यों नहीं ? और यदि इन्हें स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले मौलिक तत्त्व माना जाये तो उससे प्रश्न उठेगा कि स्वतन्त्र सत्ताक होते हुए भी ये तत्त्व आपस में क्यों मिले ? कैसे मिले ? कब मिले ? किसने मिलाये ? इत्यादि।

महात्मा बुद्ध ने तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी इन प्रश्नों को दुख की ज्वलन्त समस्या के निदान में व्यर्थ पाया और इसीलिए उन्होंने इन प्रश्नों के समाधान में कोई रुचि नहीं ली।

सृष्टि का संचालक : कर्म

बौद्धों के अनुसार इस जगत् का संचालन प्राणियों के 'कर्म' के द्वारा होता है।[1]

---

१. अभि०, पृ० ११२।७ कर्मजं लोकवैचित्र्यं।
(एनसाइक्लोपीडिया रिलीजन एंड एथिक्स जिल्द ४, पृ० १३० से उद्धृत।)

प्राणी अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार नाना गतियों में जन्म-मरण करता है। उसके देह आदि की उत्पत्ति उसके कर्म प्रभाव के कारण ही होती है। बौद्धों का यह कर्मवाद यहाँ तक तो जैन तथा पुराणसम्मत है किन्तु उसके आगे बौद्ध विद्वानों ने इसका जो विस्तार किया है वह केवल उनकी ही वस्तु है।

बौद्धों के अनुसार कर्मों के द्वारा न केवल प्राणियों के जीवन का निर्धारण होता है वरन् एक या दो या अधिक प्राणियों के कर्माधिपत्य के कारण उन-उन प्राणियों के लोकों की सृष्टि और संहृति भी होती है। यथा—आगामी जन्म में नरक जानेवाले प्राणियों के कर्माधिपत्य से नरकलोकों की, स्वर्ग जानेवाले प्राणियों के कर्माधिपत्य से स्वर्गलोकों की तथा मनुष्यादि लोकों में उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के कर्मानुसार उनके लोकों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार उन लोकों का विनाश भी अलोकों के प्राणियों के कर्म के अनुसार होता है।

इस प्रकार बौद्धों के मत से जीवन और जगत् का संचालन कर्म के द्वारा होता है। जबकि पुराणों के अनुसार इस विश्व का संचालन ब्रह्मा-विष्णु तथा शिव—इन तीन देवताओं द्वारा किया जाता है। बौद्धों के समान यद्यपि जैन भी कर्मों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तथापि कर्म के द्वारा वे केवल व्यक्तियों के जीवन-मरण आदि का संचालन मानते हैं—सम्पूर्ण जगत् का नहीं। जैनों के अनुसार यह विश्व किसी एक तत्त्व या द्रव्य या देवता के द्वारा नहीं वरन् विश्व के घटक छह द्रव्यों के स्वभाव से संचालित होता है।

●

लोक निर्देश

त्रिधातु

जिस प्रकार जैन ग्रन्थों में ऊर्ध्व-मध्य-अध: लोकमय त्रिलोक की तथा पुराणों में स्वर्ग, नरक तथा मनुष्यलोकमय त्रिलोकी या ब्रह्माण्ड की कल्पना की गयी है—इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों मे भी त्रिधातु की कल्पना की गयी है। पुराणो में इस विराट् विश्व के अन्तर्गत असंख्य ब्रह्माण्डो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है जबकि जैनग्रन्थों में एकमेव त्रिलोक को मान्यता प्रदान की गयी है। इस सन्दर्भ में बौद्धो का मत जैनों की अपेक्षा पुराणो से मिलता-जुलता है। जिसमें असंख्य त्रिधातु कल्पित किये गये है और प्रत्येक त्रिधातु में असंख्य सत्त्वों (प्राणियो) का निवास स्वीकार किया गया है।[1]

त्रिधातु या धातुत्रय के अन्तर्गत निम्नांकित तीन धातु गिने जाते है—

१. कामधातु

२. रूपधातु

३. आरूप्य धातु।

त्रिधातु सन्निवेश

उपर्युक्त त्रिधातुओ के सन्निवेश या संरचना के सम्बन्ध मे बौद्धो में दो प्रकार के मतों का उल्लेख पाया जाता है।

(१) तिर्यक् सन्निवेश : इस मत के अनुसार त्रिधातु एक दूसरे की तिर्यक् दिशाओं मे अर्थात् एक दूसरे के पूर्व-पश्चिम या उत्तर दक्षिण दिशाओ में अवस्थित हैं।

(२) ऊर्ध्व सन्निवेश . इस मत के अनुसार त्रिधातु एक दूसरे के ऊर्ध्व भाग मे स्थित हैं। अर्थात् एक धातु दूसरी धातु के ऊपर की ओर स्थित है, उसके दायें बायें की ओर नहीं।[2]

कामधातु

इस धातु के अन्तर्गत नरकलोक, प्रेतलोक, तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक तथा छह

---

१. अभि० पृ० २६४

"धातुत्रय, आकाश के तुल्य अनन्त हैं। यद्यपि नवीन सत्त्वों का उत्पाद न हो, यद्यपि असंख्य बुद्ध सत्त्वों को विनीत करें और उनको निर्वाण लाभ करावें तथापि असंख्य धातुओं के सत्त्वों का क्षय कभी नहीं होता।"

२. अभि०, पृ० २६४।

प्रकार के कामावचर देवताओं का लोक तथा इन लोकों के निवासी समाहित हैं।[1] बुद्धघोस के अनुसार कामधातु में असुर तथा उनका असुरलोक भी समाहित है।[2]

नरकलोक में आठ स्थान, मनुष्यलोक में चार द्वीपस्थान, एक प्रेतस्थान, एक तिर्यक्स्थान तथा छह देवस्थान—इस प्रकार कुल २० स्थान कामधातु में अन्तर्भुक्त हैं।

चूँकि इस धातु के निवासी सत्त्वों में आहार तथा मैथुन की कामना पायी जाती है इसलिए इस धातु को कामधातु कहते हैं तथा इसके निवासियों को कामभूमिक या कामावचर।

रूपधातु[3]

कामधातु के ऊर्ध्वभाग में रूपधातु है। इसमें १७ स्थान हैं।[4] इन स्थानों में १७ प्रकार के रूपावचर देवता निवास करते हैं। उसके नाम तथा ध्यानभूमियाँ इस प्रकार हैं।

देवता	ध्यानलोक
१. ब्रह्मकायिक २. ब्रह्म पुरोहित ३. महाब्रह्मा	प्रथम ध्यानलोक (ब्रह्मलोक)
४. परीत्ताभ ५. अप्रमाणाभ ६. आभास्वर	द्वितीय ध्यानलोक
७. परीत्तशुभ ८. अप्रमाणशुभ ९. शुभकृत्स्न	तृतीया ध्यानलोक
१०. अनभ्रक ११. पुण्यप्रसव १२. बृहत्फल	चतुर्थ ध्यानलोक
१३. अवृह १४. अतप १५. सुदृश १६. सुदर्शन १७. अकनिष्ठ	चतुर्थ ध्यानलोक (शुद्धावास)

आरूप्य धातु

इस धातु में रूप का अभाव होने से इसे आरूप्य धातु कहा जाता है। पुनश्च इस धातु में स्थान नहीं है।[5] अर्थात् रूपावचर देवलोक, मनुष्यलोक, नरकलोक-जैसे कोई स्थान विशेष इस धातु में नहीं है। बल्कि यह धातु रूपधातु तथा कामधातु में यत्र-तत्र

---

१. अभि० ३।१ — नरकप्रेततिर्यञ्चो मानुषाः षड् दिवौकसः।
कामधातुः स नरकद्वीपभेदेन विंशतिः॥

छह कामावचर देवता : १. चातुर्महाराजिक, २. त्रायस्त्रिंश, ३. याम, ४. तुषित, ५. निर्माणरति, ६. परनिर्मितवशवर्तिन्

२. अत्थसालिनी. ६२

३. रूपधातु : इस धातु के देवता गन्ध और रस से विरक्त रहते हैं। किन्तु उनमें रूपासक्ति पायी जाती है इसलिए वे रूपावचर तथा उनका लोक रूपधातु कहलाता है।

४. अभि० ३।२ — ऊर्ध्वं सप्तदशस्थानो रूपधातुः।

५. अभि० ३।३ — आरूप्यधातुरस्थानः उपपत्त्या चतुर्विधः।
निकायं जीवितं चात्र निश्रिता चित्तसंततिः॥

बिखरा हुआ है। "जिस स्थान में समापत्ति (जो आरूप्योपपत्ति का उपपाद करती है) से समन्वागत आश्रय का मरण होता है उस स्थान में उक्त उपपत्ति की प्रवृत्ति होती है और उस उपपत्ति के अन्त में अन्तरा भव का उत्पाद होता है जो (कामधातु या रूपधातु में) जन्मान्तर ग्रहण करता है।[1]

उपपत्तिवश आरूप्य धातु चार प्रकार की है—

१. आकाशानन्त्यायतन
२. विज्ञानानन्त्यायतन
३. आकिंचन्यायतन
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (भवाग्र)।

ये चारों आयतन एक दूसरे से क्रमशः ऊर्ध्व हैं किन्तु इनमें स्थान या देशकृत उत्तर या अधर भाव नहीं है।

इस धातु में रूप का अभाव होने से सत्त्वों की चित्तसन्तति रूपावचरों की भाँति न तो रूप पर आश्रित है और न कामावचरों के समान कामभोग पर। वरन् उनकी चित्तसन्तति निकाय और जीवितेन्द्रिय पर निःश्रित है।

पाँच गतियाँ

धातुत्रय में जितने भी प्राणी हैं उनका वर्गीकरण पाँच गतियों में किया जा सकता है।[2]

१. नरकगति
२. प्रेतगति
३. तिर्यक्गति
४. मनुष्यगति
५. देवगति

उक्त पाँच गतियों में से प्रथम चार गतियाँ कामधातु में व्यवस्थित हैं। देवगति भी आंशिक रूप से कामधातु में आती है। शेष रूपावचर तथा आरूप्य देवता देवगति में व्यवस्थित हैं।

बौद्धों के समान जैन तथा पुराण ग्रन्थ भी उक्त गतियों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

चार योनियाँ

उक्त पाँच गतियों के सभी सत्त्व चार प्रकार से उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के प्रकार को योनि कहते हैं। योनियाँ चार हैं—

१. अण्डज : हंस, क्रौंच, शुक, सारिका आदि पक्षीगण अण्डे से उत्पन्न होने के कारण अण्डज कहलाते हैं।

---

१. अभि०, पृ० २६०
अभि०, पृ० २६८ (पादटिप्पणी)
"आरूप्यधातु के भवों का उत्पाद च्युतिदेश (आरूप्यग जहाँ कहीं भी च्युत होते हैं—चाहे वह विहार हो, वृक्षमूल हो, चतुर्थध्यान भूमि हो, उसी स्थान में वह आकाशानन्त्यायतनादि भव में उत्पन्न होते हैं) में ही होता है।"
२. अभि० ३।४ नरकादिस्वनामोक्ता गतयः पञ्च...।

२. जरायुज : गाय, अश्व, शूकर, हाथी तथा मनुष्यादि प्राणी माता की कुक्षि से जरायु से आवेष्टित उत्पन्न होते हैं। उनकी संज्ञा जरायुज है।

३. संस्वेदज : कृमि, कीट, पतंगादि जीव पृथ्वी आदि महाभूतों के संस्वेद से उत्पन्न होते हैं अतः वे संस्वेदज कहलाते हैं।

४. उपपादुक : देव नारक तथा अन्तराभव—ऐसे सत्त्व हैं जो सकृत् उत्पन्न होते हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ अविकल और अहीन होती हैं।

मनुष्य और तिर्यंचों की उत्पत्ति उक्त चारों प्रकार से सम्भव है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच—अण्डज, जरायुज, संस्वेदज तथा उपपादुक हो सकते हैं। प्रेतों को मनुष्य के समान जरायुज तथा देवताओं के समान उपपादुक भी माना जाता है।[1]

बौद्धों के समान जैन भी उक्त गतियों तथा योनियों का अस्तित्व मानते हैं। जैनों के सम्मूर्च्छन जन्म की तुलना बौद्धों के संस्वेदज से तथा बौद्धों के उपपादुक की तुलना जैनों के उपपाद जन्म से की जा सकती है। बौद्ध और जैन—दोनों के अनुसार उपपादुक शरीर मरण काल में स्वयमेव अन्तर्धान हो जाता है उसके दाहादि संस्कार की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह जिस प्रकार सकृत् उत्पन्न होता है—वैसे ही निधनोपरान्त विलीन हो जाता है।

लोक योजना

बौद्ध ग्रन्थों में लोकधातु को कामधातु आदि धातुत्रय में विभक्त किया गया है। उनके इस विभाजन का आधार है—धातुत्रय में पंचस्कन्धों का प्रभाव तथा ध्यानभूमियों का उत्कर्ष।

कामधातु, रूपस्कन्ध से प्रभावित है और उसमें यद्यपि चारों प्रकार के ध्यान सम्भव हैं तथापि वहाँ के सत्त्वों में कामवितर्क की प्रधानता रहती है।

रूपधातु, वेदनास्कन्ध से प्रभावित है और वहाँ पर चारों प्रकार के ध्यान स्थान भेद से सम्भव हैं।

आरूप्यधातु के प्रथम ३ प्रकार संज्ञास्कन्ध से प्रभावित है और वहाँ चतुर्थध्यान होता है। किन्तु आरूप्यधातु का चतुर्थ प्रकार मात्र संस्कार से प्रभावित है और वहाँ पर केवल चतुर्थध्यान होता है।[2]

लोक संवर्त

जिस प्रकार सृष्टि या लोक की रचना में ध्यान की उत्कृष्टता का मानदण्ड

---

१. अभि० ३।८-९ चतस्रो योनयस्तत्र सत्त्वानामण्डजादयः ॥
चतुर्धा नरतिर्यञ्चो नारका उपपादुकाः ।
अन्तराभवदेवाश्च प्रेता अपि जरायुजाः ॥

२. अभि० ३।२।

व्यवहृत किया गया है उसी प्रकार लोक के संवर्तन (प्रलय) में भी ध्यान के बाह्य अपक्षालों को हेतु माना गया है।

प्रथमध्यानलोक अग्नि से विनष्ट होता है। प्रथमध्यान का अपक्षाल अग्नि है जो विचार वितर्क के रूप में एक ओर तो प्राणियों के चित्त को दग्ध करता है तो दूसरी ओर प्रलय काल में प्रचण्ड अग्नि के रूप में प्रथमध्यानलोक को नष्ट करता है।

द्वितीयध्यानलोक जल से विनष्ट होता है। द्वितीयध्यान का अपक्षाल जल है जो प्रीति के रूप में सत्वों में निवास करता है तथा प्रलयकालमें जलप्रलय द्वारा द्वितीयध्यान-लोक को विलीन करता है।

तृतीयध्यानलोक वायु से विकीर्ण होता है। तृतीयध्यान का अपक्षाल वायु है। जो श्वास-प्रश्वास के रूप में प्राणियों में रहता है और प्रलयकाल में महावत का रूप धारण करके तृतीयध्यानलोक को विकीर्ण करता है।

चतुर्थध्यान आध्यात्मिक अपक्षाल से रहित तथा अकम्प है। अतः वह प्रलयकाल में नष्ट नहीं होता। किन्तु उसके विमान उसके सत्त्वों के साथ उदय-व्यय को प्राप्त होते रहते है।[1]

लोक विस्तार

बौद्धों के अनुसार लोकधातु अनन्त है।[2] आगे के पृष्ठों में जिन सूर्य, चन्द्र, चतुर्द्वीप, मेरु, कामदेवों के निवास तथा ब्रह्मलोक का वर्णन किया गया है—वह सामूहिक रूप से लोक-धातु कहा जाता है। इस प्रकार के १००० लोक धातुओं के समूह को सहस्रधा लोकधातु या चूड़िक साहस्र कहा जाता है। पुनश्च १००० चूडिक साहस्र लोकधातुओं का मध्यमलोकधातु या द्विसाहस्र लोकधातु बनता है। इसी प्रकार १००० मध्यमलोकधातुओं का महालोकधातु या त्रिसाहस्र लोकधातु बनता है।[3]

इस प्रकार के चूड़िक, मध्यम तथा महालोकधातुओं के प्रकार के अनन्त लोकधातु इस विराट् विश्व में पाये जाते हैं। ये लोकधातु अपने-अपने कल्प के अनुसार उदय-व्यय को प्राप्त होते रहते हैं।

देशमान तथा कालमान

बौद्धों के यहाँ प्रचलित देशकालमान की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है।[4]

---

१. अभि०, पृ० ४२३-४२४।

२. अभि०, पृ० ४१३ पंक्ति ६ "लोकधातु अनन्त हैं।"

३. अभि० ३।७३-७४ चतुर्द्वीपचन्द्रार्कमेरुकामदिवौकसाम्।
ब्रह्मलोकसहस्रं च साहस्रश्चूडिको मतः ॥७३॥
तत्साहस्रं द्विसाहस्रो लोकधातुस्तु मध्यमः।
तत्सहस्रं त्रिसाहस्रः समसंवर्तसंभवः ॥७४॥

४. अभि० ३।८६-८९।

देशमान	कालमान
७ यव = १ अंगुलिपर्व	६० लव = १ मुहूर्त
२४ अंगुलि = १ हाथ	३० मुहूर्त = १ अहोरात्र
४ हाथ = १ धनुष	३० अहोरात्र = १ मास
५०० धनुष = १ क्रोश	
८ क्रोश = १ योजन	१२ मास + ऊनरात्र = १ वर्ष या संवत्सर

मनुष्यलोक

उत्पत्ति

सत्त्वों के कर्म के आधिपत्य से नीचे वायुमण्डल की उत्पत्ति होती है, जो आकाश में प्रतिष्ठित है।[1] इसका वेधन १६ लाख योजन है। यह वायुमण्डल अत्यन्त कठोर है और वज्र से भी क्षतिग्रस्त नहीं होता। इस वायुमण्डल के अन्तर्गत जलमण्डल है जिसका व्यास ११ लाख २० हजार योजन है। यह जलमण्डल सत्त्वों के कर्माधिपत्य से वर्षा के रूप में बरसता है।[2] इस जलमण्डल के ऊपर ३ लाख २० हजार योजन व्यासवाला भूमण्डल है।[3]

भूमण्डल

उपर्युक्त कांचनमयी भूमि पर ९ महापर्वत प्रतिष्ठित है। उनके मध्य में चतूरत्न-मय मेरु है। मेरु के चारों ओर स्वर्णमय सात पर्वत हैं। उन पर्वतों का आकार चक्राकार है। उन पर्वतों के नाम हैं :—

१. युगन्धर
२. ईषाधर
३. खदिरक
४. सुदर्शनगिरि
५. अश्वकर्ण
६. विनितक
७. निमिंधरगिरि।

जैन और पुराण ग्रन्थ भी उपर्युक्त प्रकार से भूमण्डल की संरचना मानते हैं। तीनों ही मान्यताओं के अनुसार भूमण्डल के केन्द्र में मेरु या सुमेरु नामक पर्वत है तथा वह वलयाकार सप्तपर्वतों तथा समुद्रों से घिरा हुआ है। बौद्धों के अनुसार उपर्युक्त सात पर्वतो के पश्चात् चार द्वीप हैं जो कि चक्रवाड नामक लोह निर्मित पर्वत से घिरे हुए हैं।[4]

---

१. अभि०, पृ० ३६३ की पादटिप्पणी १. से उद्धृत।
 क. दीघ० २।१०७ अय आनन्द महापठवी उदके पतिट्ठिता। उदकं वाते पतिट्ठितं। वातो आकासट्ठो होति।
 ख. "पृथ्वी भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठिता। पृथ्वी ब्राह्मण अम्मण्डले प्रतिष्ठिता। अम्मण्डलं भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितं। वायौ प्रतिष्ठितं। वायुर्भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितः। आकाशे प्रतिष्ठित'। आकाशं भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितं। अतिसरसि महाब्राह्मण अतिसरसि महाब्राह्मण। आकाशं ब्राह्मण अप्रतिष्ठितं अनालंबन इति विस्तरः।"

२. अभि०, पृ० ३६४ (१४०)। ३. अभि०, पृ० ३६४। ४. अभि०, पृ० ३६५-३६६।

नव पर्वत

१. मेरु : मेरु पर्वत ८० हज़ार योजन जल में मग्न है और इतना ही जल से ऊपर निकला हुआ है। मेरु के अतिरिक्त अन्यपर्वतों की अर्ध-अर्ध हानि होती है। पर्वतों की ऊँचाई और चौड़ाई समान है।
२. युगन्धर : इस पर्वत की ऊँचाई ४० हज़ार योजन है।
३. ईषाधर : यह पर्वत २० हज़ार योजन ऊँचा है।
४. खदिरक : इसकी ऊँचाई १० हज़ार योजन है।
५. सुदर्शन : यह पर्वत ५ हज़ार योजन ऊँचा है।
६. अश्वकर्ण : इसकी ऊँचाई २½ हज़ार योजन है।
७. विनितक : यह पर्वत १¼ हज़ार योजन ऊँचा है।
८. निमिन्धर : इस पर्वत की ऊँचाई मात्र ६२५ योजन है।
९. चक्रवाड : यह पर्वत निमिन्धर से आधा अर्थात् ३१२½ योजन ऊँचा है।

आधुनिक भूगोल में उक्त नाम तथा ऊँचाइयोंवाले पर्वतों में से किसी एक की भी सत्ता नहीं है। इस पर्वतों की आकृति संरचना, विस्तार आदि सभी कुछ काल्पनिक हैं।

सीता

मेरु से लेकर निमिन्धर पर्वतों के अन्तराल मे सात सीता अर्थात् आभ्यन्तरिक समुद्र हैं। इनमें से प्रथम ८० हज़ार योजन है। अन्य सीताओं की क्रमशः अर्ध-अर्ध हानि होती है। इन सप्त सीताओं में शीतल, लघु, सुस्वादु जल भरा हुआ है।

समुद्र

निमिन्धर और चक्रवाड पर्वत के अन्तराल में जो जल है वह बाह्यमहोदधि (समुद्र) है। इसका आयाम ३ लाख ४० हज़ार योजन है।

महाद्वीप

बाह्य समुद्र में मेरु पर्वत के ४ पार्श्वों के अनुरूप चार महाद्वीप हैं।[1] उनके नाम हैं—

१. जम्बूद्वीप
२. पूर्वविदेह
३. गोदानीय
४. उत्तर कुरु।

अन्तरद्वीप

पूर्वोक्त चार महाद्वीपों के पार्श्व में ८ अन्तरद्वीप हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. देह
२. विदेह
३. कुरु
४. कौरव
५. चामर
६. अवर चामर
७. शाठ
८. उत्तर मन्त्रिन्

---

१. उपर्युक्त द्वीप, समुद्र, पर्वतों आदि के वर्णन के लिए देखिए · अभि०, पृ० ३६६ से ३७० ।

इन समस्त द्वीप-द्वीपान्तरों में मनुष्यगण निवास करते हैं। केवल चामर-अन्तर-द्वीप में राक्षसों का निवास है।

जम्बूद्वीप

मेरुपर्वत के दक्षिण की ओर जम्बूद्वीप स्थित है। इसका आकार शकट के समान है। इसके तीन पार्श्व २००० योजन के हैं। इस द्वीप में उत्तर की ओर जाकर कीड़े के आकार के तीन कीटाद्रि (पर्वत) हैं। उनके उत्तर में पुनः ३ कीटाद्रि हैं। अन्त में हिमवत् पर्वत है। इस पर्वत के उत्तर में अनवतप्त सरोवर (मानसरोवर) है। जिससे गंगा, सिन्धु, वंक्षु तथा सीता—ये चार नदियाँ निकलती हैं। यह सरोवर ५० योजन चौड़ा है। इसके सन्निकट जम्बूवृक्ष है जिसके नाम से यह द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है।

जम्बूद्वीप के मनुष्यों का प्रमाण ३½ या ४ हाथ है। उनकी आयु १० वर्ष से लेकर कल्पानुसार अमित आयुपर्यन्त बढ़ती-घटती रहती है।

उत्तर कुरुद्वीप

यह द्वीप मेरु के उत्तर दिशा की ओर स्थित है। इसका आकार चतुरस्र (चौकोर) है। इसका प्रत्येक पार्श्व २००० योजन है। यहाँ के मनुष्य नियतायु होते हैं और वह आयु १००० वर्ष है। इस द्वीप के निवासी ३२ हाथ ऊँचे होते हैं।

गोदानीय द्वीप

यह महाद्वीप मेरु के पश्चिमी पार्श्व में स्थित है। इसका आकार पूर्णचन्द्राकार है। यहाँ के निवासी ५०० वर्ष आयु वाले तथा १६ हाथ ऊँचे होते हैं।

पूर्वविदेह द्वीप

यह द्वीप मेरुपर्वत के पूर्वी पार्श्व में स्थित है। इसका आकार अर्धचन्द्र के समान है। यहाँ के निवासी ८ हाथ लम्बे तथा २५० वर्ष की दीर्घायुवाले होते हैं।

आधुनिक भूगोल की दृष्टि से उक्त द्वीपों तथा उनके निवासियों की आयु तथा ऊँचाई पूर्णतः काल्पनिक और यथार्थ से परे है। इस समय पृथ्वी पर जितने भी द्वीप-द्वीपान्तर हैं उनमें उक्त प्रकार के कोई भी तथ्य नहीं पाये जाते।

मानव सभ्यता का उत्कर्ष और अपकर्ष

जैनग्रन्थों तथा पुराण ग्रन्थों के समान बौद्ध साहित्य में भी मानव सभ्यता के विकास के सम्बन्ध में अत्यन्त रोचक वर्णन प्राप्त होते हैं। जैनों के भोगभूमि तथा कर्मभूमि सम्बन्धी वर्णनों तथा पुराणों के आद्यकृतयुग सम्बन्धी वर्णनों से बौद्धवर्णन सादृश्य रखते हैं।

अपकर्ष कल्प

प्रथम कल्प के मनुष्यों की आयु अमित थी और वे रूपावचर देवताओं के

सदृश सर्वांग सुन्दर, स्वयंप्रभ तथा आकाशचारी थे। वे प्रीतिभक्ष थे अर्थात् रस-गन्ध-मय स्थूल आहार ग्रहण नहीं करते थे। कालान्तर में पृथ्वी से मधु के समान सुस्वादु रस उत्पन्न हुआ। जिसका सेवन किसी लोभी प्रकृति के सत्त्व ने किया। पश्चात् अन्य सत्त्वों ने उसका अनुसरण किया। इस स्थूल आहार सेवन से उनके शरीर की प्रभा जाती रही और उनके शरीर स्थूल तथा भारी हो गये। इससे अन्धकार हुआ लेकिन तबतक सूर्य और चन्द्रमा का प्रादुर्भाव हो चुका था।

कालान्तर में सत्त्वों की रसलोलुपता से पृथ्वी का प्राकृतिक मधुर रस अन्तर्हित होने लगा। तभी पृथ्वीपर्पटक (पपड़ी) का प्रादुर्भाव हुआ। रसलोलुप सत्त्व उसे भी खाने लगे। किन्तु यह पर्पटक भी शीघ्र समाप्त हो गया और वनलता का प्रादुर्भाव हुआ। वह भी सत्त्वों का भक्ष्य बनकर समाप्त हो गयी। उसके अनन्तर पृथ्वी पर अपनेआप शालि (चावल) उत्पन्न हुए। शालि का स्थूल आहार करने से सत्त्वों को मल-मूत्र विसर्जित होने लगा। इसके साथ ही सत्त्वों की कामेन्द्रियाँ अस्तित्व में आयीं। तभी से स्त्रीपुरुष मैथुन द्वारा कामसुख प्राप्त करने लगे। इसी समय से कामावचर सत्त्व भी कामग्रह से पीड़ित हुए।

पहले तो वे शालिभोजी मानव शालि को नित्य काटते और भोजन के रूप में ग्रहण करते थे, किन्तु उसका संग्रह नहीं करते थे। कालान्तर में आलस्य के कारण शालि संग्रह का प्रचलन हुआ। और लोगों में स्वामित्व तथा परिग्रह की वृत्ति उत्पन्न हुई। निरन्तर उपभोग से शालि की वृद्धि रुक गयी। तब मनुष्यों ने क्षेत्रों को बाँटा और उनके स्वामी बन गये। लेकिन लोभवशात् शीघ्र ही छीना-झपटी शुरू हो गयी और इसे रोकने के लिए $\frac{1}{6}$ भाग पर क्षत्रप की नियुक्ति हुई। जो क्षत्रिय कहलाये। इस प्रकार राजवंश की स्थापना हुई। इसी समय जिन लोगों ने गृहपति के जीवन का त्याग किया वे ब्राह्मण कहलाये।

शनैः-शनैः अपराध बढ़ते गये और लोगों ने दण्डित किये जाने पर झूठ बोलना शुरू कर दिया। पश्चात् कर्मपथ की अधिकता से प्राणातिपात—हिंसा का प्रादुर्भाव हुआ।[१] इस प्रकार रसलोलुपता और आलस्य के कारण मानव समाज में परिग्रह, स्तेय (चोरी), असत्य तथा हिंसावृत्ति का विकास हुआ और यही पापवृत्तियाँ उसके पतन का कारण बनी।

मानवता का अन्त

कल्प के अन्त में ७ दिन तक लोग एक दूसरे को शिकार करके मार डालते हैं। पश्चात् ७ माह ७ दिन के लिए महाव्याधियाँ फैलती हैं। और अन्त में ७ वर्ष ७ माह ७ दिन का दुर्भिक्ष पड़ता है—जिससे समस्त सत्त्व काल-कवलित हो जाते हैं।[२]

---

१. अभि०, प० ४१६-४१७। २. अभि० ३।९९

उत्कर्ष कल्प

मानवता के उपर्युक्त दुखद अन्त की पृष्ठभूमि से ही उत्कर्ष का नया सूर्य उदित होता है। तब सत्वों की आयु, सामर्थ्य, देह आदि की समृद्धि में क्रमानुसार वृद्धि होती है और वे पुनः १०० से ८० हजार वर्ष के सुदीर्घ जीवन को क्रमशः प्राप्त करते हैं।

तिर्यक् लोक

तिर्यक् लोक के ३ स्थान हैं—भूमि, जल और वायु। उनका मूलस्थान महोदधि है। इसके अतिरिक्त अनेक तिर्यक् सत्त्व मनुष्यों के साथ भी रहते हैं।[१] तिर्यक् जन्तुओं में सभी प्रकार के पशु, पक्षी, जलचर और कीट-पतंग गिने जाते हैं।

तिर्यक् जीवों की आयु अधिक से अधिक एक कल्प है।[२]

तिर्यंचों के आकार-प्रकार असंख्य प्रकार के हैं जो कल्पानुसार घटते और बढ़ते रहते हैं।

प्रेतलोक

प्रेतों का निवास स्थान जम्बूद्वीप के ५०० योजन नीचे है। यह स्थान ५०० योजन गहरा और इतना ही लम्बा-चौड़ा है। इस प्रेतलोक के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रेतगण स्फुट रूप से निवास करते हैं।

प्रेतों का राजा यम कहलाता है। प्रेतों की आकृति एक दूसरे से बहुत भिन्न होती है। इनमें से बहुत से प्रेत ऋद्धि के प्रभाव से युक्त होते हैं और उनका अनुभाव देवताओं के समान होता है।[3]

प्रेतों की आयु ५०० वर्ष है। किन्तु उनका अहोरात्र एक मानव वर्ष के तुल्य होता है।[४]

नरक लोक

स्थिति

जम्बूद्वीप के २० हजार योजन नीचे अवीचि नामक महानरक है। जिसकी ऊँचाई तथा चौड़ाई २० हजार योजन तथा भूमितल जम्बूद्वीप के तल से ४० हजार योजन नीचे है।[५]

नरकों में निरन्तर दारुण दुख व्याप्त रहता है। बध-बन्धन आदि के अतिरिक्त

---

१. अभि०, पृ०३७८। २. अभि० ३।८३ कल्पं तिरश्चां प्रेतानामासाह शतपञ्चकम्।
३. अभि०, पृ० ३७८। ४. अभि०, पृ० ३६३.
५. अभि० ३।५८ अधः सहस्रैर्विंशत्या तन्मात्रोऽवीचिरस्य हि।
तदूर्ध्वं सप्तनरकाः सर्वेऽष्टौ षोडशोत्सदाः ॥५८

वहाँ पर शीत और उष्णता की भयंकर अवस्थाएँ प्राकृत रूप से उपलब्ध रहती हैं जिनसे वहाँ के प्राणी दग्ध होते रहते हैं।

उष्ण नरक

अवीचि नरक के ऊपर-ऊपर की ओर क्रमशः प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र तथा संजीव नामक नरकस्थान हैं। इन आठ नरक स्थानों में महान् उष्णता विद्यमान रहती है।

शीत नरक

इनके अतिरिक्त अर्बुद, निरबुद, अटट, हहव, हुहुव, उत्पल, पद्म तथा महापद्म नामक आठ शीत नरक और है।[1] जिनमें अटट, हहव आदि अव्यक्त शब्दों को उच्चारित करते हुए नारकी सत्त्व भयंकर शीत वेदनाजन्य कष्ट उठाते हैं।

यातना-स्थान : उत्सद

पूर्वोक्त अवीचि आदि नरकों में १६-१६ यातना स्थान हैं—जिन्हें उत्सद कहा जाता है। ये उत्सद मूलरूप से चार हैं—कुलूल, कुणप, क्षुरमार्ग और वैतरणी नदी। प्रत्येक नरक में चार महाद्वार है जिनमें से प्रत्येक द्वार पर उक्त चारों उत्सद पाये जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक नरक में १६ उत्सद है।[2]

कुलूल उत्सद

उष्ण नरकों में कुलूल नामक आग की भट्ठियाँ होती हैं। जिनमें नारकी सत्त्वों को खड़ा करके जलाया जाता है। दाह के बाद वे पुनः जन्म लेते हैं और तब फिर से जलाये जाते है।

कुणप उत्सद

उष्ण नरकों में कुणप नामक गूथकर्दम है। जिसमें रहनेवाले सूचीमुख (सुई के समान मुँहवाले) जल-जन्तु नारकी सत्त्वों की अस्थियों तक का भेदन कर डालते हैं।

क्षुरमार्ग उत्सद

नरकों में क्षुरमार्ग भी है। जिनपर पैर रखने मात्र से प्राणी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। इसी प्रकार वहाँ पर असिपत्र वन तथा अयःकण्टक वन भी हैं जिनमें प्रवेश से महादुख होता है।

वैतरणी उत्सद

नरकों के द्वार पर वैतरणी या क्षारोदका नामक नदी है। जिसमें जलती हुई

---

१. अभि० ३।५६ ···शीता अन्येऽष्टार्बुदादयः ३।५९

२. अभि०, पृ० ३७५।

राख और खौलता हुआ पानी भरा रहता है। इस भयंकर नदी में आयुधधारी पुरुषों द्वारा नारकी सत्त्व बार-बार डुबाये जाते हैं। यह नदी परिखा के समान नरकस्थान को घेरे रहती है।[1]

बौद्धों का उपर्युक्त नरक वर्णन जैन तथा पुराण ग्रन्थों में भी महान् भयंकरता के साथ प्राप्त होता है। भले ही उनमें नरक स्थलों की संख्या, नाम, विस्तार आदि के बारे में मतवैभिन्न्य रहता हो।

प्रादेशिक नरक

पूर्वोक्त उष्ण एवं शीत नरकों के अतिरिक्त जम्बूद्वीप के भूमितल पर पर्वत, घाटियों आदि में भी प्रत्यन्तिक या प्रादेशिक नरक विद्यमान हैं। जहाँ पर नारकी सत्त्व स्वकर्मानुसार दुख भोगते हैं। जम्बूद्वीप के अतिरिक्त अन्य द्वीपों पर नरक स्थान नहीं हैं।

बौद्धग्रन्थों के अनुसार इन प्रादेशिक नरकों की उत्पत्ति एक, दो या अनेक सत्त्वों के कर्माधिपत्य से होती है।[2]

नरक निवासी

सभी नरकों के निवासी सत्त्व मनुष्याकार होते हैं। ये सभी नरकस्थान सत्त्वों के कर्माधिपत्य से उत्पन्न होते हैं। इन नरकों में कुछ बौद्ध यम, यमदूत तथा नरकपालों की सत्ता भी मानते हैं जो कि नारकियों को दुख पहुँचाते है।[3]

उत्सदों में निवास १० हजार वर्षों का होता है।

संजीवादि ६ नरकों में सत्त्वों की आयु कामदेवों के तुल्य होती है।

प्रतापन में आयु $\frac{1}{2}$ अन्तरकल्प तथा अवीचि में एक अन्तरकल्प आयु होती है।[4]

शीत नरकों में आयु का निर्देश उपमा द्वारा प्रतिपादित किया गया है जो कि असंख्येय है।

स्वर्गलोक

देवताओं का लोक, स्वर्ग लोक है।

बौद्ध ग्रन्थों में देवताओं का निवास धातुत्रय में व्याप्त बतलाया गया है। कामधातु में ६ प्रकार के देवता, रूपधातु में १७ प्रकार के देवता तथा आरूप्यधातु में ४ प्रकार के देवता निवास करते हैं। धातुक्रम से उनका स्वरूप इस प्रकार है।

---

१. अभि०, पृ. ३७३-३७४ उत्सदों के वर्णन के लिए। २. अभि०, पृ. ३७७।
३. अभि०, पृ. ३७५-३७७ व्याख्या और पादटिप्पणी।
४. अभि० ३।८२,८३ कामदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।
संजीवादिषु षट्स्वायुस्तैस्तेषां कामदेववत्॥
अर्धं प्रतापनेऽवीच्यावन्तः कल्पं परं पुनः।

[१] कामधातु के देवता और उनका लोक

कामधातु के देवताओं में चूँकि आहार और मैथुन सम्बन्धी काम पाया जाता है इसलिए उन्हें कामदेव कहा जाता है। उन्हें कामावचर, कामभुज् तथा कामप्रभावित भी कहा जाता है।

कामावचर देवता छह प्रकार के हैं :

१. चातुर्महाराजिक	४. तुषित
२. त्रायस्त्रिंश	५ निर्माणरति
३. याम	६. परनिर्मितवशवर्तिन्।

इनमें से प्रत्येक प्रकार के देवताओं के नायक या राजा होते हैं। जिनके अधीन उस जाति के देवगण रहते हैं। पुनः इन देवताओं में वर्ण, लिंग, वस्त्राभरण तथा संस्थान आदि की भिन्नता होती है। उन्हें भी मनुष्यों के समान सुख-दुख का अनुभव होता है। वे भोजन तथा मैथुन के सम्बन्ध में भी मनुष्यों के समान आचरण करते हैं। किन्तु उनका जन्म गर्भ या प्रसव से न होकर उपपाद विधि से होता है।

उपपाद विधि में किसी देवी या देवता के घुटने आदि से ५-१० वर्ष की आयु के बालक या बालिका के तुल्य देवपुत्रों का जन्म होता है। वे जन्म से ही वस्त्राभरण युक्त होते हैं और शीघ्र नवयौवन सम्पन्न हो जाते हैं। भाषा व्यवहार में भी वे जन्म से ही पटु होते हैं।[१]

अधर कामदेवों की आयु ५०० वर्ष होती है किन्तु उनका एक दिन-रात पचास मानव वर्षों का होता है। ऊर्ध्व देवों का अहोरात्र और आयु द्विगुण-द्विगुण है।[२]

इन देवताओं में चातुर्महाराजिकों की ऊँचाई $\frac{1}{4}$ क्रोश होती है। अन्य देवताओं के शरीरों में क्रमशः पादवृद्धि होती जाती है। इस प्रकार परनिर्मितवशवर्तिन् देवता १$\frac{1}{2}$ क्रोश ऊँचे होते है।[३]

कामदेवताओं के निवासस्थल

चातुर्महाराजिक देवता सूर्य-चन्द्र-तारक आदि ज्योतिर्मय विमानों में निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त वे महापर्वतों पर भी वास करते हैं। वहाँ पर उनके ग्राम-नगर बसे हुए हैं।

त्रायस्त्रिंश देवता मेरु पर्वत के शिखर पर निवास करते हैं। इनके अतिरिक्त शेष देवता विमानों में निवास करते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में चातुर्महाराजिकों के निवासस्थल—ज्योतिर्लोक तथा त्रायस्त्रिंशों के निवास—मेरु शिखर का वर्णन निम्नांकित रूप में प्राप्त होता है।

---

१. अभि० ३।७० तथा पृ० ३८५-३८६। २. अभि० ३।७९-८०। ३. अभि० ३।७६।

ज्योतिश्चक्र

सूर्य और चन्द्र मेरु के अर्ध में हैं। उनकी गति युगन्धर पर्वत के शिखर के समतल में होती है। सूर्यबिम्ब ५१ योजन तथा चन्द्रबिम्ब १६ योजन का है। तारकों में सबसे छोटा विमान १ क्रोश तथा सबसे बड़ा विमान १६ योजन का है।

चारों द्वीपों में केवल एक सूर्य और एक चन्द्रमा होता है। जो उन्हें एक साथ प्रकाशित नहीं करते। विभिन्न द्वीपों में उनके उदयास्त के समय अलग-अलग हैं।

इन सूर्य-चन्द्र तारकों को गति वायु द्वारा मिलती है। इस वायु की उत्पत्ति सत्त्वों के कर्माधिपत्य से होती है। ये सूर्यादि ज्योतिर्पिण्ड मेरु पर्वत के चारों ओर परिभ्रमण करते हैं।[१]

मेरुशिखर

मेरु तट के मध्य में त्रायस्त्रिंशों के देवराज शक्र की सुदर्शन नामक राजधानी है। नगर के मध्य में देवराज का वैजयन्त नामक प्रासाद है। नगर के बाहर चार उद्यान हैं। पारिजात से सुवासित इन उद्यानों में देवगण क्रीड़ा करते हैं।

नगर के पूर्वोत्तर में देवों का कामरतिस्थान—पारिजातक है। और दक्षिण में सुधर्मा नामक देव-सभा। जहाँ पर देवतागण सत्त्वों के कृत्यों की चर्चा करते हैं।[२]

बौद्धों के इन चातुर्महाराजिक तथा त्रायस्त्रिंश देवों की तुलना हम जैनों के व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवताओं से तथा पुराणों के अनिकेत तथा स्वर्लोक निवासी देवताओं से कर सकते हैं। ये देवता भी पर्वत शिखरों तथा ज्योतिर्पिण्डों पर निवास करते हैं।

[२] रूपधातु के देवता तथा उनका लोक

सामान्य परिचय

रूपधातु में रूपराग सम्प्रयुक्त देवता—रूपावचर देवता निवास करते हैं। ये देवता सत्रह प्रकार के हैं।

चूँकि इस धातु में उत्पन्न देवताओं में मैथुन तृष्णा नहीं होती इसलिए उनमें लिंग अर्थात् स्त्रीन्द्रिय और पुरुषेन्द्रिय का अभाव रहता है। पुनः वहाँ पर रसगन्ध का अभाव होते हुए भी जिह्वा एवं घ्राणेन्द्रियाँ होती हैं क्योंकि शारीरिक पूर्णता तथा वाग्व्यवहार के वे आवश्यक हैं।[3]

इन देवताओं का निवास विमानों में है जो कि कामदेवों के विमानों से ऊपर-ऊपर की ओर स्थित हैं। अकनिष्ठ देवताओं के विमान सबसे ऊपर हैं।[४]

---

१. अभि०, पृ० ३७८-८०। २. अभि०, पृ० ३८३-८४। ३. अभि० १।३०। ४. अभि०, पृ० ३८७-८८।

अधोस्थान में उत्पन्न देवता ऋद्धि या पराश्रय के बिना ऊर्ध्व स्थानों में नहीं आ सकते। इसी प्रकार ऊर्ध्व स्थानों के देव अधोस्थान में अपने मूल शरीर से अवतरण नहीं कर सकते। इसके लिए उन्हें अधोस्थान के योग्य ऋद्धिमय शरीर से अवतरण करना पड़ता है। जैनों की उत्तर-शरीर की परिकल्पना भी इसी प्रकार की है।

आयु और शरीर रचना

ब्रह्मकायिक देवों का शरीर $\frac{1}{2}$ योजन ऊँचा, ब्रह्मपुरोहित का १ योजन, महाब्रह्मा का १$\frac{1}{2}$ योजन तथा परीत्ताभों का २ योजन ऊँचा होता है। पश्चात् यह प्रमाण बढ़ते-बढ़ते अकनिष्ठ देवों में १६ हजार योजन हो जाता है।[1]

इसी प्रकार देवताओं की आयु भी क्रमानुसार बढ़ती जाती है। ब्रह्मकायिक देवता $\frac{1}{2}$ कल्प तक जीवित रहते हैं जबकि अकनिष्ठ देवता १६ हजार कल्पपर्यन्त।[2]

उपर्युक्त आयु और शरीर की विभिन्नता के समान रूपधातु के देवताओं के वस्त्राभरण, संस्थान, रूप, वैभव, अनुभव तथा ध्यान सम्पन्नता में अन्तर पाया जाता है।

बौद्धों के इन रूपावचर देवताओं की तुलना हम जैनों के कल्पवासी तथा कल्पातीत देवताओं से तथा पुराणों के महः तथा जनः लोकनिवासी-कल्पवासी तथा तपोलोकवासी वैराजदेवों से कर सकते हैं।

[३] आरूप्यधातु के देवता तथा उनका लोक

जैसा कि पहले कहा गया है कि इस धातु में स्थान नहीं हैं। वास्तव में अरूपीधर्म अदेशस्थ हैं किन्तु उपपत्तिवश उनके ४ प्रकार हैं—

१. आकाशानन्त्यायतन
२. विज्ञानानन्त्यायतन
३. आकिंचन्यायतन
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन या भवाग्र।

इस धातु में उपपन्न सत्वों की चित्तसन्तति निकाय और जीवितेन्द्रिय पर निश्रित है। इस धातु में काम तथा रूप से वीतराग सत्वों की उपपत्ति होती है। अतः आरूप्य में ५ इन्द्रिय और उनके आलम्बन—ये १० रूपीधातु तथा ५ विज्ञानधातु (जिनके आश्रय और आलम्बनरूपी धातु हैं) नहीं होते।

इस धातु में उपपन्न सत्व अपने च्युति देश (अर्थात् जिस स्थान पर उनकी मृत्यु होती है—उसी स्थान) में उत्पन्न होते हैं। ये चार आयतन एक दूसरे से ऊर्ध्व हैं और विभिन्न कर्मों से उनका लाभ होता है।

आरूप्य सत्व क्या हैं?

आरूप्यों के सम्बन्ध में प्रचलित एक मत के अनुसार ये देवता अशरीरी विज्ञानमात्र हैं। जब इनका पुनर्भव होता है तब वे 'नाम' (वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान)

---

१. अभि०, पृ० ३९१। २. अभि० ३।८०, पृ० ३९२।

धारण करते हैं—'रूप' (षडायतन) नहीं। दूसरे मत के अनुसार वे रूप भी धारण करते हैं।

आरूप्यधातु में स्थान की अपेक्षा विज्ञप्ति या चेतना के उपर्युक्त चार आकार होते हैं। जिनमें "आकाश अनन्त है"; "विज्ञान अनन्त है" तथा "कुछ (सार) नहीं है"—के विचार में चित्त क्रमशः २०, ४० तथा ६० हजार कल्पपर्यन्त डूबा रहता है। जबकि चौथे आयतन में सर्व विचारों व सत्ताओं की उपेक्षा से युक्त चित्तदशा ८० हजार कल्पपर्यन्त रहती है।

उपर्युक्त ध्यानकाल ही चार आयतनों को प्राप्त सत्त्वों की आयु है। अर्थात् प्रथम आयतन के सत्त्वों की आयु २० हजार कल्प, द्वितीय की ४० हजार कल्प, तृतीय की ६० हजार कल्प तथा चतुर्थ की ८० हजार कल्प आयु होती है।[1]

●

१. अभि० ३।८१।

संवर्त-विवर्त

कल्प विचार

जैन ग्रन्थकारों तथा पुराणकारों के समान बौद्धों ने भी सृष्टि और प्रलय का विचार किया है। इस सन्दर्भ में 'कल्प' का विचार भी अन्य धाराओं के समान उन्होंने किया है।

बौद्धों के अनुसार कल्प, पंचस्कन्ध स्वभाव है। अर्थात् गत् गच्छत् गमिष्यत् पंचस्कन्धो के अतिरिक्त कल्प अथवा काल की सत्ता नही है।[१] उस कल्पकाल का सुनिश्चित मान हमें पुराणों के अतिरिक्त अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। पुराणों के अनुसार एक कल्प में ४ अरब ३२ करोड़ मानव वर्ष होते हैं। जबकि जैन और बौद्धग्रन्थों में कल्प के सुदीर्घ विस्तार को दिखलानेवाली उपमाएँ अथवा कल्पनाएँ ही प्राप्त होती है— सुनिश्चित वर्ष संख्या नही।

अभिधर्म कोश के अनुसार कल्प चार प्रकार का है[२]—

१. संवर्त कल्प : जिस समय नारकों की उत्पत्ति बन्द हो जाती है, भाजन का क्षय होता है—वह संवर्त कल्प कहलाता है।[३]

२. विवर्त कल्प : प्राग्वायु से लेकर उस क्षण तक जब नारकों की उत्पत्ति होती है।[४]

३. अन्तर कल्प : वह कल्प जिसमें आयु अमित से क्षीण होते हुए मात्र १० वर्ष रह जाती है।[५] रेमूसा के अनुसार कदाचित् अन्तरकल्प वह कल्प हैं जो महाकल्प के अन्तर्गत होते हैं।[६]

४. महाकल्प : अस्सी अन्त:कल्पों का एक महाकल्प होता है।[७]

---

१. अभि०, पृ० ४०३ की पादटिप्पणी
पञ्चस्कन्धस्वभावः कल्पः।

२. अभि० ३।८९ — कल्पो बहुविधः स्मृतः।

३. अभि० ३।९० पू० — संवर्तकल्पो नरकासंभवाद् भाजनक्षयः।

४. अभि० ३।९० उ० — विवर्तकल्प प्राग्वायोर्यावन्नारकसंभवः॥

५. अभि० ३।९१ — अन्तःकल्पोऽमितायावद्दशवर्षायुषस्ततः।

६. अभि०, पृ० ३९९ — पादटिप्पणी।

७. अभि० ३।९३ — तेऽशीतिर्महाकल्प....।

संवर्त कल्प[1]

संवर्त का अर्थ है—प्रलय या कल्पान्त

बौद्धों के अनुसार जब नरकों में सत्त्वों की उत्पत्ति बन्द हो जाती है, उस काल से लेकर भाजन के विनाश तक का काल संवर्त कल्प कहलाता है।

संवर्त, संवर्तन, संवर्तनी इसके नामान्तर हैं।

इसके दो प्रकार हैं :

१. गति या सत्त्व संवर्तनी।

२. धातु या भाजन संवर्तनी।

[१] गति या सत्त्व संवर्तनी

पाँच प्रकार की गतियों या सत्त्वों के अनुरूप उनकी संवर्तनी भी पाँच प्रकार की है।

१. नारक संवर्तनी
२. तिर्यक् संवर्तनी
३. मनुष्य संवर्तनी
४. कामदेव संवर्तनी
५. ब्राह्मदेव संवर्तनी

१. नारक संवर्तनी

जिस काल में नरकोत्पत्ति नहीं होती किन्तु नारक सत्त्वों की मृत्यु होती रहती है, वह संवर्त कल्प का आरम्भ होता है। जब नरक में एक भी सत्त्व अवशिष्ट नहीं होता तब नारक संवर्तनी समाप्त होती है। यदि इस धातु के किसी सत्त्व के नारक वेदनीय कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं तो वह अन्य नरक धातु में प्रक्षिप्त होता है, जिसमें अभी संवर्तन नहीं हो रहा होता।

२. तिर्यक् एवं प्रेत संवर्तनी

जो तिर्यक् महोदधि में निवास करते हैं, वे पहले विनष्ट होते हैं। और जो तिर्यक् मनुष्यों के सहचर हैं, वे मनुष्यों के साथ विनाश को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्रेतों का भी संवर्तन होता है।

३. मनुष्य संवर्तनी

संवर्तन के प्रारम्भ में जम्बूद्वीप के किसी एक मनुष्य को प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है तब वह उस ध्यान से उठकर कहता है—"वैराग्य से उत्पन्न प्रीतिसुख आनन्द-दायक है, वैराग्य से उत्पन्न प्रीतिसुख शान्त है।" उसके इन वचनों को सुनकर अन्य

---

१. संवर्त कल्प के वर्णन के लिए देखिए—
अभि०, पृ० ३९९ से ४०१ तक।

मनुष्य भी ध्यान समापन्न होते हैं और मृत्यूपरान्त ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार क्रमशः जम्बूद्वीप के सम्पूर्ण सत्त्वों का संवर्तन होता है।

पश्चात् पूर्वविदेह तथा अवर गोदानीय निवासियों का संवर्तन होता है। चूँकि उत्तर कुरु के निवासी काम वैराग्य में असमर्थ होने के कारण ध्यान समापन्न नहीं हो सकते इसलिए वे ब्रह्मलोक की बजाय कामावचर देवों के लोक में प्रवेश करते हैं।

४. कामदेव संवर्तनी

चातुर्महाराजिक से लेकर परनिर्मितवशवर्तिन् तक छह प्रकार के कामावचर देव भी ध्यान समापन्न होकर ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं।

५. ब्राह्मदेव संवर्तनी

अन्ततः ब्रह्मलोक का एक देवता ध्यान समापन्न होकर कहता है—"समाधिज प्रीतिसुख आनन्ददायक है। समाधिज प्रीतिसुख शान्त है।" उसके ये वचन सुनकर सभी देवता द्वितीय ध्यान में प्रवेश करते हैं और मृत्यूपरान्त आभास्वर देवताओं के लोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार क्रमशः ब्रह्मलोक जनशून्य हो जाता है।

[२] भाजन या धातु संवर्तनी

ब्रह्मलोक के जनशून्य होते ही सम्पूर्ण भाजनलोक रिक्त हो जाता है। तब सात सूर्यों का प्रादुर्भाव होता है। जो अपनी प्रचण्ड दाहकता से चतुर्द्वीप से लेकर मेरुपर्यन्त समस्त लोक को दग्ध कर डालते हैं। इस प्रलयाग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को भी दग्ध कर डालती हैं। नरक स्थान भी इन महाज्वालाओं से नष्ट हो जाते हैं। सप्तसूर्यों से होनेवाला यह संवर्तन 'तेजःसंवर्तनी' कहलाता है।[१]

संवर्तनी के प्रकार

संवर्तनी तीन प्रकार की होती है—

१. तेजःसंवर्तनी।
२. जल संवर्तनी।
३. वायु संवर्तनी।

(१) तेजःसंवर्तनी

अभी जिस संवर्तनी का वर्णन किया गया है वह तेजःसंवर्तनी कहलाती है क्योंकि उसमें सप्तसूर्यों के तेज या अग्नि के द्वारा ब्रह्मलोक पर्यन्त भाजन का संवर्तन होता है।

---

१. अभि०, पृ० ४०१।

(२) जल संवर्तनी

जल संवर्तनी के द्वारा परीत्ताभ, अप्रमाणाभ तथा आभास्वर—इन तीन देवताओं के लोक नष्ट होते हैं। जलसंवर्तन में ये तीनों लोक तथा इनसे नीचे के समस्त लोक जल में नमक के समान घुल जाते हैं। इस महान् जलप्रलय के पहले इन लोकों के देवता ध्यान समापन्न होकर ऊपर के लोकों में जन्म धारण करते हैं।

(३) वायु संवर्तनी

वायु संवर्तनी में परीत्तशुभ, अप्रमाणाभशुभ तथा शुभकृत्स्नदेवताओं के लोक तथा इन लोकों के नीचे के लोक प्रलयंकर वायु के द्वारा खण्डित करके धूलराशि के समान विकीर्ण कर दिये जाते हैं। इस संवर्तन के पूर्व इन लोकों के निवासी ध्यान समापन्न हो ऊपर के लोकों में जन्म ग्रहण करते हैं।[1]

संवर्तन के सम्बन्ध में बौद्धों की यह धारणा पुराणों के नैमित्तिक प्रलय से बहुशः साम्य रखती है। पुराणों के अनुसार इस प्रलय में ब्रह्माण्ड का केवल आंशिक प्रलय होता है अर्थात् सप्तलोकों में से केवल भूर्भुवादि तीन लोक नष्ट होते हैं। सर्वप्रथम सप्तसूर्यों के द्वारा वे दग्ध .होते हैं। पश्चात् संवर्तक मेघों से महाजलप्रलय होता है और अन्त में महावात उत्पन्न होकर मेघराशि को नष्ट कर डालता है। बौद्धों द्वारा स्वीकृत तीन संवर्तनियों से पुराणों का उपर्युक्त मत प्रायः मिलता-जुलता है। इसी प्रकार प्रलयकाल में प्रलयापन्न लोकों के सत्त्वों का लोकान्तर में उत्पन्न होना भी पुराणों के मत से मिलता है जिसमें कहा गया है कि प्रलयापन्न भूर्भुवादि लोकों के सत्त्व मृत्यु को प्राप्त हो लोकान्तर में जन्म लेते हैं तथा महः लोक के निवासी प्रलय ताप के कारण जनः लोक में प्रवेश करते है।

संवर्तनी का क्रम

बौद्ध सृष्टिवेत्ताओं के अनुसार सप्त तेजः संवर्तनियों के बाद एक जलसंवर्तनी होता है। और इस प्रकार जब जल की सात संवर्तनियाँ हो चुकती हैं तब पुनः सात तेजःसंवर्तनियाँ होती हैं। तत्पश्चात् वायु संवर्तनी होती है।

इस प्रकार ५६ तेजःसंवर्तनियाँ, ७ जल संवर्तनियाँ और एक वायु संवर्तनी होती है। शुभकृत्स्न देवताओ की आयु ६४ कल्प होती है जो कि पूर्वोक्त ६४ संवर्तनियों के साथ समाप्त होती है।

संवर्तन का अभाव

अनभ्रकों से अकनिष्ठ पर्यन्त, आठ रूपावचर देवताओं के विमान; उक्त तीन संवर्तनों से अप्रभावित रहते हैं। क्योंकि उनमें अपक्षाल रहित चतुर्थध्यान पाया जाता

---

१. अभि० ३।१००-१०१।

है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनके विमान नित्य है। वरन् उनके विमान भी उनपर निवास करनेवाले सत्त्वों के साथ उदय-व्यय को प्राप्त होते रहते हैं।

आरूप्यदेवता भी अपनी आयु के साथ उदय-व्यय को प्राप्त होते हैं किन्तु उनका कोई भाजन या विमान नहीं रहता इसलिए उसके उदय-व्यय का प्रश्न ही नहीं उठता।

विवर्त कल्प

विवर्त का अर्थ है—सृष्टि या प्रकट होना।

बौद्धों के अनुसार प्राग्वायु से लेकर नरकोत्पत्ति तक का काल विवर्त कल्प कहलाता है। इस कल्प में वायुमण्डल, जलमण्डल, भूमण्डल, ब्राह्मविमान तथा नरकस्थानों की उत्पत्ति उनके निवासियों के साथ क्रमानुसार होती है।[1]

संवर्त के समान विवर्त भी दो प्रकार का है—

१. भाजन या धातु विवर्त : इसे पुराणों की भाषा मे लोक-सृष्टि कह सकते हैं।

२. गति या सत्त्व विवर्त : इसे भी पुराणों की भाषा में भूतसृष्टि कहा जा सकता है।

लोक-सृष्टि[2]

जब आक्षेपक कर्मवश आगामी भाजनलोक के प्रथम निमित्त उत्पन्न होते है तब आकाश मे मन्द-मन्द वायु का स्पन्दन होता है। संवर्त के २० अन्तरकल्पों के बाद वायु का यह प्रथम स्पन्दन होता है। शनैः-शनैः लोक विवृत होता है और उसकी पूर्णता में २० अन्तरकल्प लग जाते है।

जो वायु प्रथमतः स्पन्दित होता है उसकी वृद्धि होती जाती है और अन्ततः वह वायुमण्डल का रूप धारण कर लेता है। इस वायुमण्डल का वेधन (व्यास) १६ लाख योजन है। इसका परिणाह असंख्य है और यह वायु इतना कठोर होता है कि इन्द्रायुध (वज्र) से भी विच्छिन्न नहीं होता।

उक्त वायुमण्डल के विवर्तन के पश्चात् उसपर संचित अभ्र (वर्षामेघ) का पात होता है—वर्षधारा का पात होता है जिसका बिन्दु रथ की ईषा के बराबर होता है। इस जल से जलमण्डल का निर्माण होता है। जिसका वेध ११ लाख २० हजार योजन है। इस जलमण्डल को वायुमण्डल धारण करता है और वायुमण्डल को आकाश। और आकाश स्वयमाधारित है।

अनन्तर सत्त्वो के कर्माधिपत्य से समुत्थित वायु से क्षुब्ध होकर जलमण्डल के ऊपर का भाग काचनमय हो जाता है। जिस प्रकार पक्व क्षीर पर साढ़ी पड़ती है उसी प्रकार जल के ऊपर कांचनमय भूमण्डल की उत्पत्ति होती है। इस भूमण्डल का वेध ३ लाख २० हजार योजन है, शेष ८ लाख योजन जल मण्डल रहता है।

१.-२. अभि० ३।९० । विवर्त कल्प के वर्णन के लिए देखिए—अभि०, पृ० ४०२ । अभि०, पृ० ३६४–३६६ ।

काञ्चनवर्ण भूमण्डल पर मेरुपर्वत, युगन्धर, ईषाधर आदि महापर्वत तथा जम्बूद्वीप आदि चार महाद्वीप और बाह्य चक्रवाड भी क्रमानुसार प्रकट होते हैं। इस चतुर्द्वीपा पृथ्वी पर जो जलपात होते हैं उसी में नाना प्रकार के बीज गर्भित होते हैं। नाना प्रकार के प्रभावों से जल का रूपान्तर रत्न, स्वर्ण, रौप्य, भूमि आदि के रूप में होता है।

विवर्तन के क्रम के सम्बन्ध में बौद्ध शास्त्रों में एक नियम प्रचलित है—यत् पश्चात् संवर्तते तत् पूर्वं विवर्तते। अर्थात् जिसका विनाश होता है उसका सृजन पहले होता है।

इस नियम के अनुसार विवर्त कल्प में सबसे पहले ब्राह्मविमान उत्पन्न होते हैं। उनके पश्चात् क्रमशः परनिर्मितवशवर्तिन्, निर्माण रति, तुषित तथा याम देवताओं के विमान प्रकट होते हैं। अनन्तर उपरिवर्णित क्रम से वायुमण्डल, जलमण्डल, भूमण्डल तथा सुमेरु आदि पर्वत, नदियाँ तथा समुद्र उत्पन्न होते हैं। सर्वान्त में नरकस्थानों की निवृत्ति होती है।

पुराणों में भी इसी प्रकार की सृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है। लेकिन वहाँ हिरण्याण्ड से एक साथ ही समस्त लोकों की उत्पत्ति बतलायी गयी है, न कि क्रमिक रूप से।

भूतसृष्टि

भाजनलोक (ब्राह्मविमानों से नरकपर्यन्त लोक) के प्रकट हो जाने पर उसमें निम्नांकित क्रम से सत्त्वों (प्राणियों) का प्रादुर्भाव होता है।

प्रथमतः आभास्वर विमान से एक सत्त्व जनशून्य ब्राह्मविमान में उपपन्न होता है। उसके पश्चात् अन्यान्य सत्त्व ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, परनिर्मितवशवर्तिन् आदि विमानों तथा मेरुशिखर आदि स्थानों पर उत्पन्न होते हैं। अनन्तर चतुर्द्वीपों में मनुष्य उत्पन्न होते हैं। प्रथमतः उत्तरकुरु द्वीप में, पश्चात् गोदानीय, विदेह तथा जम्बूद्वीप में मनुष्य उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों के समान तिर्यंच भी अपने-अपने स्थानों में उत्पन्न होते हैं। सर्वान्त में नरक स्थानों में नारकी सत्त्व उत्पन्न होते है।[1]

इस प्रकार भूतसृष्टि का यह क्रम २० अन्तरकल्पों में पूरा होता है।

अन्तरकल्प

बौद्ध शास्त्रों में अन्तःकल्प उसे कहा गया है जिसमें मनुष्यों की आयु अमित से क्षीण होती हुई मात्र १० वर्ष शेष रह जाती है।

विवर्तकल्प में २० अन्तरकल्प होते हैं। इनमें से प्रथम कल्प में भाजन, ब्राह्मविमान आदि की निवृत्ति होती है। अवशिष्ट १९ कल्पों में नरक सत्त्वों के प्रादुर्भाव

---

१. अभि०, पृ० ४०२।

तक मनुष्यों की अपरिमित आयु होती है।[1]

उपर्युक्त २० कल्पों के बाद मनुष्यों की आयु में ह्रास होने लगता है, यहाँ तक कि दस वर्ष से अधिक आयु का सत्त्व नहीं होता। जिस काल में यह ह्रास होता है वह विवृत्तावस्था का पहला अन्तरकल्प है। इस कल्प के बाद १८ कल्प उत्कर्ष और अपकर्ष के होते हैं। अर्थात् १० वर्ष की आयु से वृद्धि होते-होते ८० हजार वर्ष की आयु मनुष्यों की हो जाती है। पश्चात् आयु का ह्रास होते-होते वह कल्पान्त में १० वर्ष की हो जाती है। बीसवाँ अन्तरकल्प उत्कर्ष का कल्प होता है—अपकर्ष का नहीं।

महाकल्प

संवर्त और विवर्त में से प्रत्येक की दो अवस्थाएँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक की अवधि २० अन्तरकल्प होती है। इस प्रकार २० अन्तरकल्प के चतुर्गुणित करने पर ८० अन्तरकल्प का एक महाकल्प होता है।[2]

विवर्त कल्प की दो अवस्थाएँ हैं : विवर्त कल्प और विवृत कल्प। इसी प्रकार संवर्त कल्प की भी २ अवस्थाएँ हैं : संवर्त कल्प और संवृत्त कल्प।

विवर्त कल्प : इस कल्प के प्रथम अन्तरकल्प में भाजन, ब्राह्मविमान आदि की रचना होती है। शेष १९ कल्पों में नरक सत्त्वों के प्रादुर्भाव तक मनुष्य की अमितायु होती है।

विवृत कल्प : इस कल्प के प्रथम अन्तरकल्प में मनुष्यों की अमितायु का ह्रास होकर १० वर्ष रह जाता है। पश्चात् उत्कर्ष और अपकर्ष के १८ अन्तरकल्प होते हैं। किन्तु २०वाँ कल्प उत्कर्ष का कल्प होता है।

संवर्त कल्प : नारकों की अनुत्पत्ति से भाजन के विनाश तक यह कल्प रहता है। इसी कल्प में विविध संवर्तन होते हैं।

संवृत कल्प : संवर्त कल्प के पश्चात् २० अन्तरकल्प तक लोक विनष्ट रहता है। जहाँ पहले भाजन था वहाँ मात्र आकाश रहता है।

●

---

१. अभि०, पृ० ४०२। २. अभि, पृ० ४०३।

तृतीय खण्ड

पौराणिक सृष्टिविद्या

१. दैवत संहिता
२. सर्ग संहिता
३. ब्रह्माण्ड संहिता

दैवत संहिता

सृष्टि जिज्ञासा

सृष्टि अनन्त है। तदनुरूप सृष्टि की जिज्ञासा भी अनन्त है। सृष्टि का अन्त शायद ढूँढ़ा जा सके किन्तु जिज्ञासा फिर भी अनन्त बनी रहेगी।

विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में सृष्टि की जिज्ञासा हमें इस रूप में प्राप्त होती है—

"वह कौन-सा वन है और वह कौन-सा वृक्ष जिससे विश्वकर्मा ने इस आकाश और पृथ्वी को बनाया।[1]"

इस महान् जिज्ञासा का समाधान भी वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है—

"वह वन और वह वृक्ष ब्रह्म ही है जिससे विश्वकर्मा ने आकाश और पृथ्वी को बनाया।"

"वह ब्रह्म केवल विश्व का कारण ही नहीं वरन् उस विश्व को धारण करने वाला भी है।"[2]

अथर्व संहिता में भी इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर उपलब्ध हैं—

"किसने यह भूमि बनायी? किसने यह आकाश रचा? यह ऊर्ध्व-तिर्यक् लोक तथा अन्तरिक्ष किसने बनाया?"[3]

इन प्रश्न और उत्तरों के अतिरिक्त केवल प्रश्न और केवल उत्तर भी वेदों में उपलब्ध हैं।

कौन जानता है और कौन उसका वर्णन कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आयी? देवता भी तो सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए थे। तब कौन जानता है कि यह सृष्टि

---

१. ऋग्वेद १०।८१।४ — किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

२. तै० ब्रा० — ब्रह्म वनं स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

३. अथर्व० १०।२।२४ — केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता।
केनेदं ऊर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥

किससे उत्पन्न हुई ?[१]

यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, उसने इसे बनाया है अथवा नहीं ! सबसे ऊँचे लोक में इसका जो अध्यक्ष है शायद वह भी इसे न जानता हो !![२]

सबसे पहले हिरण्यगर्भ थे । उन्होंने ही आकाश और पृथ्वी को अपने-अपने स्थान पर स्थिर किया था ।[३]

सबसे पहले विराट् थे । उनके उत्पन्न होने पर सबको भय उत्पन्न हुआ कि भविष्य में एक यही होगा ।[४] लेकिन....

वेदों के इन्हीं विजिज्ञास्य एवं समाधान पूर्ण प्रश्नोत्तरों का अनुगुंजन पुराणों में सर्वत्र सुनाई देता है ।

श्रीमद्भागवत महापुराण में सृष्टि के उस परमतत्त्व की जिज्ञासा की गयी है जो सृष्टि का कारण, अधिष्ठान, आधार तथा उससे परे भी है ।[५] इसके अतिरिक्त अन्य पुराणों व महाभारत में भी उसी प्रकार की जिज्ञासा की गयी है ।[६] और उसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि सृष्टि का वह अन्तिम तत्त्व ब्रह्म है । उससे ही इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय सम्भव होता है ।[७]

इस प्रकार सृष्टि के मूलभूत तत्त्व—ब्रह्म के सम्बन्ध में वेद एवं पुराण समान मत रखते हैं । उपनिषदादि वैदिक साहित्य भी इसी ब्रह्मवाद की पुष्टि करता है ।[८]

---

१. ऋग्वेद० १०।१३०।६ — को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा
को वेद यत आबभूव ॥

२. वही, १०।१३०।७ — इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥

३. ऋग्वेद १०।१२१।१ — हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

४. अथर्व० ८।१०।१ — विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ सोदक्रामत्......

५. भाग० २।५।२ — यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो ।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥

६. गरुड० १।१।७ — को ध्येयः को जगत्स्रष्टा जगत्पाति च हन्ति कः ।
विष्णु० १।१।५ — यन्मयं च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम् ।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च ॥
शान्तिपर्व १८२।१ — कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थावर-जङ्गमम् ।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

७. गरुड० १।१।१२ — परमात्मा परं ब्रह्म जन्माद्यस्य यतो भवेत् ।
विष्णु० १।२।४ — सर्गस्थिति-विनाशानां जगतो यो जगन्मयः ।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने ॥

८. मुण्डक० १।१।७ — अक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।
छान्दो० ३।१४।१ — सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

एकं ब्रह्म....

इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म यद्यपि एक ही है तथापि उसके नाम अनन्त हैं। विभिन्न सम्प्रदायों, उपासनापद्धतियों तथा इष्ट रुचि के कारण उसे ये विभिन्न नाम (साथ में रूप भी) प्राप्त हुए हैं। वैष्णव पुराणों में उसे बहुधा नारायण कहकर पुकारा गया है।[1] नारायण, विष्णु का ही पर्यायनाम है। शैवपुराण उसे शिव, शाक्तपुराण उसे देवी, रामोपासक उसे राम तथा सीता के भक्त उसे सीता कहकर पुकारते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के भक्त उसे श्रीकृष्ण तथा गणपति के उपासक उसे गणपति बतलाते हैं। लेकिन इस नामरूप के भेद से उस ब्रह्म देवता के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[2]

त्रिदेववाद

सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म जिसे पुराणों में विष्णु, नारायण, शिव आदि नामों से पुकारा गया है, सृष्टि के त्रिविध प्रयोजन—सृष्टि-स्थिति-संहार के निमित्त क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इन तीन देवताओं के रूप में प्रकट होता है।[3] पुराणों के अनुसार ये तीन देवता प्रकृति के रज, सत्त्व तथा तमोगुण से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध हैं। रजोमूर्ति ब्रह्मा रजोगुण का आश्रय लेकर इस विश्व की सृष्टि करते हैं। सत्त्वपति विष्णु सत्त्वगुण के आश्रय से जगत्पालन में प्रवृत्त होते हैं और तमोरूप शिव तमोगुण के आश्रय से विश्व के संहार में प्रवृत्त होते हैं।[4] ये तीनों देवता अन्योन्यमिथुन हैं और एक दूसरे पर आधारित है। किसी एक के बिना शेष दो की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कहने

---

१. विष्णु० १।४।४ — नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषामपि स प्रभुः।
ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसंभवः॥

२. लिङ्ग० ८३।३ — सर्वलोकैकसंहर्ता सर्वलोकैकरक्षिता।
सर्वलोकैकनिर्माता पञ्च ब्रह्मात्मकः शिवः।

देवी० ३।३ — एषा भगवती देवी सर्वेषां कारणं हि नः।
महाविद्या महामाया पूर्णा प्रकृतिरव्यया॥

रामरहस्य, १।६ — राम एव परं ब्रह्म।

सीतोप० १,२ — मूलप्रकृतिः सीता...उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारिणी।

ब्रह्मवै० १।१।४ — वन्दे कृष्णं गुणातीतं परं ब्रह्माच्युतं यतः।

गणपत्यु० १, — नमस्ते गणपतये···त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।

बृहन्नार० अ. ३ — तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम्।
केचिद् विष्णुं सदा सत्त्वं ब्रह्माणं केचिदूचिरे॥

३. विष्णु० १।२।६६ — सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

४. देवी० १।८।४ — एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।
रजः-सत्त्व-तमोभिश्च संयुताः कार्यकारकाः॥

मार्कं० ४६।१८ — रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णुः सत्त्वं जगत्पतिः।

गरुड० १।४।११ — ब्रह्मा भूत्वासृजद् विष्णुर्जगत्पाति हरिः स्वयम्।
रुद्ररूपी च कल्पान्ते जगत् संहरते प्रभुः॥

का तात्पर्य यह कि ये तीनों अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं।[1] इस ब्रह्माण्ड में इन तीन देवताओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। ये तीन देवता ही तीन गुण, तीन लोक, तीन वेद और तीन अग्नियाँ हैं।[2]

संक्षेप में पुराणों का यही मत त्रिदेववाद कहलाता है।

पंचदेवतावाद

पुराणों के उपर्युक्त त्रिदेववाद के साथ एक वाद और मिला हुआ है जिसे पाँच देवताओं से सम्बद्ध होने के कारण हम पंचदेवतावाद के नाम से पुकारेंगे।

इस वाद के पाँच देवताओं में से प्रथम तीन तो त्रिदेववाद के ही तीन देवता हैं। शेष दो देवताओं की कल्पना तीसरे देवता शिव के कार्तिकेय एवं गणेश नामक पुत्रों के रूप मे की गयी है।

मेरे विचार से ये पाँच देवता सांख्यदर्शन एवं पुराणों में स्वीकृत सृष्टिक्रम के अधिष्ठाता देवता हैं। विष्णु मूल प्रकृति के, ब्रह्मा महत्तत्त्व के, शिव अहंकार तत्त्व के तथा कार्तिकेय एवं गणेश क्रमशः इन्द्रिय एवं भूतसर्ग के अधिष्ठाता देवता हैं। इतना ही नही इन देवताओं के शरीर की मूर्त कल्पना भी इसी तात्त्विक आधार पर की गयी है। उनके चतुर्भुज, अष्टभुज, चतुर्मुख, पंचानन, दशबाहु, षडानन, द्वादशभुज आदि संख्यात्मक रूपों का आकल्पन भी सांख्यदर्शन के द्वारा विनिश्चित सृष्टि तत्त्वो की संख्याओं के आधार पर किया गया है। यथा—

विष्णु की चार भुजाएँ चार प्रकृतियों (प्रकृति, महत्, अहंकार एवं तन्मात्र) तथा आठभुजाएँ अष्ट प्रकृतियों (प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पंच तन्मात्र) की प्रतीक है। महत्तत्त्व के अधिष्ठाता ब्रह्मा के चार मुख महत्तत्त्व के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यात्मक चार भावों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार अहंकार तत्त्व के अधिष्ठाता शिव के पाँच-मुख अहंकारात्मक पाँच महाभूतों के तथा दस भुजाएँ अहंकारात्मक दस इन्द्रियों के प्रतीक हैं। कार्तिकेय का द्वादशभुजत्व व गणेश का पंचाननत्व भो भूतेन्द्रियों की संख्याओं से नियमित होता है। जिसका निदर्शन एवं विशद विश्लेषण आगामी पृष्ठोंपर अंकित है।

नारायण

नारायण परम ब्रह्म

विश्व के जिस आदिकारण को वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म कहा गया है उसे ही

---

१. मार्क० ४६।१७ — अन्योन्यमिथुना ह्येते अन्योन्याश्रयणस्तथा।
क्षणं वियोगो न ह्येषां न त्यजन्ति परस्परम् ॥

२. देवी० १।८।२ — ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च त्रयो देवा सनातनाः।
नातः परतरं किंचिद् ब्रह्माण्डेऽस्मिन् महामते ॥

वायु० ५।१७ — एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥

पुराणों की मानवीकरण प्रधान अलंकृत शैली में नारायण कहा गया है। पुराणों के अनुसार इन्हीं ब्रह्मस्वरूपी भगवान्[1] नारायण से सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष एवं प्रकृति के मिथुन का आविर्भाव होता है। जिसके संसर्ग से महदादि क्रम से विश्व की सृष्टि होती है। इस सृष्टि-कार्य में ब्रह्म का पुरुष अंश प्रकृति का अधिष्ठातृत्व करता है। और प्रकृति के विकास क्रमानुसार उसके ब्रह्मा, शिव, गणेश आदि अनेक रूप होते हैं।

ब्रह्म, पुराणपुरुष परमात्मा, परमब्रह्म, देव, ईश्वर, वासुदेव, निरंजन, सनातन, प्रभु, भगवान्, अव्यय, आदिपुरुष इत्यादि नामों से पुराणों में स्मृत किया गया है।[२]

आपो नारा

प्रायः सभी पुराणों ने नारायण शब्द की व्युत्पत्ति मनुस्मृति के आपो नारा इत्यादि श्लोक के अनुसार की है।[3] जिसका अर्थ है नारा अर्थात् जल में निवास करने-वाला। चूँकि पुराणों ने भगवान् नारायण का निवास क्षीरसागर में कल्पित किया है और क्षीरसागर जलमय है इसलिए उपर्युक्त व्युत्पत्ति सर्वथा युक्तियुक्त है।

नारे अयनं

किन्तु कोश में नर शब्द का अर्थ जल के अतिरिक्त नर या पुरुष भी प्राप्त होता है। पुनश्च इस अर्थ में यह शब्द बहुप्रचलित भी है। इसके अनुसार—

नर + अयन = नरायण

नार + अयन = नारायण

की सिद्धि होती है। *नरत्वे अयनं* के अनुसार नरायण तथा *नारे अयनं यस्य* के अनुसार नारायण शब्द का अर्थ होगा—नर रूप में अयन (गमन) करनेवाला या नर अथवा पुरुष भाव को प्राप्त व्यक्ति।

प्रश्न उठता है कि वह कौन व्यक्ति है जो नार अर्थात् नर भाव को प्राप्त हुआ है ? पौराणिक परिप्रेक्ष्य में वह व्यक्ति निश्चय ही ब्रह्म है जिसकी रूप कल्पना पुराणों ने नर वा नारायण के रूप में की है।

१.	गरुड० १।१।१२	एको नारायणो देवो देवानामीश्वरेश्वरः।
		परमात्मा परं ब्रह्म जन्माद्यस्य यतो भवेद्॥
२.	वही, १।४।३	नारायणो देवो वासुदेवो निरञ्जनः।
	बृहद्धर्म० २।३१।६१	नारायणाख्यो भगवान् वासुदेवो निरंजन'।
	भाग० १०।४०।१	नतोऽस्म्यहं त्वखिलहेतुहेतुं
		नारायणं पुरुषमाद्यमव्ययम्।
	विष्णु० १.४।४	नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषामपि स प्रभुः।
		ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसंभवः॥
	स्कन्द० २।३।२३	नारायणादिपुरुष परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥
३.	मनुस्मृति १।१०	आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
		ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥
	विष्णु० १।४।६	पूर्ववत्।

नराणामयनं यस्मात्

किन्तु वायु पुराण के एक निर्वचन के अनुसार समस्त नरों अर्थात् पुरुषों में व्याप्त होने के कारण वह ब्रह्म नारायण कहलाता है।[१]

नारायण मूर्ति

पुराणों के अनुसार वह नर रूप धारण करनेवाला व्यक्ति अर्थात् नारायण श्यामवर्ण, चतुर्बाहु, शंख, पद्म, चक्र तथा गदा धारण करनेवाला है।[२] वह क्षीरार्णव-वासी, शेषशायी तथा पद्मनाभ भी है।[3]

अब हम नारायण को इस पौराणिक परिकल्पना के रहस्य का अनुसन्धान करेंगे और देखेंगे कि उसके श्यामवर्ण, चतुर्बाहुत्व आदि का आशय क्या है।

श्यामवर्ण

पुराणों के अनुसार विश्व के मूल कारण भगवान् नारायण के स्वरूप में त्रिगुणमयी माया या प्रकृति निहित है।[४] सृष्टि के प्रारम्भ तथा अन्त में यह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। उस समय तमोगुण की प्रबलता के कारण सत्त्व व रजोगुण अभिभूत रहते हैं। जिसके कारण उस समय चारों ओर प्रगाढ़ अन्धकार व्याप्त रहता है। विश्व की यह तमोमय अवस्था ही उन आदि पुरुष का आद्य शरीर है। पुराणों ने उनकी इसी अवस्था की ओर संकेत करने के लिए उनके श्यामवर्ण शरीर की कल्पना की है।

चतुर्बाहु

नारायण का चार भुजाओंवाला रूप उनकी सर्वशक्तिमत्ता तथा विश्व को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का प्रतीक है। प्रकृति की ये विश्वोत्पादक शक्तियाँ मुख्यतः चार हैं। अव्यक्त, महत्, अहंकार और तन्मात्र—इन चार प्राकृत शक्तियों से ही यह विश्व निर्मित हुआ है। मेरे विचार से ये चार शक्तियाँ ही नारायण की चतुर्भुजी कल्पना की प्रेरणा-स्रोत हैं। इस विचार की पुष्टि इन चार हाथों में कल्पित आयुधों के प्रतीकार्थ से भी होती है।[५]

शंख

पुराणों में नारायण के शंख का नाम पांचजन्य बतलाया गया है। शंख का यह

---

१. वायु० ५।३८ — नराणामयनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः।
२. विष्णुधर्म० ३।७६।२ — नारायणश्चतुर्बाहुर्नीलोत्पलदलच्छविः।
अग्नि० १।४८ — नारायणः शङ्ख-पद्म-गदा-चक्री प्रदक्षिणम्।
३. वायु० २४।८-१२; विष्णु० ६।६।४।
४. विष्णु० १।२।३१ — स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स संकोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥
५. टिप्पणी : इन आयुधों का विवेचन आगे चलकर विष्णु के स्वरूपाख्यान में भी किया गया है।

नाम ही उसके पंचभूततन्मात्रात्मक प्रतीक होने की ओर संकेत करता है। पुराण तथा उपनिषद् भी इसी अर्थ का समर्थन करते हैं।[1]

चक्र

मेरे विचार से भगवान् नारायण का सुदर्शन नामक चक्र अहंकार का प्रतीक है। जिस प्रकार अहंकार व्यक्ति को सदैव गतिशील बनाये रखता है उसी प्रकार यह अहंकारात्मक चक्र सदा प्रवर्तित रहता है। बहुअरात्मक चक्र, अहंकार के बहुतत्त्वोत्पादक स्वरूप की ओर भी संकेत करता है। अहंकार से ही एकादश इन्द्रिय, पंचप्राण तथा पंचभूततन्मात्र का तत्त्व चक्र उत्पन्न होता है तथा संहार काल में उसीमें विलीन होता है। चक्र की दक्षिण वामावर्त गतियाँ भी अहंकार के इस सृजनसंहारात्मक रूप की ओर संकेत करती हैं। पुनश्च अहंकार के एक विकार—मन को भी पुराणादि चक्र स्वरूप बतलाते हैं।[2]

गदा

अपने शीर्ष की ओर क्रमशः महान् आकार धारण करती हुई कौमोदकी नामक गदा नारायण के महत्तत्त्वात्मक रूप की प्रतीक है। पुराण भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।[3] गदा का महान् आकार तथा उसकी एक संलग्नात्मकता निश्चय ही महान् तत्त्व तथा उसकी एकात्मकता की सूचक है।

पद्म

मेरे विचार से श्री नारायण के हाथ में लिया हुआ पद्म उनकी मायाशक्ति का प्रतीक है। जिससे वे विश्व की सृष्टि एवं संहार करते हैं।

पद्म या कमल के फूल की, दिवस व रात्रि के अनुसार, संकोच-विकासशील विशेषता तथा अव्यक्त प्रकृति या माया की सृष्टि एवं प्रलय के अनुसार व्यक्त तथा अव्यक्त होने की शक्ति में अभूतपूर्व समानता है। कमल की विकासशक्ति प्रकृति के व्यक्त होने की तथा संकोचशील शक्ति प्रकृति के अव्यक्त होने की शक्ति की प्रतीक है। जिस प्रकार कालरात्रि के पश्चात् सृष्टि, सृष्टिदिवस में विश्व स्थिति तथा दिवसान्त में विश्व का संहार होता है, ठीक उसी प्रकार कमल भी रात्रि के अन्त में खिलता है, दिन-भर खिला रहता है तथा दिवसान्त में बन्द हो जाता है।

---

१. पद्म० ४।७१ पाञ्चजन्याख्यं भूताद्यहंकारात्मकं शङ्खं बिभर्ति।
गोपाल उत्तर० १७ पञ्चभूतात्मकं शङ्खं करे रजसि संस्थितम्।
२. विष्णु० १।२२।७१ चक्रस्वरूपं मनो धत्ते विष्णुकरे स्थितम्।
गोपाल उत्तर० मनश्चक्रं निगद्यते।
३. भाग० १२।११।१४ मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
विष्णु० १।२२।६६ बुद्धिरस्यास्ते गदारूपेण।

क्षीरार्णव

पुराणों के अनुसार भगवान् नारायण का आवासस्थल क्षीरार्णव अर्थात् दूध का समुद्र है। नारायण के क्षीरार्णववासी होने की कल्पना मेरे मत से पुराणों की ही एकार्णव कल्पना से प्रसूत है। प्रत्येक नैमित्तिक प्रलय के अन्त में होनेवाले जलप्रलय के कारण यह विश्व नष्ट हो जाता है और जल मात्र शेष रह जाता है। भगवान् नारायण इसी जल के ऊपर अपनी शेषनाग की शय्या पर विश्राम करते हैं।[१]

शेषनाग

क्षीरसागर में जिस नाग या सर्प की शय्या पर भगवान् नारायण विश्राम करते हैं उस नागशय्या का नाम शेषशय्या अथवा अनन्तशय्या है तथा उस नाग का नाम शेषनाग या अनन्तनाग है। भागवत के अनुसार उसका रंग सफ़ेद है।[२] भागवत में ही उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि उन भगवान् शेषनाग के एक हज़ार फन अर्थात् सहस्रशीर्ष हैं। उनमें से केवल एक ही फन या शीर्ष के ऊपर यह समस्त भूमण्डल, सरसों के एक दाने की भाँति रखा हुआ है।[3]

भागवत इन्हें भगवान् नारायण की अव्याकृत प्रकृति अर्थात् अव्यक्त प्रकृति रूप आसन बतलाती है।[४] किन्तु पौराणिक सन्दर्भों एवं शेषनाग की रचना पर ध्यान देने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि सहस्रफनवाला यह सर्प परमात्मा परम ब्रह्म नारायण की कालशक्ति का प्रतीक है। यह कालशक्ति ब्रह्म की वही कालशक्ति है जो कि प्रलय काल में प्रकृति और पुरुष के वियुक्त हो जाने पर उनको धारण करती है तथा सर्गकाल मे उन्हें पुनः संयुक्त कर देती है।[५]

पौराणिक कालमान के अनुसार एक हज़ार चतुर्युग का एक कल्प होता है। मेरे विचार से यह सहस्रयुगात्मक कल्प नामक काल ही सहस्रशीर्षनाग के रूप में चित्रित किया गया है। कल्पकाल के सहस्र चतुर्युग-शेषनाग के सहस्रफन हैं। चूँकि काल का कभी अन्त नहीं होता इसलिए वह अनन्त है तथा प्रलयकाल में केवल वही बच रहता है इसलिए वह शेष है। पुराणों में वर्णित उपर्युक्त सहस्रशीर्ष नाग के ये दोनों नाम भी उसके कलात्मक स्वरूप की ओर इंगित करते हैं।

पुराणों के अनुसार एक कल्प के व्यतीत हो जाने पर नैमित्तिक प्रलय हुआ करता है। प्रलय के पश्चात् पुनः एक कल्प लम्बी प्रलयरात्रि होती है। इसके अतिरिक्त

---

१. विष्णु० १।४।६ जगत्येकार्णवीकृते। नागपर्यङ्कशयने शेते च परमेश्वरः।
२. भाग० ६।१६।२०।
३. वही. ५।२५।२ यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन् एव शीर्षणि ध्रियमाणसिद्धार्थ इव लक्ष्यते।
४. भाग० १२।११।१३ अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।
५. विष्णु० १।२।२४ विष्णोः स्वरूपात्परतो हि ते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपान्तरं तद्द्विज कालसंज्ञम्॥

प्रत्येक चतुर्युग के पश्चात् दूसरे चतुर्युग का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार एक कल्प में एक सहस्र युग परिवर्तन होते हैं।

शेषनाग के सहस्रफन से नैमित्तिक प्रलय का काल तथा एक-एक फन से युगपरिवर्तन का प्रदर्शन पुराणकारों ने किया है। शेषनाग के एक फन के ऊपर पृथ्वी के टिके होने की बात भी प्रतीकात्मक है। पृथ्वी पर जो कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगात्मक व्यवस्थाएँ प्रवर्तित होती हैं वे अपने अस्तित्व के लिए इन्हीं कालमूर्ति शेषनाग के युगरूपी फन पर टिकी हुई हैं न कि किसी वास्तविक नाग के शीर्ष पर।

शेषनाग और क्षीरार्णव

उपर्युक्त स्थापनाओं के विपरीत अन्य अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने मत प्रतिपादित किये हैं। श्री एलिन डेनिलो के अनुसार प्रलयान्त में अवशिष्ट तत्त्व ही शेष है जो कि कारण—जल के ऊपर तैरता रहता है।[१]

श्री वासुदेव जी के अनुसार विश्व की प्रलयापन्न आपोमयी अवस्था पुराणों का क्षीरसागर है तथा प्रलयान्त में बचे हुए ब्रह्म ही शेषनाग हैं।[२]

पं. मधुसूदन जी ओझा के अनुसार वायु का समुद्र ही शेषनाग है।[३]

श्री सिन्धु डेन्जे के अनुसार प्रलयान्त में केवल जल तत्त्व ही शेष रह जाता है। इस जल तत्त्व के देवता शेषनाग हैं। जिनके सहस्रशीर्ष की कल्पना पुरुषसूक्त के सहस्रशीर्षा पुरुष के आधार पर की गयी है। जल और सर्पों के परस्पर सम्बन्ध (सर्प बहुधा जलाशयों के तटों पर रहना ही पसन्द करते हैं) का भी इस विराट् कल्पना में पुराणकारों ने ध्यान रखा है।[४]

श्री पिल्ले नासदीय सूक्त में वर्णित विश्व की सर्वसलिलमय अवस्था को पुराणों की क्षीरसागर की कल्पना का स्रोत कल्पित करते हैं। इस क्षीरार्णव में विचरते हुए काल तत्त्वात्मक शेषनाग को जिनकी युगरूपी असंख्य आँखें हैं, वे बुद्धि (विज्डम) का प्रतीक बतलाते हैं।[५]

मेरे विचार से ब्रह्म की सहस्रमहायुगात्मक कालशक्ति को सहस्रफनवाले नाग या सर्प के रूप में चित्रित करने का अभिप्राय काल की सर्वदंशकता को प्रदर्शित करना है। जिस प्रकार नाग द्वारा दंशित का मरण सुनिश्चित है उसी प्रकार काल दंशित का भी। जिस प्रकार नाग का विष दुर्जेय किंवा अजेय है वैसे ही काल को जीतना भी। किन्तु चूँकि नारायण कालजयी हैं इसलिए वे इस महाविकराल काल को शय्या बनाने

---

१. हिन्दूपालीथीइज्म, पृ. १६३।
२. अग्रवाल — दि पुराण एण्ड दि हिन्दू रिलीजन, पुराणं ६।२।१९६४।
३. ओझा — पद्मयोनि ब्रह्मा, पुराणं २।१-२।१९६०।
४. डेन्जे—शेष—दी कास्मिक सर्पेण्ट।...पुराणं—७।१।१९६५।
५. हिन्दूगाड्स०, पृ. ११७।

में सफल हुए हैं। काल केवल नारायण या ब्रह्मा के वश में है, इसे ही उनके [illegible] द्वारा दर्शाया गया है।

पद्मनाभ

पुराणों के अनुसार क्षीरार्णववासी शेषशायी भगवान् नारायण कल्प के आरम्भ में अपनी नाभि से एक विशाल पद्म उत्पन्न करते हैं।[1] इस पद्म से लोकस्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं।[2] नाभि से पद्म के निकलने के कारण नारायण को पद्मनाभ तथा ब्रह्मा को पद्म से जन्म लेने के कारण पद्मयोनि कहा जाता है।

पुराणों का यह रहस्यमय नाभिकमल क्या है?

पुराणों के अनुसार यह नाभिकमल सप्तलोकात्मक लोकपद्म, विश्वपद्म अथवा पृथ्वीपद्म है।[1]

यदि पुराणों के इस वचन को माना जाये तो भूर्भुवादि सप्त लोकपर्यन्त जितना भी पृथ्वीधातु निर्मित लोक है वह सब विष्णु या नारायण की नाभि से उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। पुराणो के अनुसार चूँकि यह सप्तलोकात्मक विश्व प्राकृत प्रलय के पश्चात् उत्पन्न हुआ है इसलिए यह विश्वात्मक नाभिपद्म भी उतना ही पुराना है।

इस विश्व की, पद्म रूप में कल्पना का कारण स्पष्ट है कि जिस प्रकार पद्म या कमल का फूल क्रम-क्रम से संकुचित एवं विकसित होता है उसी प्रकार यह विश्व पद्म भी सृष्टि और प्रलय के अनुसार खिलता और बन्द होता है अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होता है। किन्तु यदि पुराणों के महीपद्म को केवल सप्त या चतुर्द्वीपात्मक पृथ्वीरूपी कमल ही माना जाये तो चूँकि प्रत्येक नैमित्तिक प्रलय के पश्चात् यह पृथ्वी एकार्णवरूप महाजलाशय के मध्य (नाभि) से एक कमल के समान उत्पन्न या प्रकट हुआ करती है। इसलिए उसे पद्मरूपा कहा जा सकता है।

वस्तुतः जलमग्न पृथ्वी के पुनः जलस्तर से ऊपर उठने की घटना को सूचित करना ही इस पौराणिक कल्पना का उद्देश्य है। इस पृथ्वीपद्म के मध्य से ब्रह्मा के प्रकट होने की धारणा भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है कि भुवनात्मक लोक की उत्पत्ति के पश्चात् ब्रह्मा द्वारा सृजन का कार्य प्रारम्भ होता है। पहले लोकरचना होती है पश्चात् उसके निवासियों की।

श्री एलिन डैनिलो पुराणों के इसी मत को उपनिषद् के एक वचन द्वारा पुष्ट

---

१. वायु० २४।१२ — एवं तत्र शयानेन विष्णुना प्रभविष्णुना
आत्मरामेण क्रीडार्थं सृष्टं नाभ्यां तु पङ्कजम्।

२. स्कन्द० २।३।२१ — ब्रह्मा तु नाभिकमलादुत्पन्नस्तं व्यजिज्ञपत्।
नारायणादि पुरुष परमात्मन् नमोऽस्तु ते।

भाग० १।२।२, १०।४०।१ — ब्रह्मवै० १।३।१० ।

३. भाग० ३।८।१५ सर्वलोकपद्मं...। वही, ३।१०।७ वियद्व्याप्य पुष्करम्। वही, ११।२४।१० मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यम् ··तत्र आत्मभूः। विष्णुधर्म० ३।४६।१० विष्णुनाभौ समुत्पन्नं यत् पद्मं सा महीद्विज।

करते हैं।[1] श्री कल्याणी जी की दृष्टि में यह कमल अनन्त ब्रह्माण्ड, संकलित पंजाण्ड का प्रतीक है।[2]

नाभिकमल और ब्रह्माण्ड

नारायण की नाभि से लोकपद्म के निकलने तथा उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति की चर्चा कुछ पुराणों में उपलब्ध नहीं होती। वहाँ पर पद्म के स्थान पर भूर्भुवादि सप्तलोकों की कल्पना एक अण्डे के रूप में की गयी है और उस अण्डे को फोड़कर निकलनेवाले पुरुष को ब्रह्मा या सहस्रशीर्षादि के रूप में चित्रित किया गया है। जो भी हो इन दोनों कल्पनाओं का उद्देश्य भूर्भुवादि लोकों की उत्पत्ति बतलाना है। चाहे वह भगवान् के नाभिकमल से हुई हो अथवा हिरण्याण्ड भेदन से।

वाराह

पृथ्वीपद्म आदि की चर्चा के सन्दर्भ में नारायण के वाराह अवतार से सम्बन्धित पौराणिक कथा का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

पुराणों के अनुसार प्रलय काल में यह पृथ्वी जलप्लावन के कारण जल में डूब जाती है और चारों ओर जल ही जल दिखलाई देता है उसी समय भगवान् नारायण जल में—नारा में निविष्ट होते हैं। इस नारा में प्रवेश या अयन (नारायाम् अयनात् गमनात् वा) के कारण वे नारायण कहलाते हैं। लेकिन सर्ग के आरम्भ में वही भगवान् नारायण वाराह रूप से उस पृथ्वी को जल के बाहर लाते हैं। यह वाराह तत्त्व क्या है?

मेरे विचार से यह वाराह शब्द भी नारायण के समान जल वाचक वार् शब्द से निर्मित हुआ है। वाराह का अर्थ है वार् अर्थात् जल को आहृत करनेवाला। जो भगवान् जल में प्रवेश करने के कारण नारायण कहलाते हैं, वही भगवान् उस जल को आहृत करके—हटा करके लौटने के कारण (वारं आहृत्वा आगमनात् वाराहः) वाराह कहे जाते हैं। उनकी यह विशेषता वाराह या सुअर से भी मिलती है। जिस प्रकार सुअर के द्वारा (अपने खाद्यादि का अनुसन्धान करने के लिए) जल में मुँह डालने पर मिट्टी आदि बाहर आ जाती है उसी प्रकार जल से बाहर आनेवाले नारायणात्मक वाराह के साथ जलमग्ना पृथ्वी भी बाहर (जल स्तर के ऊपर) आ जाती है।

विष्णु एवं नारायण

पुराणों में बहुधा विष्णु और नारायण शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है तथापि इन शब्दों के प्रयोग में एक सूक्ष्म अन्तर किया जाना चाहिए।

विष्णु, इस सृष्टि के केवल पालक देवता हैं जब कि नारायण इस सृष्टि के मूलभूत

---

१. गोपाल उत्तर० ५१ अहरिक् पङ्कजैर्भू विपद्मं विकसितं महत्।
संसाराम्बसंजातं सेवितं मम मानसे॥

२. हिन्दूपाली०, पृष्ठ १५६ पर उद्धृत।

कारण। विष्णु के रूप में नारायण का एक अंश ही अवतरित होता है जो कि सृष्टि की अव्यक्त शक्ति का अधिष्ठाता तथा ईश्वर है। नारायण ब्रह्म का निरुपाधिक रूप है जब कि विष्णु ब्रह्म का सोपाधिक रूप। नारायण ब्रह्म का स्वाधिष्ठित रूप है जब कि विष्णु मायाधिष्ठित रूप।

प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टि से नारायण एवं विष्णु का भेद करके नारायण को श्यामवर्ण, शंखचक्रगदापद्मधारी, चतुर्भुज तथा 'शेषशायी' के रूप में चित्रित किया गया है तथा विष्णु को शुक्लवर्ण शंख, चक्र, गदाधारी, चतुर्भुज किन्तु 'गरुडवाहन' के रूप में।

ब्रह्मा और नारायण

पुराणकारों ने जिस प्रकार विष्णु और नारायण में ऐकात्म्य माना है वैसे ही नारायण और ब्रह्मा में भी। ब्रह्मा को बहुधा नारायणात्मक ब्रह्मा कहकर सम्बोधित किया जाता है।[1] मेरे विचार से इन समानार्थक शब्दों के प्रयोग में भी सतर्कता वांछनीय है।

सामान्यतः नारायण, ब्रह्मा और विष्णु तात्त्विक दृष्टि से तो एक कहे जा सकते हैं किन्तु जहाँ तक उनके रूपों का प्रश्न है वे तीन ही माने जायेंगे। और जब उनके उन त्रिविध रूपों के प्रयोजनादि भी पृथक्-पृथक् हों तब तो उन्हें तीन मानने में कोई संकोच न होना चाहिए। मेरे विचार से नारायण प्रकृति-पुरुष गर्भित ब्रह्म हैं जब कि विष्णु केवल सत्त्वप्रधान अव्यक्त प्रकृति के अधिष्ठाता पुरुष तथा ब्रह्मा रजोमय महत्तत्त्व के अधिष्ठाता देवता।

विष्णु

प्रधान-विष्णु

ब्रह्म अथवा नारायण का प्रथम विकार अव्यक्त प्रकृति है। इसके अधिष्ठाता देवता विष्णु है। अव्यक्त प्रकृति के समान वे भी पूर्णतः सत्त्वमय किंवा सत्त्वपति हैं। भगवान् नारायण ही जगत्पालन के लिए वस्तुतः विष्णुत्व धारण करते है। पुराण, उपनिषद् आदि में उन्हे ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, अव्यक्त, विष्णु, प्रधानपुरुष आदि कहकर स्मृत किया गया है।

सृष्टिपालक

पौराणिक त्रिदेव में सत्त्वपति विष्णु का कार्य समस्त सृष्टि का पालन करना बतलाया गया है।[2] वे राजा, मनु, अवतारी पुरुष, कालशक्ति तथा सत्त्वगुण आदि का

---

१. विष्णु० १।३।२४ — एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।
वायु० ७।७१ — ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु अप्रकाशार्णवे स्वपन्।
२. विष्णु० १।२।६२ — सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्प विकल्पना।
सत्त्वभृद्भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः॥

आश्रय लेकर इस जगत् को बनाये रखते हैं।[1] इसके साथ ही वे ईश्वर रूप से सृष्टि के कर्ता एवं सृष्टि के संहर्ता भी हैं क्योंकि उन्हीं की आज्ञा से ब्रह्मा सृष्टि का निर्माण तथा शंकर उसका संहार करते हैं। वस्तुतः सृष्टि के कर्ता-संहर्ता ब्रह्मा-शंकर उनसे स्वतन्त्र अथवा भिन्न देवता नहीं हैं वरन् स्वयं विष्णु ही उनके रूप में प्रकट होकर सृष्टि के उपर्युक्त सृजन संहार रूप कार्य करते हैं।[2]

विष्णु मूर्ति

नारायण जब अपनी अव्यक्त प्रकृति का संचालन करते हैं तब वे विष्णु बन जाते हैं। इसके साथ ही उनका मौलिक रूप भी कुछ परिवर्तित हो जाता है। अब वह शेषशायी-नारायण न रहकर गरुड़वाहन-विष्णु हो जाते हैं। किन्तु उनका चतुर्भुज तथा शंख-चक्र-पद्म-गदाधारी रूप पूर्ववत् ही रहता है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन या विकार नहीं होता।[3] हाँ, उनका वर्ण परिवर्तन अवश्य ही हो जाता है। अब वे सत्त्वगुण प्रधान अव्यक्त प्रकृति के धारक होने से उसी के समान शुक्लवर्ण कल्पित किये जा सकते हैं।[4] उनके इस वर्ण परिवर्तन के सम्बन्ध में पुराणों में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है और वे बहुधा नारायण के ही समान कृष्णवर्ण माने गये हैं।[5] उनके इस वर्णविवाद का रहस्य अथवा कारण क्या है हम इसका अनुसन्धान करेंगे साथ ही उनके आयुध, वाहन आदि का भी रहस्य प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

शुक्लवर्ण

विष्णु एवं शिव के वर्ण अर्थात् शरीर के रंग के सम्बन्ध में विवाद का अस्तित्व प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। इसके मूल में हमें दो कारण दिखलाई देते हैं।

प्रथम यह कि पुराणकारों ने बहुधा नारायण एवं विष्णु में भेद नहीं किया है। जिसके कारण नारायण का कृष्णवर्ण विष्णु को भी प्राप्त हो गया। यद्यपि नारायण एवं विष्णु के चतुर्भुज तथा शंख-चक्र-पद्म-गदाधर रूप में कोई अन्तर नहीं है और न उनका तत्त्व ही भिन्न है तथापि एकांकी ब्रह्म अर्थात् नारायण तथा अव्यक्त प्रकृति के पति विष्णु में भेद करना ही पड़ता है। इस भेद के फलस्वरूप उनके रूप में भी अल्प

---

१. विष्णु० १।२२।२६-२७ — एकांशेन स्थितो विष्णुः करोति प्रतिपालनम्।
मन्वादिरूपश्चान्येन कालरूपेण परेण च॥
सर्वभूतेषु चान्येन संस्थितः कुरुते स्थितम्।
सत्त्वगुणं समाश्रित्य जगतः पुरुषोत्तम॥

२. गरुड० १।४।११ — ब्रह्मा भूत्वासृजद् विष्णुर्जगत्पाति हरिः स्वयम्।
रुद्ररूपी च कल्पान्ते जगत्संहरते प्रभुः॥

३. पद्म० क्रिया० २२ — चतुर्बाहुः श्यामवर्णः प्रफुल्लकमलेक्षणः।
शंखचक्रगदापद्मधारी गरुडवाहनः॥

४. रामायणोपक्रम० — शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।

५. पद्म० क्रिया० २२ — प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये॥

परिवर्तन मानना पड़ता है। विश्व की सृष्टिविहीन तमोमय अवस्था के अधिष्ठाता नारायण का वर्ण इसी तमोमय अवस्था के समान काला तथा सृष्टि के पालक सत्त्वपति विष्णु का रंग सत्त्वगुण के समान श्वेत मानना पड़ता है।

इस वर्णविवाद का दूसरा कारण है—शिव और विष्णु की प्रधानता सम्बन्धी विवाद।

शिव को ईश्वर माननेवाले उपनिषद् तथा पुराणादि में शिव को अव्यक्त प्रकृति का अधिष्ठाता माना गया है। चूँकि अव्यक्त प्रकृति सत्त्वगुण प्रधान होती है और सत्त्वगुण को श्वेतवर्ण माना गया है इसलिए उसका वर्ण भी श्वेत—गौर माना गया है तथा विष्णु को तमोगुण प्रधान अहंकारात्मक मानने से उनका वर्ण काला माना गया है।[1] रजोगुणात्मक ब्रह्मा को शैव भी, वैष्णवों की भाँति, रक्तवर्ण मानते हैं अतः उनका वर्ण विवाद से परे है। किन्तु विष्णु को अव्यक्ताधिष्ठाता ईश्वर मानने पर शिव अहंकारात्मक सिद्ध होते हैं और तदनुरूप शिव का वर्ण काला तथा विष्णु का वर्ण श्वेत सिद्ध होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में इस विवाद को, नारायण तथा विष्णु में भेद करके, सृष्टि-विकास में त्रिगुणों के पूर्वापरत्व को ध्यान में रखकर तथा अहंकारात्मक इन्द्रिय व भूत सर्ग के अधिष्ठाता के रूप में शिव पुत्रों—कार्तिकेय तथा गणेश की प्रस्थापना करके—नारायण को काला, विष्णु को शुक्लवर्ण, ब्रह्मा को रक्तवर्ण, शिव को कृष्णवर्ण माना गया है। साथ ही राजस इन्द्रिय सर्ग के अधिष्ठाता कार्तिकेय को रजोगुण के वर्णानुकूल रक्तवर्ण तथा गणेश को तमोमय भूतसर्ग के कारण धूम्रवर्ण (काला) स्वीकार किया गया है। यद्यपि गणेश के वर्ण के सम्बन्ध में भी उपनिषदों मे विवाद है।—कोई उन्हें रक्तवर्ण, कोई श्वेतवर्ण मानते है—तथापि भूतसर्ग की तमोमयता तथा अग्निपुराण के साक्ष्य के आधार पर, उन्हें अन्तिम रूप से धूम्रवर्ण स्वीकार कर लिया गया है।

कृष्णवर्ण

शिव व विष्णु के वर्ण के सम्बन्ध में ऊपर जिस प्रवाद का उल्लेख किया गया है उसे सुलझाने में आधुनिक विद्वानों ने जिन युक्तियों का प्रतिपादन किया है उन्हें यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है क्योंकि बिना पूर्वपक्ष को प्रस्तुत किये स्वपक्ष की समीचीनता का स्थापना कथमपि सम्भाव्य नहीं है।

श्री करपात्री जी के अनुसार, सत्त्व व तमोगुण एक दूसरे के विपरीत स्वरूप-वाले है। चूँकि विष्णु आन्तरिक रूप से सत्त्वमय हैं इसलिए बाहर की ओर से काले

---

१. अथर्व शिख० १ — द्वितीया शुभा शुक्ला रौद्री रुद्रदेवत्या
तृतीया कृष्णा विष्णुमती विष्णुदेवत्या।

योग चूडा, ७५,७६ — ...सात्त्विको शुक्लो विष्णुः तामसः कृष्णो रुद्रः।

विष्णु धर्म० ३।४८।१६ — शुक्ला च प्रकृतिः सर्वा तेन शुक्लो महेश्वरः।

पैंगलोप० १।१ — अहंकाराभिधा स्थूलशक्तिरासीत्...तदभिमानी...विष्णु प्रधानपुरुषो भवति।

दिखलाई देते हैं। इसी प्रकार आन्तरिक रूप से तमोमय शिव बाहर की ओर से सत्त्वमय अर्थात् गौरवर्ण दिखलाई देते हैं।[1]

एक दूसरे स्थल पर वे कहते हैं, "श्री विष्णु और श्री शिव यथार्थ में परस्परात्मा हैं।....श्री शंकर तमोगुण के अधिष्ठाता हैं पर उनका वर्ण शुभ्र है और सत्त्वगुण के अधिष्ठाता श्री विष्णु का वर्ण शुभ्र नहीं श्याम है।....श्री शंकर श्री विष्णु का ध्यान करते हैं इस कारण उनका वर्ण शुभ्र है और श्री विष्णु श्री शंकर का ध्यान करते हैं इस कारण उनका वर्ण श्याम है।"[2]

श्री गोविन्दकृष्ण पिल्ले ने नासदीय सूक्त में वर्णित विश्व की सलिलपूर्ण एवं तमोमय अवस्था को पौराणिक विष्णु के कृष्णवर्ण में परिकल्पन के लिए उत्तरदायी माना है। लेकिन ऐसा करते समय वे वस्तुतः शेषशायी नारायण के वर्ण का आधार प्रतिपादित कर रहे होते हैं न कि जगत्पालक विष्णु का।[3]

श्री सुनीतिकुमार जी चाटुर्ज्या के अनुसार "आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु, भारत में आकर द्रविड़ों के एक आकाश देव से मिल गये, जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार आकाश के सदृश नीला और काला था।"[4]

चतुर्बाहु

नारायण के समान विष्णु के चार हाथ भी उनकी सर्वशक्तिमत्ता तथा अव्यक्त, महद्, अहंकार तथा तन्मात्र के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न लेखकों ने चार दिशाओं, चार पुरुषार्थों, चार वर्णों, चार वेदों तथा चार युगों को भी विष्णु के चतुर्भुजत्व का हेतु बतलाया है।[5] ओंकार या नाद ब्रह्म की चार मात्राओं; दिक्, काल, नियति एवं इच्छा—इन चार ब्रह्म शक्तियों तथा सृष्टि स्थिति प्रलय एवं उनसे परे ब्रह्म की निर्गुण अवस्था रूप चार अवस्थाओं से भी विष्णु एवं नारायण के चतुर्भुजत्व का सम्बन्ध योजित किया जा सकता है।

अष्ट बाहु

विष्णु को आठ भुजाओंवाले पुरुष के रूप में भी पुराणों ने चित्रित किया है। मेरे विचार से प्रकृति के उपर्युक्त चार विकारों का विस्तार ही इन आठ रूपों में किया गया है—अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्र—ये आठ तत्त्व ही विष्णु की इस अष्ट बाहु रूप-कल्पना के आधार हैं। सांख्यदर्शन में यही आठ पदार्थ अष्ट-प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ प्रकृतियों से ही विश्व की रचना विष्णु के अधिष्ठातृत्व में सम्पन्न होती है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार विष्णु की ये आठ भुजाएँ आठ दिशाओं की

---

१. हिन्दूपाली०, पृ. १५६ तथा २१४ पर उद्धृत। २. श्री भगवत्तत्त्व०, पृ. ६१८। ३. हिन्दू गाड्स०, पृ. ११७। ४. समन्वय की गंगा, पृ० ३४ पर उद्धृत। ५. हिन्दूपाली०, पृ० १५२।

प्रतीक हैं।[१] पुराणों के अनुसार भगवान् विष्णु इन आठ भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, नन्दक, खड्ग, बाण तथा ढाल धारण करते हैं।[२] भागवत पुराण के अनुसार खड्ग आकाश का, धनुष काल का, बाण इन्द्रियों का तथा ढाल तमोगुण की प्रतीक है।[3] इसके अतिरिक्त वहाँ पर भगवान् विष्णु के मुकुट, माला, कुण्डल आदि का भी व्याख्यान उपलब्ध होता है।

शंख

नारायण के समान विष्णु का शंख भी पंच भूततन्मात्र का प्रतीक है। भागवत-कार सम्भवतः जलोत्पन्न होने के कारण उसे जलतत्त्व का प्रतीक मानते हैं।[४] किन्तु शंख के नादोत्पादक गुण के कारण उसे नाद ब्रह्म अर्थात् ओंकार का प्रतीक भी माना जा सकता है। सर्वभूतों में प्रथमोत्पन्न आकाश का गुण भी नाद या शब्द है चूँकि शब्दात्मक आकाश से पंच भूत उत्पन्न होते है इसलिए शब्दोत्पादक शंख को पंचभूतों तथा तन्मात्रों का प्रतीक माना जा सकता है।

श्री एलिम डेनिलो के अनुसार शंख अस्तित्व या सत् का प्रतीक है तथा उसके आवर्त सृष्टि के क्रमिक विकास के प्रतीक। इसके अतिरिक्त वे पूर्वोक्त जलतत्त्व तथा नाद ब्रह्म से भी उसे सम्बन्धित करते हैं।[५]

श्री पिल्लै के अनुसार वह विष्णु द्वारा शंखासुर के वध तथा उनके असुर विदारक रूप का प्रतीक है।[६]

चक्र

नारायण के समान विष्णु का सुदर्शन चक्र भी अहंकार तत्त्व का प्रतीक है। श्रीमद्भागवत के अनुसार वह तेजतत्त्व अर्थात् अग्नि का प्रतीक है।[७] अन्य पुराण तथा उपनिषद् उसे मन का प्रतीक बतलाते है।[८] उनके इस विवेचन के पीछे चक्र तथा मन की निरन्तर गतिशीलता का प्रत्यय छिपा हुआ है। कुछ लोग उसे योगशास्त्र के षडर चक्र से अभिन्न बतलाते हैं तथा कुछ उसे कालचक्र।[९] मेरे विचार से विष्णु के जगत्पालनकर्ता स्वरूप के सन्दर्भ में उनका चक्र, गदा, शार्ङ्गादि आयुध धारण करनेवाला रूप, उनके धर्मरक्षक तथा असुरविदारक रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

१. विष्णुधर्म० ३।४७।८ — दिशश्चतस्रो धर्मज्ञ तावत्यो विदिशास्तथा। बाहवोऽष्टौ विनिर्दिष्टास्तस्य देवस्य शार्गिणः॥
२. भाग० १२।११।१०-२३। ३. वही,
४. भाग० १२।११।१४ — अपां तत्त्वं दरवरम्।
५. हिन्दूपाली०, पृ० १५५। ६ हिन्दूगाड्स, पृ० ११७।
७. भाग० १२।११।१४ — तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्।
८. विष्णु० १।२२।७१ — चक्रस्वरूप च मनो धत्ते विष्णुकरे स्थितम्।
गोपालोत्तर० — मनश्चक्रं निगद्यते।
९. नृसिंहपूर्व० ५।२ — षडरं वा एतत् सुदर्शनं महाष्चक्रम्।
अन्यत्र — कालचक्रप्रणेतारम्।

गदा

विष्णु की कौमोदकी गदा उनके शक्तिवान् होने की प्रतीक है। साथ ही वह महत्तत्त्व का भी प्रतिनिधित्व करती है।

भागवत इसे प्राण तत्त्व का प्रतीक बतलाता है।[1] उपनिषद् इसे शत्रुनिबर्हिणी साक्षात् कालिका स्वरूप बतलाती है।[2] श्री पिल्ले उसे शक्ति का तथा श्री डेनिलो परम्परानुसार बुद्धितत्त्व का प्रतीक मानते हैं।

जैसा कि चक्र के सन्दर्भ में कहा जा चुका है, विष्णु की गदा दुष्टहन्ता तथा साधुपालक है। उसके कौमोदकी नाम से भी यही ध्वनित होता है। कौ अर्थात् पृथ्वी तभी मुदित होती है जब उसके धरातल पर दुष्टों का दमन हो जाता है।

पद्म

नारायण की भाँति विष्णु के हाथ में धारण किया गया कमल का फूल भी उनकी अव्यक्त-व्यक्तरूपिणी माया का प्रतीक है। जैसे कमल के पुष्प की कुसुमित, विकसित तथा निमीलित ये तीन अवस्थाएँ होती हैं वैसे ही संकोच-विकासशील अव्यक्त प्रकृति की अव्यक्त-व्यक्त अथवा सृष्टि स्थिति एवं संहारात्मक तीन अवस्थाएँ (सृष्टिरूपी दिवस में) हुआ करती हैं।

भागवत के अनुसार इसे धर्मज्ञानादि युक्त सत्त्वगुण का प्रतीक माना गया है।[3] इस हस्तपद्म के अतिरिक्त विष्णु का सम्बन्ध अन्य पद्मों से भी बतलाया गया है। वे कमल नेत्र, कमलमालिन्, कमलनाभ तथा कमलापति हैं।[4]

श्री एलिन डेनिलो इसे कारण जल के बीच समुत्पन्न विश्व कमल बतलाते हैं।[5] लेकिन यह मत नारायण के पद्मनाभ रूप के लिए तो ठीक है तथापि नारायण या विष्णु के इस कमल के लिए नहीं क्योंकि विष्णु का हस्तकमल उनके नाभिकमल से पृथक् एक अन्य कमल है।

श्री करपात्री जी के अनुसार यह कमल अनन्त ब्रह्माण्ड संवलित जडाण्ड का प्रतीक है।[6] श्री पिल्ले इसे ब्रह्मा की उत्पत्ति का प्रतीक बतलाते हैं।[7]

गरुड़

गरुड़ विष्णु का वाहन है। पक्षिराज गरुड़ दुष्टसंहारक विष्णु के समान दुष्ट-

---

१. भाग० १२।११।१४ — मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
२. कृष्णोप० २३ — गदा कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिबर्हिणी।
३. भाग० १२।११।१३ — धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।
४. गोपालपूर्व० २।३ — नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने।
नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः॥
५. हिन्दूपाली०, पृ. १५६।
६. हिन्दूपाली०, पृ० १५६ पर उद्धृत।
७. हिन्दूगाड्स, पृ० ११७-१८।

स्वभाव सर्पों का शत्रु तथा साधुस्वभाव पक्षियों का मित्र तथा राजा भी है। मेरे विचार से सृष्टिपालक विष्णु की प्रजापालन में तत्परता के गुण को प्रदर्शित करने के लिए इस पक्षी को चुना गया है। गरुड़ सर्वपक्षियों में उत्तम, बलवान् तथा अप्रतिहत गति साथ ही तीक्ष्ण दृष्टिवाला पक्षी माना जाता है।[१] वह पक्षियों के जन्मजात वैरी सर्पों का निग्रह करनेवाला होने से पक्षियों का सहज हितैषी है। उसका यह स्वभाव विष्णु के समान होने से वह निश्चय ही विष्णुवाहन होने के योग्य है।

श्रीमद्भागवत में इन्हें वेद का प्रतीक बतलाया गया है।[२] और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मन का प्रतीक।[३] गरुड़ के एक अन्य नाम सुपर्ण का निर्वचन यास्क ने आदित्यरश्मय: (सूर्य की किरणें) किया है। जिसके अनुसार सूर्यरूपी विष्णु का वाहन उसकी स्वयं की सुपर्ण अर्थात् रश्मियाँ हैं।[४] श्री वासुदेव जी इसे छन्दोमयी गति या सुपर्ण रूप से कलात्मक सूर्य बतलाते हैं।[५]

ब्रह्मा

महान् ब्रह्मा

अव्यक्त प्रकृति का प्रथम विकार महान् या महत्त्व है। इसका अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा है।

ब्रह्मा को पुराणों में मन, महान्, मति, भू, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संम्वद, विपुर, क:, प्रथमशरीरी, पुरुष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, स्रष्टा, अज, विधाता, कमलयोनि, मण्डज, विरंचि, पितामह, रजोमूर्ति, हंसवाहन इत्यादि अनेक नामों से स्मृत किया गया है।[६]

महाभारत में भी उन्हे हिरण्यगर्भ, अज, विरंचि, बुद्धि महान् आदि कहा गया है।[७]

---

१. रामायण किष्किं० गरुत्मानिति विख्यातः उत्तमः सर्वपक्षिणाम्।
वही. बाल० १७।३२,१६ ते तार्क्ष्य बलसम्पन्नः इत्यादि।
वैनतेयसमां जवे...।

२. भाग० १२।११।१६ त्रिवृद्वेद: सुपर्णाख्यो।

३. विष्णुधर्मो० १।४७।७ मनस्तु गरुडो ज्ञेयः सर्वभूतशरीरगम्।
तस्माच्छीघ्रतरं नास्ति तथैव बलवत्तरम्॥

४. उपनिषद् चिन्तन, पृ० ८१।

५. अग्रवाल—दी पुराण एण्ड दि हिन्दू रिलीजन।

६. वायु० ४।२७, २८ मनोमहांश्च मतिर्ब्रह्मा भूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं चोच्यते बुधैः।
वही. ४।२१-४३; ४।७७-९८; ६।२-३; ७।६६, ६७।

७. महाभारत १३।१६८।२८ हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः॥

सृष्टिकर्ता

पुराणों में ब्रह्माजी की ख्याति सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले देवता के रूप में है। वे अपने शरीर तथा मन से इस चराचर जगत् को उत्पन्न करते हैं। उनके प्रजापति, विश्वकर्मा, स्रष्टा, विधाता आदि नाम उनके इस गुण को प्रकट करते हैं।

ब्राह्म मूर्ति

पुराणों में ब्रह्मा की चतुर्मुख, चतुर्बाहु, बृहज्जठर, लम्बकूर्च, जटायुक्त हंसवाहन मूर्ति का विधान पाया जाता है। उसके चार हाथों में माला, आज्यस्थाली, स्रुवा तथा कमण्डलु रखने का विधान भी वहाँ पाया जाता है। उनकी मूर्ति के दायें बायें सावित्री तथा सरस्वती स्थापना की प्रथा भी प्रचलित है।[1]

रक्तवर्ण

प्रकृति के रजोगुण के अधिष्ठाता होने से, रजोगुण के समान, उनका रंग रक्तारुण पद्मागर्भवत् माना गया है।[2]

चतुर्मुख

बुद्धि या महत्त्व के अधिष्ठाता ब्रह्मा के चार मुख कल्पित किये गये हैं। मेरे विचार से बुद्धितत्त्व के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य ये चार भाव ही ब्रह्मा के चार मुख हैं।[3]

पुराणों ने ब्रह्मा के चार मुखों को चार वेदों से अभिन्न बतलाया है।[4] अन्यत्र उन्हें चतुर्वेद के अतिरिक्त चतुर्युग, चतुर्वर्ण आदि का प्रतीक बतलाया गया है।[5]

चतुर्भुज

ब्रह्मा के चार मुखोंकी भाँति चार हाथ भी कल्पित किये गये हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार वे चार दिशाओं के प्रतीक हैं।[6]

---

१. अग्नि० ४९।१४,१५ चतुर्मुखश्चतुर्बाहुर्बृहज्जठरमण्डलः।
लम्बकूर्चो जटायुक्तो ब्रह्मा हंसाग्रवाहनः॥
दक्षिणे चाक्षसूत्रं स्रुवो वामे तु कुण्डिका।
आज्यस्थाली सरस्वती सावित्री वामदक्षिणे॥
मत्स्य० २६१।४०-४४; विष्णुधर्मो० ३।४४।६-७।

२. विष्णुधर्मो० ३।४६।७ अरुणो रजसो वर्ण तेन पद्मागर्भनिभम्।
ब्रह्मा देववरो ज्ञेयो सर्वभूतनमस्कृतः॥

३. सां० कारिका० २३ अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानविराग ऐश्वर्यं।
(सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥)

४. विष्णुधर्मो० ३।४६।८ ये वेदास्ते मुखा ज्ञेयाः।

५. रूपमण्डनम् २।६ ऋग्वेदादि प्रभेदेन कृतादियुगभेदतः। विप्रादिभेदेन चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्।

६. विष्णुधर्मो० ३।४६।९ चतस्रो बाहो दिशः।

किन्तु इन चार हाथों में गृहीत यज्ञीय सामग्री उन्हें यज्ञ तथा उसके कर्मकाण्ड से सम्बद्ध करती हैं। आज्यस्थाली और स्रुवा तो निश्चय ही यज्ञीय पात्र हैं। जल की कमण्डलस्थ राशि की यज्ञोपयोगिता से भी मुख नहीं मोड़ा जा सकता तथा यज्ञाहुतियों की संख्या आदि की गणना के लिए अक्षमाला का उपयोग भी विधेय है। इस प्रकार ब्रह्मा के ये चारों उपकरण उन्हें यज्ञ-याग से सम्बद्ध करते हैं।

वेदयज्ञमयं रूपं

पुराणों में ब्रह्मा को वेदयज्ञमय कहा है।[1] वहाँ ब्रह्मा के मुखों को चार वेदों से अभिन्न बतलाया गया है अतः उनके वेदमय होने में कोई शंका है नहीं। पुनश्च उनके द्वारा गृहीत (पूर्वोक्त) स्रुवादि चार यज्ञीय उपकरण उन्हें यज्ञमय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

इस प्रकार ब्रह्मा के चार मुख ज्ञानात्मक चतुर्वेद के तथा चार हाथ व उनमें गृहीत यज्ञ सामग्री क्रियात्मक यज्ञों की प्रतीक है। ब्रह्मा का आग्नेय वर्ण, यज्ञ की प्रज्वलित अग्निशिखा का विचार उद्बुद्ध करता है।

यदि सृष्टि की एक यज्ञ के रूप में कल्पना की जाये तो निश्चयेन वेदयज्ञात्मक ब्रह्मा उसके प्रधान ऋत्विक् अर्थात् ब्रह्मा ही सिद्ध होंगे।

बृहज्जठर

ब्रह्मा की बृहज्जठर अर्थात् बड़े पेटवाले के रूप में कल्पना भी उनके महत्तत्त्वात्मक रूप की ओर संकेत करती है। जिस प्रकार महान् उदर में सब कुछ समाहित हो जाता है उसी प्रकार प्रलयकाल में महत्तत्त्वात्मक ब्रह्मा के महाउदर में समस्त प्रपंच समाहित हो जाता है। पुनः ब्रह्मा के बृहज्जठरत्व से उनके महान् ज्ञान तथा तप के आगार होने का कल्पना भी की जा सकती है।

स्थविर

ब्रह्मा को लम्बी श्वेत दाढ़ी-मूँछोंवाले तथा जटाजूटवाले वृद्ध पुरुष के रूप में, चित्रित करने के विधान के पीछे, महत्तत्त्व के आदिमत्व तथा सर्वप्राचीनत्व को सूचित करने का अभिप्राय निहित दिखलाई देता है।

महत्तत्त्व का आदिमत्व ही उनके पितामह रूप में कल्पन का दृढ़ आधार है। इससे उनके वयोवृद्धत्व के अतिरिक्त ज्ञान तथा तपोवृद्धत्व का भी आभास कराया जा सकता है।

हंसवाहन

हंस का नीरक्षीरविवेक एक अतिपुरातन लोक रूढ़ि है। हमारे देश में हंस को

---

१. विष्णु० १।४।६ वेदयज्ञमयं रूपं···परमात्मा प्रजापतिः॥

सर्वाधिक विवेकी पक्षी माना गया है।[1] उसकी इसी विवेकशीलता तथा ब्रह्मा की वेदज्ञानमयता को ध्यान में रखते हुए पुराणकारों ने उसे ब्रह्मा के वाहन के रूप में नियुक्त किया है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार ब्रह्मा का सप्तहंसरथ भूर्भुवादि सप्तलोकों का प्रतीक है।[2]

योगचूड़ामणि उपनिषद् के अनुसार हं तथा स ध्वन्यात्मक प्राणअपान ही हंस है।[3] चूँकि ब्रह्मा से अभिन्न महत्तत्त्व या बुद्धि का सामान्य व्यापार प्राणापान रूप माना गया है।[4] इसलिए महदात्मक ब्रह्मा को, इस प्राण व्यापारात्मक कार्य को, हंस के रूप में चित्रित करना युक्तियुक्त है।

उपर्युक्त उपनिषद् के प्राणहंसवाद का निषेध करते हुए परब्रह्मोपनिषद् में उसे प्रणव हंस बतलाया गया है जो कि परमब्रह्मात्मक है।[5]

श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल हंस को व्याष्टिमन तथा उसकी विहारभूमि मानसरोवर को समाष्टिमन बतलाते हैं। उनकी सम्मति में इस व्यष्टिसमष्ट्यात्मक मन का उपभोग करनेवाला ब्रह्मा बुद्धितत्त्व अर्थात् विश्वचेतना का प्रतीक है।[6]

शिव

अहंकार शिव

अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहंकारतत्त्व उत्पन्न होता है। इस अहंकार तत्त्व के अधिष्ठाता शिव हैं। पुराण भी शिव के अहंकारात्मक स्वरूप का निर्देश करते हैं।[7]

पुराणों में बहुधा विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा तथा ब्रह्मा के क्रोध से रुद्र

---

१. कौस्तुभे, — सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु,
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।
नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वेऽस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

२. विष्णुधर्मो० ३।४६।१३ — ये लोकास्ते रथे हंसा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

३. योगचूडा० ३० — हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

४. सां० कारिका २९ — सामान्यकरण वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।

५. परमब्रह्मो० — प्रणवः हंसः परं ब्रह्म। न प्राणहंसः॥

६. अग्रवाल — दी पुराणाज एण्ड दी हिन्दू रिलीजन।

७. वायु० ९।१०३ — अभिमानात्मकं भद्रं निर्ममे नीललोहितम्।
भाग०.१०।८८।३ — शिवः शक्तियुतः शाश्वत त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥

अर्थात् शिव की उत्पत्ति का उल्लेख है।[1] त्रिदेव के इस उत्पत्ति क्रम से उनका पूर्वापरत्व सिद्ध है अर्थात् विष्णु प्रथम, ब्रह्मा द्वितीय तथा शिव तृतीय स्थान अपनी जन्मजात ज्येष्ठता के अनुसार रखते हैं।

सृष्टिसंहारक

पुराणों के प्रसिद्ध त्रिदेववाद के अनुसार ब्रह्मा इस सृष्टि के रचनेवाले देवता, विष्णु इसका पालन करनेवाले देवता तथा शिव इसका संहार करनेवाले अर्थात् प्रलय के देवता माने गये हैं।[2]

पुराणों में शिव को शंकर, महेश्वर, महादेव, रुद्र, नीललोहित इत्यादि नामों से स्मृत किया गया है। उनके शरीर के अंगोपांगों की संख्या आदि के अनुसार उनके सहस्राधिक नाम प्रसिद्ध हैं—यथा पंचानन, दशबाहु, त्रिनेत्र, त्र्यम्बक, त्रिशूली, अष्टमूर्ति, भूतनाथ, चन्द्रधर, अर्धनारीश्वर, वृषभवाहन इत्यादि।

शिवमूर्ति

पुराणों में शिव की पंचमुख, दशबाहु, त्रिनेत्र, त्रिशूली, जटाजूटयुक्त, चन्द्रधर तथा गजव्याघ्रचर्माम्बरधर मूर्ति का विधान पाया जाता है। वृषभ इनका वाहन माना गया है। उनके हाथों में शक्ति, यष्टि, त्रिशूल, कमल, डमरू आदि आयुधों का भी विधान किया गया है।[3]

श्वेत वर्ण

पुराणों में उन्हें श्वेत वर्ण चित्रित किया गया है। उनका वाहन वृषभ भी श्वेत वर्ण है। महाभारत के एक उल्लेख के अनुसार वे सर्वश्वेत हैं। उनका रंग, वाहन,

---

१. भाग० ३।१२।७ — सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः।
अग्नि० १७।१४ — रुद्रं च ससर्ज क्रोधसंभवम्।
वायु० ६।७० — रुद्रं रोषात्मसंभवम्।

२. गरुड० १।४।११ — रुद्ररूपी च कल्पान्ते जगत्संहरते प्रभुः।
विष्णु० ६।३।१६ — ततः स भगवान् विष्णू रुद्ररूपधरोऽव्ययः।
क्षयाय यतते कर्तुमात्मस्थास्सकला प्रजाः॥

३. विष्णुधर्मो० ३।४४।१४-१८।
देवदेवं महादेवं वृषारूढं तु कारयेत्।
तस्य वक्त्राणि कार्याणि पञ्च यादवनन्दन॥
त्रिनेत्राणि च सर्वाणि वदनं ह्युत्तरं विना।
जटाकपाले महति तस्य चन्द्रकला भवेत्॥
दशबाहुस्तदा कार्यो देवदेवो महेश्वरः।
अग्नि० ७४।५०,५१ — न्यसेत सिंहासने देवं शुक्लं पञ्चमुखं विभुम्।
दशबाहुं च खण्डेन्दुं दधानं दक्षिणैः करैः॥
शक्त्यष्टिशूलखट्वाङ्गं वरदं वामकैः करैः।
डमरुं बीजपूरं च नीलाब्जसूत्रकोत्पलम्॥

वस्त्र, माला आदि सभी श्वेतवर्ण हैं।[1] विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार शिव अव्यक्त प्रकृति के, वे अधिष्ठाता माने गये हैं, वह भी पूर्णश्वेता है।[2] शिव की पत्नी भी श्वेतवर्णवाली अर्थात् गौरी हैं। उनका निवासस्थल कैलास पर्वत भी (सर्वदा हिमाच्छादित रहने के कारण) श्वेत वर्ण है।

कृष्ण वर्ण

जैसा कि विष्णु के शुक्ल-कृष्ण वर्णत्व के प्रसंग में कहा जा चुका है कि यदि शिव को ब्रह्म के प्रथम विकार प्रधान अर्थात् सत्त्वप्रधान अव्यक्त प्रकृति का अधिष्ठाता माना जाये तो उनका वर्ण सर्वश्वेत सिद्ध होगा और यदि उन्हें अहंकार का अधिष्ठाता देव माना जाये तो वे अहंकार के तमोमय होने से तदनुरूप कृष्ण वर्ण सिद्ध होंगे।

प्रस्तुत निबन्ध में उन्हें अहंकारात्मक मानकर ही चला गया है। निम्नांकित विवेचन से उनकी अहंकारात्मकता प्रमाणित होती है।

पंचानन भूतनाथ

पुराणों की सर्ग प्रक्रिया के अनुसार त्रिगुण भेद से अहंकार तीन प्रकार का है। उसके तामस अंश से पृथ्वी-जल आदि पंचभूत तथा उनकी तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।[3] शिव के पंचमुखात्मक रूप में उनकी पंचभूतात्मकता को ही दिखलाने का प्रयास हुआ है।

पुराणों में भी यही मत प्रतिपादित हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान—ये पाँच नाम शिव के पाँच मुखों के हैं। ये क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच भूतों के प्रतीक हैं।[4]

शिव का भूतनाथ या भूतेश्वर अभिधान भी इन्हीं पाँच भूतों की ओर संकेत करता है। परवर्तीकाल में उन्हें भूत-प्रेत आदि के स्वामी रूप में जो ख्याति प्राप्त हुई, उसका कारण सम्भवतः तन्मात्र वाच्य भूतादि-(भूतानां पञ्चमहाभूतानां आदिः प्रारम्भः) शब्द के अर्थ का अनर्थ करना रहा है।

श्री एलिन डेनिलो पंचभूत के अतिरिक्त पंचदिक्, पंचवर्ण, पंचइन्द्रिय तथा पंचसंख्या से विहित समस्त प्रपंच को शिव का मुखपंचक बतलाते हैं।[5]

---

१. महाभारत० १२।१०३६४।

२. विष्णुधर्मो० ३।४८ ११। जगतो यदभावस्तु प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।
शुक्ला च प्रकृतिः सर्वा तेन शुक्लो महेश्वरः॥

३. विष्णु० १।२।४६ भूततन्मात्रसर्गोऽयमहंकारात्तु तामसात्।

४. विष्णुधर्मो० ३।४८।१-३ सद्योजातं वामदेवमघोरं च महाभुजम्।
तथा तत्पुरुषं ज्ञेयमीशानं पञ्चमं मुखम्॥
सद्योजातमही प्रोक्ता वामदेवं तथा जलम्।
तेजस्त्वघमघोरं विख्यातं वायुस्तत्पुरुषमतम्॥
ईशानं च तथाकाशमूर्ध्वस्थं पञ्चमं मुखम्।

५. हिन्दूपाली, पृ० २१०।

श्री देवदत्त शास्त्री रुद्र को अग्न्यात्मक मानते हुए उनके पाँच मुखों को पंचाग्निमय बतलाते हैं।[१]

पचीस मुख

शिव को अव्यक्त प्रकृति का अधिष्ठाता ईश्वर माननेवाले पुराण एवं उपनिषद् उनकी कल्पना, पचीस मुखवाले पुरुष के रूप में करते हैं। इन पचीस मुखों की कल्पना प्रकृति तथा उससे उत्पन्न महदादिभूतपर्यन्त चौबीस तत्त्वों में, पुरुषात्मक शिव को पचीसवाँ तत्त्व मानकर की जाती है।[२]

एकमुख

यदि एकमुखधारी पुरुष के रूप में शिव की कल्पना की जाये तो शिव का जटाजूट पृथ्वीतत्त्व का, उसमें स्थित गंगा जलतत्त्व की, भालस्थ त्रिनेत्र अग्नितत्त्व का, गलस्थ वायुभुक् सर्प वायुतत्त्व का तथा शब्दात्मक करस्थ डमरू आकाशतत्त्व की प्रतीक होंगी। इस प्रकार शिव विग्रह के ये विचित्र अलंकार वस्तुतः उनकी पंचभूतात्मकता के प्रतीक हैं। यदि इनके साथ शिव के पाँच मुखों को पाँच महाभूतों का प्रतीक माना जाये तो उनके इन अलंकरणों को उनके पंचतन्मात्रात्मक स्वरूप का प्रतीक माना जा सकता है।

दशबाहु

पुराणों के अनुसार अहंकार के राजस रूप से दश इन्द्रियाँ तथा सात्त्विक अंश से इनके अधिष्ठाता दश देवता उत्पन्न होते हैं।[३]

मेरे विचार से ये दश इन्द्रियाँ या करण अहंकारात्मक शिव के दशबाहु अर्थात् दश करों के रूप में चित्रित किये गये हैं तथा इन दश करों में गृहीत विविध आयुध, इन दश करणों के अधिष्ठाता, दश देवताओं की शक्तियों के प्रतीक हैं।

पुराणकार शिव के दश हाथों को दश दिशाओं का प्रतीक बतलाते हैं।[४]

चन्द्रमा

शिव अपने मस्तक पर पंचमी के चन्द्रमा की कला धारण करते हैं इसीलिए उन्हें चन्द्रधर, चन्द्रशेखर या चन्द्रमौलि कहा जाता है। पुराण इसे शिव के ऐश्वर्य का प्रतीक बतलाते हैं।[५]

---

१. उपनिषद्चिन्तन, पृ० ६२।

२. भस्म जाबालोपनिषद् १ — महादेवं···स्मितसंपूर्णं पञ्चविंशपञ्चाननं···।
लिंग० ८५।२६ — शिव जातानि तत्त्वानि पञ्चविंशन्मनीषिभिः।

३. विष्णु० १।२।४६ — तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश॥

४. विष्णुधर्मो० ३।४८।१ — दिशो दशभुजास्तस्य विज्ञेयं वदनं प्रति॥

५. वही, ३।४८।१७ — ऐश्वर्यं तु कला चान्द्री मूर्ध्नि शंभोः प्रकीर्तिता।

पुराणों के अनुसार सात्त्विक अहंकार से मन व उसका देवता चन्द्रमा उत्पन्न होता है।[१]

मेरे विचार से शिव का चन्द्रधर रूप उनके सात्त्विक अहंकारात्मक रूप अर्थात् मनोमय रूप का प्रतीक है तथा चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाएँ, मन के संकल्प-विकल्पात्मक स्वरूप की प्रतीक।

इस प्रकार पंचानन, दशबाहु तथा चन्द्रधर शिव के रूप में हमें उनके पंचभूतात्मक, दशइन्द्रियात्मक तथा मनोमय स्वरूप के दर्शन होते हैं और इस प्रकार उन्हें अहंकार का मूर्तिमान् स्वरूप मानने में कोई आपत्ति अथवा शंका नहीं रह जाती।

श्री करपात्री जी के अनुसार चन्द्रमा सोमतत्त्व का प्रतीक है जिसे शिव जी, अग्नितत्त्व के प्रतीक, अपने तृतीयनेत्र के ऊपर धारण करते हैं।[२]

चन्द्रमा के षोडशकलात्मक रूप से, अहंकारजन्य सोलह पदार्थों (एकादश इन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्र) का निर्देश भी किया जा सकता है।

त्रिनेत्र त्र्यम्बक

पुराणों में शिव की कल्पना त्रिनेत्र पुरुष के रूप में की गयी है तथा उन्हें त्र्यम्बक अर्थात् तीन माताओंवाला (तीन माताओं का पुत्र) कहा गया है।

पुराणों के अनुसार शिव के ये तीन नेत्र सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के प्रतीक हैं।[3]

श्रीमती वेण्डी डोनीजर शिव के तीसरे नेत्र को तिलकरूप, शृंगार चेष्टामय तथा आग्नेय योगशक्ति समन्वित बतलाती हैं।[४]

हलायुध कोश मे अम्बक शब्द का अर्थ नयन या नेत्र करके, शिव को; त्रिनेत्र बतलाया है।[५] किन्तु एक उपनिषद् अम्बक का अर्थ स्वामी करती है और इस प्रकार त्र्यम्बक शिव को तीन लोकों का स्वामी बतलाती है।[६]

कुछ विद्वान् वेद में रुद्र शिव के लिए प्रयुक्त त्र्यम्बक शब्द का अर्थ तीन माताओंवाला करते हैं तथापि वे यह नहीं बतलाते कि त्र्यम्बक शिव की वे तीन माताएँ कौन हैं?[७]

मेरे विचार से त्रिगुणात्मक अहंकार के तीन गुण—सत्त्व, रज तथा तम—

---

१. विष्णु० १।२।४७ — एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः।

२ हिन्दूपाली, पृ० २१५-१६ पर उद्धृत।

३. विष्णुधर्मो० ३।४८।४ — नेत्राणि त्रीणि तस्याहुः सोमसूर्य-हुताशनाः॥

४. वेण्डी— 'दी सिम्बालिज्म ऑफ़ थर्ड आई ऑफ़ शिव-पुराणं १०।२।११६६, पृ० २७३-२८४।

५. हलायुधे — अम्बकं नयनं दृष्टिः।

६. त्रिपुरातापिनी ४।१ उपनिषद् — त्रयाणां पुराणां अम्बकं स्वामिनं तस्मादुच्यते त्र्यम्बकमिति।

७. वैदिक सा० सं०, पृ० ६२०–२१।

अहंकारात्मक शिव के तीन नेत्र हैं तथा इस त्रिगुणात्मक अहंकार का निर्माण करनेवाले त्रिगुण की विभिन्न मात्राएँ, त्र्यम्बक शिव की तीन अम्बाएँ (माताएँ) ।

त्रिशूली

शिव का प्रमुख आयुध शूल या त्रिशूल है । विष्णुधर्मोत्तरकार इस त्रिशूल के दण्ड को अव्यक्त प्रकृति तथा उसके तीन शूलों को उसके तीन गुणों का प्रतीक बतलाते हैं ।[1]

कुछ विद्वान् त्रिशूल को तापत्रय (आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक ताप या दुख) का प्रतीक बतलाते हैं । चूँकि अहंकार से ही इन दुखों की उत्पत्ति होती है अतः अहंकार के देवता शिव के, त्रिशूलायुध को तापत्रय का प्रतीक मानना असंगत नहीं है ।

अष्टमूर्ति

पुराणो में शिव के रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, उग्र, भीम तथा महादेव— ये आठ रूप भी प्राप्त होते हैं । वहाँ पर इन आठ रुद्रों के निवास स्थान के रूप में सूर्य, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण तथा चन्द्रमा का भी उल्लेख है ।[2]

रुद्रो के इन अष्ट आवासोंको शिव की अष्टमूर्तियाँ कहा जाता है ।

मेरे विचार से शिव की अष्टमूर्ति के रूप में कल्पना का आधार मूलप्रकृति की आठ प्रकृतियाँ—पंचतन्मात्र, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त हैं । सम्भवतः शिव को परमेश्वर माननेवाले विद्वानों ने अष्टमूर्ति शिव की कल्पना की है । जिस प्रकार शिव को परमतत्त्व माननेवालों ने उनके पचीस मुखों की कल्पना की है, उसी प्रकार उन्हें अष्टप्रकृतिमय माननेवालों ने उनकी अष्टमूर्तियाँ कल्पित की होंगी ।

मेरे मत से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाशात्मक पंच शिव मूर्तियाँ, पंचतन्मात्र किंवा पंचमहाभूतों की तथा शेष मूर्तियाँ महद्, अव्यक्त तथा अहंकार की प्रतीक हैं ।

श्री वासुदेव शरणजी पृथ्वी आदि पंचभूतात्मक मूर्तियों को पंचभूतात्मक तथा सूर्य-चन्द्रमा को प्राण-अपान एवं यजमान (दीक्षित ब्राह्मण) को मनसका प्रतीक बतलाते हैं ।[3]

एक अन्य लेख में वे चन्द्रमा को समाधि का प्रतीक बतलाते हुए रुद्रशिव को अग्नि तत्त्व का तथा गंगा को सोमतत्त्व का प्रतीक बतलाते है ।[4]

मेरे विचार से शिव की पाँच मूर्तियाँ प्रकटतः पाँच महाभूतों की प्रतीक हैं तथा

---

१. विष्णुधर्मो० ३।४८।१४ त्रिशूलं दण्डमव्यक्तं शूलेषु व्यक्ततां गतम्।
२. विष्णु० १।८।६-८ ।
३. अग्रवाल—पुराण—विद्या—पुराण १।१।१६५६ ।
४. अग्रवाल—दि पुराणाज एण्ड दि हिन्दू रिलीजन ।

उनकी चन्द्र एवं सूर्य रूप मूर्तियाँ सोम एवं अग्नितत्त्व की प्रतीक।

यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः इन्हीं दो तत्त्वों—अग्निषोम से निर्मित हुआ है। सोम या चन्द्रमा सोमतत्त्व का तथा अग्नि के समान उष्णतावाला सूर्य अग्नितत्त्व का प्रतीक है। भौतिक प्रकृति को बनानेवाले दिवस व रात्रि में इन्हीं दो तत्त्वों का प्राधान्य रहता है। दिवस में सूर्यात्मक अग्नितत्त्व प्रबल रहता है किन्तु रात्रि में सोम या चन्द्रात्मक सोमतत्त्व। यह सोमतत्त्व अपनी कलाओं द्वारा प्रकृति में न्यूनाधिक होता रहता है।

यदि इस पाँच भौतिक जगत् को एक यज्ञ के रूप में कल्पित किया जाये तो समस्त भौतिक पदार्थ उसकी समिधा होंगे, सूर्य उनको जलानेवाली अग्नि तथा चन्द्रमा उस अग्नि में दी जानेवाली सोमाहुति होगा। और इस सृष्टियज्ञ को सम्पादित करनेवाले यजमान होंगे—भगवान् शिव।

अर्धनारीश्वर

पुराणों में शिव की कल्पना एक ऐसे व्यक्ति के रूप में की गयी है जिसका आधा शरीर स्त्री का तथा आधा शरीर पुरुष का है। शिव का यह शरीर अर्धनारीश्वर के नाम से जाना जाता है।

शिव के इस रूप-विधान में उन्हें, परम पुरुष ब्रह्मात्मक मानकर, ब्रह्म से अभिन्न उसकी शक्ति—माया को स्त्र्यर्धरूप में अंकित किया गया है।

श्री विजयानन्द त्रिपाठी के अनुसार शिव का यह रूप अग्नि सोममय रूप है। पुरुष का अर्धांश अग्नि का तथा स्त्री का अर्धांश सोम का प्रतीक है।[१]

श्री करपात्री जी इसे शिवशक्ति के मिलन तथा विश्वोद्भव के संकेत के रूप में स्वीकार करते हैं।[२] श्री एलिन डेनिलो भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[३]

लिंग

पुरुष और स्त्री के गुप्तांगों का आभास देनेवाले शिवलिंग की पूजा हमारे देश में अति प्राचीन युग से चली आ रही है। उसका वास्तविक आधार क्या है? इसे हम खोजने का प्रयत्न करेंगे।

स्कन्दपुराण के अनुसार यह आकाश लिंग है और पृथ्वी उसकी पीठिका। यह आकाश इसलिए लिंग कहलाता है क्योंकि इसीमें समस्त देवताओं का निवास है एवं इसीमें उनका लय होता है।[२] आकाश को पुराणकार ने सम्भवतः इसलिए लिंग माना है कि उसका आकार शिवलिंग-जैसा अर्ध-गोलाकार है तथा वह पृथ्वीरूपी पीठिका पर अवस्थित दृष्टिगोचर होता है।

लिंगपुराण के अनुसार यह समस्त लोक ही लिंग स्वरूप है तथा इस लिंग में ब्रह्मा

---

१. हिन्दूपाली०, पृ० २०३ पर उद्धृत। २. वही, पृ० २०३ पर उद्धृत। ३. वही, पृ० २०३।

२. स्कन्दपुराण — आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथ्वी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते॥

से स्थावर पर्यन्त, सम्पूर्ण चर-अचर विश्व प्रतिष्ठित है।[1] लिंगपुराण के ब्रह्मादिस्थावरान्त की लिंग में प्रतिष्ठा के वचन पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि महत्तत्त्व, जिसका कि अधिष्ठाता ब्रह्मा है, से लेकर स्थावर अर्थात् पृथ्वी आदि भूत एवं उनसे निर्मित यह लोक—लिंग अर्थात् (महदादिभूत पर्यन्त समस्त पदार्थ समुदाय की जनयित्री) व्यक्त प्रकृति में प्रतिष्ठित है।

सांख्य दर्शन में व्यक्त प्रकृति के लिए एक विशेष शब्द है—लिंग। पुनश्च उसी दर्शन में अव्यक्त प्रकृति के लिए एक शब्द है—अलिंग।[2] अलिंग अर्थात् जो लिंग नहीं है याने योनि। इस प्रकार शिवलिंग के रूप में जिस लिंग अर्थात् चिह्न संकेत या मूर्ति की पूजा की जाती है, वह लौकिक स्त्री-पुरुषों के जननांग नहीं वरन् विश्व जननी व्यक्त एवं अव्यक्त प्रकृति की मूर्तिमान् प्रतिमा है।

शिवपुराण के अनुसार शिवलिंग चैतन्यमय तथा लिंगपीठ अम्बामय है।[3]

लिंगपुराण लिंग को महादेव शंकर तथा उसके आधार को शिवपत्नीमय बतलाता है।[4]

रुद्रहृदयउपनिषद् भी यही मन्तव्य प्रकट करती है।[5]

शिवलिंग की, शिव-शक्तिपरक इन व्याख्याओं के अतिरिक्त, त्रिदेवात्मक व्याख्या भी उपलब्ध होती है।

पुराणों मे शिवलिंग को त्रिदेवात्मक बतलाया गया है। लिंग के मूल में ब्रह्मा, मध्य मे विष्णु तथा शीर्ष पर भगवान् शिव का निवास माना गया है।[6]

इस प्रकार शिवलिंग—शिव-शक्ति के मिलन का, त्रिदेव के संघात का तथा व्यक्त-अव्यक्त प्रकृति का उपयुक्ततम प्रतीक है। लिंग और योनि के अतिरिक्त सृजन या सृष्टिविद्या का, और कौन-सा उपयुक्ततम प्रतीक होगा जब कि सृष्टि का प्रत्येक जीवधारी इन्हीं अंगों से सृष्टि-प्रवाह को गति दे रहा हो।

वृषभ

पुराणों में महादेव शिव का वाहन वृषभ अर्थात् बैल कल्पित किया गया है।

---

१. लिंगपुराण १०५।६ सर्वलिङ्गमयो लोकः सर्वं लिङ्गे प्रतिष्ठितम्।
वही, ६७।८ ब्रह्मादि स्थावरान्तं च सर्वं लिङ्गे प्रतिष्ठितम्।

२. सां० कारिका १० का गौडपाद भाष्य
तथा व्यक्तं लिङ्गं। अलिङ्गमव्यक्तं। महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते। नैव प्रधानं। तस्मादलिङ्गं प्रधानम्।

३. शिवपुराण १।११।२२ पीठमम्बामयं शिवलिङ्गश्च चिन्मयम्।

४. लिंगपुराण ६८।८ लिङ्गवेदी उमादेवी लिङ्गः साक्षान्महेश्वरः।

५. रुद्रहृदयो० २३ रुद्रो लिङ्गमुमापीठम्।

६. लिंगपुराण १।७३।१६ मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥
वही, २।६८।११ मूले ब्रह्मा वसति भगवान् मध्यभागे च विष्णुः।

उसका रंग शिवजी के ही समान शुभ्र श्वेत है। उसका नाम नन्दी है।

विष्णुधर्मोत्तरकार उसे सत्य, ज्ञान, तप तथा दान—इन चार पैरोंवाले धर्म का प्रतीक बतलाते हैं।[1] अन्य पुराणों में भी वृषभ को धर्मरूप बतलाया है।[2]

श्री एलिन डेनिलो वृषभ को काम का प्रतीक बतलाते हैं और उसपर आरूढ़ शिव को कामजित्।[3]

श्री देवदत्त शास्त्री के अनुसार शिव, वैद्युताग्नि के तथा उनका वाहन वृष, बादलों का प्रतीक है।[4]

मेरे विचार से वृषभ शक्तिसत्ता तथा अहंकार का प्रतीक है। वृषभ में निहित अपार प्रजनन शक्ति को ध्यान में रखते हुए, उसे काम तथा सृजनशक्ति का भी प्रतीक माना जा सकता है। यह वही काम है जिससे प्रेरित होकर शिव, विश्व-सृष्टि करते हैं।

कार्तिकेय

पुराणों में शिवपुत्र के रूप में गजानन गणेश तथा षड्मुख कार्तिकेय की प्रसिद्धि सुविदित है।[5] कार्तिकेय शिव के ज्येष्ठ पुत्र तथा गणेश के ज्येष्ठ भ्राता हैं। देवताओं की सेना—देवसेना के पति या अध्यक्ष रूप में भी उनकी कीर्ति पुराण जगत् में व्याप्त है।

महाकवि कालिदास का कुमारसम्भव महाकाव्य इन्हीं शिवपुत्र कुमार कार्तिकेय की यशोगाथा को लक्ष्य करके लिखा गया है। उनके नाम से एक महापुराण-स्कन्द पुराण तथा स्कन्दोपनिषद् भी प्राप्त होते हैं किन्तु स्कन्दोपनिषद् में उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

स्कन्द की पूजा हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। दक्षिण भारत में आज भी उनके भव्य मन्दिर एवं मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।[6] इनके सम्बन्ध में नवपण्डितों का विचार है कि द्रविड़ों के यहाँ यौवन, युद्ध और वीरता का एक अलग देवता था। जिसका नाम मुरूकन था। काल क्रम के अनुसार वही शिवजी के कुमार स्कन्द-कार्तिकेय हो गये।[7] कुछ विद्वान् मुरूकन के अतिरिक्त वेलन् तथा शैय्यवन् आदि दाक्षिणात्य देवताओं को भी स्कन्द से अभिन्न बतलाते हैं।[8] एक विद्वान्, शूद्रक के मृच्छकटिक के आधार से उन्हें धूर्त तथा लड़ाकू जातियों का देवता बतलाते हैं।[9]

---

१. विष्णुधर्मो० ३।४८।१८ वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः॥
गरुड० १।२११।५ धर्मश्च चतुष्पादः सत्यं दानं तपो दया।

२. भाग० ११।१७।११ धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
महाभारत मोक्ष० ३४२।८६ वृषो हि भगवान् धर्मः।
वही, ३४२।८७ धर्मश्च वृष उच्यते॥

३. हिन्दूपाली०, पृ० २११। ४. उपनिषद् चिन्तन, पृ० ८१।

५. देवी भाग० पृ० १४१ जज्ञे हिमवतः पत्न्यां लेभे पशुपतिं पतिम्।
गणेशश्च स्वयं कृष्णः स्कन्दो विष्णुकलोद्भवः।

६. वैष्णविज्म शैविज्म०, पृ० १५०। समन्वय की गंगा, पृ० १०३। ७. समन्वय की गंगा पृ० १०५।

८. हिन्दूपाली०, पृ० २११।

९. पृ० कु० अग्रवाल स्कन्द इन दी पुराणाज पुराणं ८।१।१९६६।

लेकिन वास्तविकता इन सब मतों के परे है। कुमार स्कन्द या कार्तिकेय पुराणों में स्वीकृत इन्द्रिय सर्ग के अधिष्ठाता देवता हैं। उनका स्वरूप भी इस सर्ग की संस्थाओं आदि से अनुशासित है।

इन्द्रिय सर्गाधिष्ठाता

शिव के दो पुत्र हैं—गणेश और कार्तिकेय। इसीके समानान्तर अहंकारतत्त्व के भी दो पुत्र या विकार है—इन्द्रियसर्ग और भूतसर्ग। अहंकार के राजस अंश से दश इन्द्रियाँ एवं ज्ञानकर्मात्मक मन उत्पन्न होता है तथा तामस अंश पंचभूततन्मात्र। षण्मुख, द्वादशभुज कार्तिकेय, अहंकारजन्य, इसी द्वादश इन्द्रिय सर्ग (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ + ज्ञानात्मक मन = ६ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ + कर्मात्मक मन = ६ कर्मेन्द्रियाँ) के अधिष्ठाता हैं। इस सम्बन्ध में नीचे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

नाम

पुराणों व उनके बाहर कार्तिकेय के महासेन, सेनानी, पार्वतीनन्दन, स्कन्द, कुमार, शरजन्मा, विशाल, तारकजित्, बाहुलेय, अग्नि, भू, गुह्य, क्रौंचदारण, शक्तिधर, षाण्मातुर, शिखिवाहन, सुब्रह्मण्यम, मुरूगन, वेलन्, वैय्यवान इत्यादि नाम प्राप्त होते हैं जो कि उनके आकार तथा पराक्रमादि से सम्बन्धित हैं।[1]

कार्तिकेय मूर्ति

पुराणों में व शिल्प ग्रन्थों में कार्तिकेय की षण्मुख, रक्तवर्ण, कुमारावस्थावाली, मयूरवाहन मूर्ति बनाने का विधान पाया जाता है। ग्राम नगर तथा खेट खर्वटादि के अनुसार उनके द्विभुज, चतुर्भुज तथा द्वादशभुज रूप कल्पन का विधान भी वहाँ प्राप्त है। घण्टा, कुक्कुट, शक्ति तथा पताका उनके प्रसिद्ध आयुध हैं।[2] फिर भी शक्ति उनका प्रमुख आयुध माना जाता है।

षण्मुख

त्रिविध अहंकार के राजस तथा वैकृत अंश से पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों

---

१. अमरकोश० कार्तिकेय शब्द।

२. विष्णुधर्मो० ३।७१।४-५ कुमारः षण्मुखः कार्यः शिखण्डिकविभूषणः।
रक्ताम्बरधरः कार्यो मयूरवरवाहनः॥
कुक्कुटश्च तथा घण्टा तस्य दक्षिणहस्तयोः।
पताका वैजयन्ती च शक्तिः कार्या च वामयोः॥

रूपमण्डनं ५।२६-२८ स्थापनीया खेटनगरे भुजान् द्वादश कल्पयेत्।
चतुर्भुजः खर्वटे स्याद्व वने ग्रामे द्विबाहुकम्।

महाभारत अनु० ८६।१८, १६ षडाननं कुमारं तु द्विषडक्षं द्विजप्रियम्।
पीनांसं द्वादशभुजं पावकादित्यवर्चसम्।

तथा ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मक मन की सृष्टि का निर्देश पुराणों में पाया जाता है।[1] राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ तथा सात्त्विक अहंकार से उभयात्मक मन उत्पन्न होता है।[2] मन के उभयात्मक स्वरूप के कारण उसकी संख्या दो मानने पर इन्द्रियों की कुल संख्या बारह प्राप्त होती है—छह ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छह कर्मेन्द्रियाँ।

यदि इन्द्रियों की ज्ञान तथा कर्मात्मक उपाधि का परित्याग कर दिया जाये तो हमें इन्द्रियों की उभयनिष्ठ संख्या—छह की प्राप्ति होती है। ये छह इन्द्रियाँ ही इस सर्ग के देवता कार्तिकेय के छह मुखों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

और यदि ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियों की पृथक्-पृथक् छह संख्या का मानना ही हमें इष्ट हो तो हमारे इन्द्रिय-सर्ग के देवता कार्तिकेय को बारह मुखों की सम्प्राप्ति होती है। लेकिन पुराण तथा शिल्प में द्वादशमुख कार्तिकेय का विधान होने से यह ग्राह्य नहीं प्रतीत होता किन्तु इस मत को संशोधित करके ग्राह्य बनाने में मत्स्यपुराण की कार्तिकेयोत्पत्ति सम्बन्धी एक कथा हमारी बड़ी सहायता करती है।[3]

इस कथा के अनुसार शिव-पार्वती के संयोग से कुमार नामक छह मुखोंवाले एक पुत्र का जन्म हुआ। पुनः कुमार के ही समान छह मुखोंवाले एक दूसरे पुत्र की प्राप्ति शिव-पार्वती को हुई। इस द्वितीय पुत्र का नाम स्कन्द था। ये दोनों पुत्र चैत्रमास की अमावस्या के दिन उत्पन्न हुए थे। इसी मास की चैत्र शुक्ल पंचमी को, इन्द्र ने देवताओं के कल्याणार्थ, उन दोनों पुत्रों को एक में जोड़ दिया। चैत्र शुक्ल षष्ठी को वे देवसेनापति नियुक्त हुए तथा सप्तमी को उस सात दिन के कुमार सेनानी ने देवताओं के परम शत्रु तारक असुर का वध कर डाला।

इस कथा में वर्णित दो षण्मुख कुमारों को जोड़कर एक षण्मुख कुमार के निर्माण का आख्यान छह इन्द्रियरूपी मुखवाले कुमार की उत्पत्ति की मेरी परिकल्पना को सार्थक एवं प्रामाणिक बनाता है।

षाण्मातुर

पुराणों में कार्तिकेय को छह माताओंवाला भी कहा गया है। कहते हैं कि छह कृत्तिकाओं से पालित होने के कारण उन्हें यह उपाधि प्राप्त हुई।

प्रस्तुत प्रसंग में छह ज्ञानेन्द्रियरूपी षण्मुख कार्तिकेय की छह माताएँ कोई और नहीं छह कर्मेन्द्रियाँ ही हैं। जिस प्रकार माता अपने शिशु के लिए विविध भोग सामग्री जुटाती है, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियरूप माताएँ भी, ज्ञानेन्द्रियरूप षण्मुख कुमार के लिए भोग सामग्री जुटाती है।

---

१. विष्णु० १।२।४६,४७ — तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश।
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः॥

२. सां० सूत्र २।२६ — उभयात्मकमत्र मनः।

३. मत्स्यपुराण (हिन्दी) अध्याय १५३, पृ० ४००-४२६।

द्वादशभुज

पूर्वोक्त द्वादश इन्द्रियाँ ही कार्तिकेय की द्वादश भुजाएँ हैं। यदि छह-छह इन्द्रिय-रूपी भुजवाले, दो कुमारों को जोड़कर, एक बनाने का मत माना जाये तो प्रत्येक कुमार की दो-दो भुजाओं के योग से चतुर्भुज कुमार की सिद्धि होगी और यदि इन्द्रियों का द्विविध—ज्ञान-कर्मेन्द्रियात्मक विभाजन स्वीकार किया जाये तो द्विभुज कार्तिकेय की सिद्धि होगी।

द्वादशायुध

कार्तिकेय के द्वादश हाथों में शक्ति, पाश, खड्ग, धनुष, पताका, खेटक, मुर्गा, त्रिशूल, घण्टा, बाण, अभय तथा वरदमुद्रा—इन द्वादश आयुध तथा मुद्राओं का विधान पाया जाता है।[1] ये सब आयुध एवं मुद्राएँ एक दक्ष सेनापति के गुण तथा स्वभाव को प्रकाशित करते हैं।

शक्ति, पाश, धनुष, खड्ग, त्रिशूल, बाण तथा खेटक—ये विविध आयुध एक सेनापति की विविध अस्त्र-शस्त्र चालन में दक्षता के प्रतीक हैं। मुर्गा और घण्टा—उसकी नियमितता तथा सदैव सतर्कता के प्रतीक हैं। अभय मुद्रा राष्ट्र को निर्भय रखने तथा वरदमुद्रा वीर सैनिकों को पुरस्कृत करते रहने के गुण की प्रतीक है। पताका युद्ध विजय की प्रतीक है।

देवसेनापति

पुराणों ने पूर्वोक्त दस इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति भी त्रिधा अहंकार के सात्त्विक या वैकृत रूप से मानी है। इन्द्रियों की दश संख्या के अनुरूप उनके अधिष्ठाता देवता भी दश हैं। पुराण व उपनिषदों में उनके अधिष्ठान-अधिष्ठातृभाव को इस प्रकार बतलाया गया है।[2]

ज्ञानेन्द्रियाँ	अधिष्ठाता देवता
१. नेत्र	आदित्य
२. कर्ण	दिशा
३. नासिका	अश्विन
४. रसना	वरुण
५. त्वचा	वायु
६. मन	चन्द्रमा

---

१. विष्णुधर्मो० ३।७१।५; रूपमण्डनम् ६।२८।

२. भाग० २।५।३० वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।

सुबालोपनिषद्, खण्ड ५।

कर्मेन्द्रियाँ	अधिष्ठाता देवता
१. वाक्	अग्नि
२. हस्त	इन्द्र
३. पाद	विष्णु
४. पायु	मित्र
५. उपस्थ	प्रजापति
६. मन	चन्द्रमा

इन्द्रियों के अधिष्ठाता षण्मुख कुमार कार्तिकेय, इन्द्रियों के समान, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के भी स्वामी या पति स्वीकार किये गये हैं। यदि उपर्युक्त इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं के समुदाय को एक सेना मान लिया जाये तो कुमार कार्तिकेय सहज-रूप से उसके पति अर्थात् सेनापति होंगे। चूँकि यह सेना इन्द्र, वरुण आदि देवताओं से निर्मित हुई है इसलिए वे देवसेनापति होंगे।

देवसेना

पुराणादि में प्रत्येक देवता की एक देवी या पत्नी मानने का नियम है। इसके अनुसार कार्तिकेय की भी देवसेना नामक एक पत्नी है। उसका एक नाम षष्ठी भी है। क्योंकि वह प्रकृति के षष्ठांश से उत्पन्न है।

शक्तिधर

कार्तिकेय का मुख्य आयुध शक्ति है। सेनापति के रूप में यह एक आयुध तथा उनकी स्व शक्ति एवं सैन्यशक्ति का प्रतीक है किन्तु इन्द्रिय सर्वाधिष्ठाता के रूप में उनकी इन्द्रिय शक्ति का प्रतीक।

कुरूंजि

दक्षिण भारत की कोडाइकनाल घाटियों में प्रत्येक बारह वर्ष पश्चात् पुष्पित होनेवाले कुरूंजि नामक पुष्प से ब्रह्मण्यभुख कार्तिकेय की पूजा की जाती है।[1] उत्तर भारत में भी यह पुष्प, उत्तरप्रदेश के अल्मोड़ा जिले में सरयू नदी की घाटी में प्रत्येक बारह वर्ष में खिलता है। स्थानीय बोली में उसे बौंटिया कहते हैं।[2] किन्तु उत्तर भारत में उससे कार्तिकेय-पूजा नहीं होती है।

बारह वर्ष में इस पुष्प के खिलने तथा कार्तिकेय की बारह भुजाओं के सम्बन्ध साहचर्य से ही सम्भवतः इन दोनों का योग हुआ होगा।

मयूरवाहन

कार्तिकेय का अपना निजी वाहन है—चितकबरे पंखवाला मयूर अथवा मोर। पुराणों में उसका नाम बतलाया गया है परवाणि।

---

१. विद्यावत—कुरूंजि...धर्मयुग, पृ० १४-१५ (२१ सितम्बर १९६९)

२. तारादत्त पाण्डेय—कुरूंजि उत्तर भारत में। धर्मयुग, पृ० ७ (२५ जनवरी १९७०)।

मयूर ही कार्तिकेय का वाहन क्यों बना ? इसका अनुसन्धान भी बड़ा आनन्ददायक है। छह की संख्या से विशेष रूप से मण्डित षडानन, षाण्मातुर, द्विषड्भुज तथा षष्ठीपति कार्तिकेय का जब सम्पूर्ण रूप ही षण्मय है तब उनका वाहन मयूर भी कैसे इससे वियुक्त रह सकता है। वह भी षड्ज संवादी अर्थात् षड्ज स्वर में बोलनेवाला है।[1]

संगीतशास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम (स रे ग म) आदि सात स्वरों की कल्पना की गयी है। नासा कण्ठ आदि छह स्थानों से उत्पन्न होनेवाले, षड्ज स्वर में मयूर बोलता है—ऐसी शास्त्रकारों की मान्यता है।[2] कार्तिकेय के मयूर के पर-वाणि नाम से भी यही ध्वनित होता है।

इसके अतिरिक्त मयूर का सर्पभक्षी एवं भुजंगभुक् स्वभाव भी सेनापति के शौर्य एवं सर्वग्रासित्व के अनुकूल है।

कार्तिकेय तत्त्व

महाभारत के उल्लेख के अनुसार इन्द्रियों की एक संज्ञा नक्षत्र भी है।[3] पुराकाल में कृत्तिकादि सत्ताईस नक्षत्रों की गणना कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी। कृत्तिकाओं के अपत्य अर्थात् कार्तिकेय की कल्पना भी सम्भवतः इन्द्रियवाचक नक्षत्र और नक्षत्रों में प्रधान कृत्तिका से हुई है।

महाभारत के उपर्युक्त स्थल में इन्द्रियों का वाचक अश्विनी शब्द भी बतलाया गया है। वहीं पर अहंकारके वाचक अश्व शब्द का भी निर्देश है।

इस प्रकार अश्व अर्थात् अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों की अश्विनी संज्ञा सार्थक है। कृत्तिका के समान, अश्विनी भी एक नक्षत्र है तथा कृत्तिका की भाँति उससे भी नक्षत्र गणना का प्रारम्भ किया जाता है।

मंगल ग्रह

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मंगलग्रह के मूर्तिविधान तथा पौराणिक कार्तिकेय के मूर्तिविधान में पर्याप्त साम्य है। किसने किस विधान से प्रेरणा ली यह नहीं कहा जा सकता है। फिर भी यह साम्य दर्शनीय है।

पुराणों में कुमार कार्तिकेय को रक्तवर्ण, द्विभुज, शक्तिधर, कुमार तथा सेनानी बतलाया गया है।

---

१. रघुवंशम् १।३६ षड्जसंवादिनी केका...।
२. रघुवंश १।३६ की संजीवनी टीका।
षड्भ्यः स्थानेभ्यो जात: षड्जः। षड्जं मयूरो वदति। इति मातंगः।
३. महाभारत अनुशा० ३२७।१८, १६ (सांख्यदर्शन का जीर्णोद्धार ग्रन्थ, पृ० २४७ से
...विशेषमादित्योऽश्वीनि नक्षत्राणि तानीन्द्रियाणि
पर्यायनामानि वदन्त्येवमाह॥
...भूतेषु चाप्यहंकारमश्वरूपस्तथोच्यते...॥

ज्योतिष में भी मंगलग्रह को कार्तिकेय के समान अंगारवर्ण (रक्तवर्ण), द्विभुज, शक्तिधर, कुमार तथा सेनानी बतलाया गया है।[1]

मंगल और कार्तिकेय दोनों ही युद्ध के देवता हैं।[2]

गणेश

शिवजी के कनिष्ठ पुत्र गणेश जी, विद्यादाता तथा मंगलकर्ता देवता के रूप में, भारत व उसके बाहर भी प्रतिष्ठित हैं। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक द्वारा प्रवर्तित गणेशोत्सव ने तो उन्हें हमारा राष्ट्रीय देवता ही बना दिया है। गणतन्त्रात्मक राष्ट्र में गणेश की आराधना निश्चय ही सुस्थिरता की जननी होगी।

गणेश जी के सम्बन्ध में, वेदों में कुछ भी न कहे जाने पर, कुछ विद्वानों का विचार है कि ये मूलरूप से आर्य या हिन्दू देवता नहीं हैं वरन् प्रागैतिहासिक भारत की किन्हीं अनार्य जातियों की देन हैं।[3]

मेरे विचार से गणेश जी पूर्ण रूप से पौराणिक एवं आर्य देवता हैं और उनका विचित्र रूपांकन, एक सुविचारित सत्य के ऊपर आधारित है। उसके सम्बन्ध में किसी आर्य द्रविड़ कल्पना का जाल बुनना व्यर्थ के विवाद को जन्म देना है।

भूतसर्ग के अधिष्ठाता

पुराणों में गणेश की प्रसिद्धि शिव के द्वितीय पुत्र के रूप में है। शिव अहंकार सर्ग के देवता है तथा सत्त्व-रज-तम गुणों के अनुसार उनके तीन अंश हैं। उनके सत्त्व-रजात्मक अंश से उत्पन्न इन्द्रिय सर्ग के अधिष्ठाता कार्तिकेय हैं। अवशिष्ट तामस अंश से भूततन्मात्र की उत्पत्ति होती है। इस भूततन्मात्र सर्ग के अधिष्ठाता देवता गणेश हैं। वे कार्तिकेय के समान अहंकारात्मक शिव के पुत्र हैं।

नाम

अन्य देवताओं की भाँति गणेश के भी अनेक नाम हैं। कुछ प्रसिद्ध नाम ये हैं—विनायक, विघ्नराज, द्वैमातुर, गणाधिप, एकदन्त, हेरम्ब, लम्बोदर, गजानन, गण-पति, वक्रतुण्ड, पंचानन तथा मूषकवाहन इत्यादि।[4]

---

१. यन्त्रचिन्तामणि : धरणीगर्भसंभूतं विद्युत्कान्तिसमप्रभम्।
कुमारं शक्तिहस्तं तं मंगलं प्रणमाम्यहम्॥

२. जुआनरोजर : 'दी प्राब्लेम ऑफ़ गणेश'—पुराणं ४।१।१९६२, पृ०९७।
"स्कन्द, इज दि गॉड ऑफ़ वार—दी प्लेनेट मार्स"

३. गणेश, पृ० २८, ले० डॉ० सम्पूर्णानन्द :
"विदेशी विद्वानों की राय है कि गणपति भारत के अनार्य निवासियों के उपास्य हैं। मैं भी इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ।"
समन्वय की गंगा, पृ० १७।
"गणपति की मूलपरिकल्पना अनार्य अथवा द्राविड़ है।"

४. अमरकोश।

गणेश मूर्ति

शिल्प ग्रन्थों में हाथी के समान मुखवाले, चूहे पर सवार, चार भुजाओंवाली गणेशमूर्ति का विधान पाया जाता है। उनके चार हाथों में दन्त, परशु, कमल तथा मोदक का विधान भी किया गया है।[1]

पुराण भी इस शिल्प विधि का अनुमोदन करते हैं। वहाँ पर उन्हें वक्रतुण्ड, महोदर, लम्बोदर, धूम्रवर्ण, व्याघ्रचर्माम्बरधर, सर्पयज्ञोपवीती, स्तब्धकर्ण तथा शूलक व माला लिये हुए भी चित्रित किया गया है।[2]

इसके अतिरिक्त रूपमण्डन में पंचानन तथा त्रिनेत्र गणपति की कल्पना भी उपलब्ध होती है।[3]

गजानन

शिव के दूसरे पुत्र हैं गणेश। इनका शरीर अपने पूर्वजों तथा अन्य देवताओं से निराला है। इनका शरीर तो मानव का है लेकिन सिर हाथी का। अपने इस विचित्र रूप अर्थात् मानव शरीर पर हाथी के सिर के कारण वे गज आनन कहलाये।

उनका यह रूप क्यों और कैसे कल्पित किया गया? सृष्टि क्रम के सन्दर्भ में, अहंकार के तामस अंश से उत्पन्न सूक्ष्म तन्मात्राओं के स्थूल रूप—पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूतों की स्थूलता प्रदर्शन के लिए इन्हें पृथ्वी पर पाये जानेवाले सर्वाधिक स्थूल प्राणी हाथी के शिरोभाग से युक्त किया।

पंचानन

अपने पिता शिव की भाँति गणेश की पाँच मुखोंवाली मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। उनकी इन पंचानन प्रतिमाओं का उद्देश्य उनकी पंचभूतात्मकता प्रदर्शित करना होता है। उनका प्रत्येक मुख एक-एक महाभूत का प्रतीक होता है। गणपत्युप-

---

१. रूपमण्डनम् ५।१५ — दन्तं च परशुं पद्मं मोदकं च गजाननः।
गणेशो मूषिकारूढो बिभ्राणः सर्वकामदः॥

२. मत्स्य० २५९।५३ — स्वदन्तं दक्षिणे करे उत्पलं च तथापरे।
लड्डुकं परशं चैव वामतः परिकल्पयेत्॥

अग्नि० ७१।७,८ — गणपतिर्गणाधिपो गणेशो गणनायकः।
गणक्रीडो वक्रतुण्ड एकदंष्ट्रो महोदरः॥
गजवक्त्रो लम्बकुक्षिर्विकटो विघ्ननाशकः।
धूम्रवर्णो महेन्द्राद्याः पूज्या गणपतेः स्मृताः॥

विष्णुधर्मो० ३।७१। १३-१७ — विनायकश्च कर्तव्यो गजवक्त्रश्चतुर्भुजः।
शूलकं चाक्षमालां च तस्य दक्षिणहस्तयोः।
पात्रं मोदकपूर्णं तु परशुश्चैव वामतः।
दन्तश्चास्य न कर्तव्यो वामे रिपुनिसूदन॥
लम्बोदरस्तथा कार्यः स्तब्धकर्णश्च यादव।
व्याघ्रचर्माम्बरधरः सर्पयज्ञोपवीतवान्॥

३. रूपमण्डनम् ५।१७ — धारयन्तं करै रम्यैः पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम्।

निषद् में उन्हें पंचभूतात्मक बतलाया गया है।[1] अन्यत्र भी उनके इस भूतात्मक स्वरूप का संकेत उपलब्ध होता है।[2]

धूम्रवर्ण

गणेश अपने रक्तवर्ण भ्राता कार्तिकेय के वर्ण के विपरीत धुएँ के रंग के समान काले हैं। उनका यह वर्णविन्यास सार्थक है। कृष्णवर्णवाले तामस अहंकार से उत्पन्न, भूतादि के अधिष्ठाता होने से उनका वर्ण भी तमोगुण के समान काला है।

पुनश्च उनके शीर्ष के रूप में कल्पित, हाथी का काला रंग भी उनके इसी तामस रूप की ओर संकेत करता है।

गणपति से सम्बन्धित उपनिषदों में उन्हें शशिवर्ण अर्थात् चन्द्रमा के समान गौरवर्ण तथा अन्यत्र रक्तवर्ण बतलाया गया है।[3] किन्तु उनके उपर्युक्त तमोभूत रूप के कारण उन्हें धूम्रवर्ण मानना ही समीचीन प्रतीत होता है।[4]

एकदन्त

पंचमहाभूत यद्यपि अहंकार के तामस अंश से उत्पन्न होते हैं तथापि उनमें रज एवं सत्त्वगुण की स्वल्प मात्रा भी मिली होती है। गणेश के विग्रह में सत्त्वगुण की इसी स्वल्प मात्रा को प्रदर्शित करने के लिए उन्हें एकदन्त बतलाया गया है। गजदन्त एवं सत्त्वगुण का सम्बन्ध स्पष्ट है। गजदन्त सफ़ेद रंग का होता है। सत्त्वगुण का रंग भी सफ़ेद माना गया है।

इस प्रकार तमोमय गणेश के विशाल शरीर में, मात्र एक दन्त के तुल्य, अति अल्प मात्रा में सत्त्वांश है; यह उनके एकदन्तत्व से प्रदर्शित किया गया है।

लम्बोदर

गणेश के मूर्त रूप में स्थूलकाय हाथी की योजना जिस उद्देश्य से की गयी है उसी पाँच भौतिक स्थूलता को प्रदर्शित करने के लिए; स्थूलता के प्रतीक महोदर या लम्बोदर गणेश की परिकल्पना पुराणों में की गयी है।

पुराणों ने महत्तत्त्व के अधिष्ठाता ब्रह्मा की मूर्त कल्पना में भी उनके बृहज्जठर की कल्पना की है। जो कि अव्यक्त प्रकृति के किंचित् स्थूल रूप धारण करने का प्रतीक

---

१. गणपत्युपनिषद् १ — त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः।
२. गणेश पूर्वतापिनी २ — यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो वायन्ति यत्रैव यन्ति च।
'गणेश'० भूमिका, पृ० १ — गजाननं भूतगणादिसेवितं कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम्। उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्॥
३. गणेशपूर्वतापिनीउप० २ — गजवक्त्रं शैवं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
गणपत्युपनिषद् २ — रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्।
४. अग्निपुराण ७१।८ — धूम्रवर्णो महेन्द्राद्याः पूज्या गणपतेः स्मृताः।

है। अब कि गणेश के लम्बोदर या महोदर की कल्पना उस अव्यक्त या सूक्ष्मतम प्रकृति की स्थूलतम रूप में पूर्ण परिणति की प्रतीक है।

द्वैमातुर

अपने त्र्यम्बक पिता शिव की, अनेक माताओ के पुत्र होने की परम्परा को उनके सुपुत्र षाण्मातुर कार्तिकेय ने खूब निभाया। गणेश जी ने भी इसे आगे बढ़ाने में गौरव समझा और द्वैमातुर अर्थात् दो माताओवाले बन गये।

गणेश के विग्रह का निर्माण भूत और तन्मात्ररूपी दो माताओ से हुआ है इसीलिए उन्हें द्वैमातुर कहा जाता है।

गणनायक

पंचभूतादि अर्थात् पंचतन्मात्र तथा पंचभूतों के गण या समूह के अधिपति होनें के कारण गणेश को गणनायक, गणपति, गणाधिप कहा जाता है।

शिव के शृंगी-भृंगी आदि गणों के अधिपति के रूप में भी गणेश की कल्पना की जा सकती है किन्तु इन शिवगणों के अधिपति के रूप में नन्दी या नन्दिकेश्वर की प्रसिद्धि पहले से है।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत् आदि गणदेवताओ तथा असुर, राक्षस, भूत-प्रेत आदि असुरगणो के अधिपति के रूप मे गणपति की कल्पना करते है।[1] किन्तु पूर्व उपलब्धि के प्रकाश में यह धारणा बलवती प्रतीत नहीं होती।

एक उपनिषद् तो इन्हे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि के गण का ईश्वर बतलाती है।[2]

विघ्नराज

कहते हैं कि पुराकाल मे गणेश विघ्नकर्ता देवता माने जाते थे और इसीलिए उनकी पूजा भी की जाती थी कि वे विघ्न नही करेंगे और न होने देंगे।[3] किन्तु काल क्रम से वे विघ्नहर्ता किंवा मंगलकर्ता देवता बन गये। उनका रूप जो पहले ऋणात्मक था अब धनात्मक हो गया है। जो कुछ भी हो विघ्न उनके साथ जुडा ही रहा। वे चाहें विघ्नकर्ता रहे हो या विघ्नहर्ता। उनके तामस रूप को देखकर उनके विघ्नकर्ता रूप में ही आस्था अधिक जमती है। और उनके वाहन की करतूत भी उनके इसी रूप का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

मूषकवाहन

गणेश का वाहन है मूषक या चूहा। गणपति के हाथी-जैसे महाकाय शरीर को

---

१. हिन्दूपाली, पृ० ३०१-३०२।

२ गणेशोत्तरतापिनी उपनिषद् ३ ब्रह्माविष्ण्वादिगणानामीशभूतमित्याह तद् गणेश इति।

३ पद्मपुराण, सृष्टि० ४६।६६ गणेशं पूजयेद्यस्तु विघ्नस्तस्य न जायते।
वही, ६१।४ गणेशं पूजयेदग्रे सर्वविघ्नार्थं...।

तुलना में चूहा एक क्षुद्रतम प्राणी है। चूहे की यह क्षुद्रता स्थूल महाभूतों की तुलना में तन्मात्राओं की क्षुद्रता अर्थात् सूक्ष्मता की प्रतीक है। पुनश्च चूहे का काला रंग भी तमःप्रधान गणेश के वाहन के लिए उपयुक्ततम वर्ण है।

इसके अतिरिक्त चूहे का एकदन्त रूप भी एकदन्त गणेश की समता करता है। जीव वैज्ञानिकों के अनुसार चूहा एकदन्त परिवार का जीव है। उसके मुँह के ऊपरी जबड़े में आगे की ओर दाँतों की केवल एक ही जोड़ी रहती है।[1]

सिंहवाहन

नेपाल में पायी जानेवाली हेरम्ब गणपति की मूर्तियों के पाँच सिर तो होते ही हैं तथा उनका वाहन चूहा न होकर सिंह होता है।[2]

पंचभूतों के अधिष्ठाता होने से उनके पाँचमुखी रूप की कल्पना सर्वथा युक्तियुक्त है। उनकी सिंहवाहन रूप में कल्पना भी सार्थक है। सिंह का एक नाम पंचानन भी है और पंचानन (गणेश) की कल्पना पंचाननारूढ़ (सिंहारूढ़) रूप में करना किसी भी तरह से तिरस्करणीय नहीं है।

प्रतीक

कोई-कोई विद्वान् ओंकार (ॐ) को (उसकी लम्बोदर तथा शुण्डाकृति के कारण) तथा अन्य विद्वान् स्वस्तिक को (दक्षिण या वामावर्त 卐 ● 卍 आकृतियों तथा उसके चतुर्भुजात्मक रूप के कारण) गणपति का प्रतीक बतलाते हैं।[3]

विद्यादाता

अधुना गणेश की प्रसिद्धि विद्या के देवता के रूप में है। विघ्नकर्ता से विघ्नहर्ता बनकर गणेश किस प्रकार विद्यादाता देवता बन गये इसपर कोई आख्यान प्राप्त नहीं होता।[4] और न कोई व्याख्यान ही।

मेरे विचार से गणपति के विद्यादाता बन जाने का रहस्य, ऋग्वेद के गणानां त्वा गणपतिं इत्यादि मन्त्र के परम्परागत प्रयोग में निहित है।[5]

यह मन्त्र वस्तुतः विद्या के अधिष्ठाता वैदिक देवता ब्रह्मणस्पति अर्थात् ब्रह्मा के

---

१. जीव जगत, पृ० ६३४। २. पुराणविमर्श, पृ० ४८७-४८६। ३. प्रतीक शास्त्र, पृ० ११। हिन्दूपासी०, पृ० २६५-२६६, गणेशोत्तरतापिनीउप० ४ ओमिति ध्वनिरभूत्। स वै गजाकारः। ४. गणेश०, पृ० १४ गणेशजी विद्यादाता भी माने जाते हैं।…परन्तु वह विद्यादाता कैसे हुए इसके सम्बन्ध में कोई आख्यान नहीं मिलता।

५. ऋग्वेद २।२३।१ — गणानां त्वा गणपतिं ॐ हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमं।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

गणेश०, पृ० ३ — "किसी भी वैदिक देवसूची में गणेश जी का किसी भी नाम से अन्तर्भाव नहीं मिलता। जिन स्थलों में गणपति शब्द के आने से गणेश का बोध हो सकता था, वहाँ पर हम देखते हैं कि गणेश का अर्थ नहीं लिया जा सकता।"

लिए विनियुक्त हुआ है किन्तु इस मन्त्र के गणपति आदि शब्दों के कारण उसके पौराणिक देवता गणपति के लिए प्रचलित हो जाने से इस मन्त्र के देवता ब्रह्मणस्पति के विद्यादि गुण भी गणेश में संक्रमित हो गये। और इस प्रकार गणेश जी विद्यादाता देवता बन गये।

बृहस्पति ग्रह

गणेश के विद्यादाता रूप में संक्रमण का अनुसन्धान करने में, हमें ज्योतिषशास्त्र से भी महती सहायता प्राप्त होती है।

विद्या के देवता वैदिक ब्रह्मणस्पति के गुणों में, ज्योतिष के बृहस्पति से पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है।

ज्योतिष शास्त्र में बृहस्पति को, वैदिक ब्रह्मणस्पति के समान देवताओं तथा ऋषियों का गुरु, बुद्धिदाता, त्रिलोकेश तथा स्वर्णाभ बतलाया गया है।[१] पुराणों के गणेश में भी यही गुण कल्पित किये गये हैं।

इसपर से यह अनुमित होता है कि वैदिक ब्रह्मणस्पति, ज्योतिष्क बृहस्पति तथा पौराणिक गणपति में एक सामान्य गुणधारा प्रवाहित है जो इन्हे जोड़ती है और अन्ततः उनके वैदिक, पौराणिक एवं विशुद्ध भारतीयत्व को प्रकाशित करती है।

गणपति तत्त्व

वेदो में गणेश का कही भी उल्लेख नही है। इसपर से कुछ विद्वानों की सम्मति है, ये मूल रूप से द्राविड या अनार्य देवता है। जिन्हे बाद में आर्यों ने अपना लिया। वेदो के अतिरिक्त महाभारत तथा कुछ पुराणो मे अनुल्लिखित होने के कारण उन्हें अपेक्षाकृत अर्वाचीन देवता माना गया है तथा उनके हस्तिमुख तथा मूषकवाहन-तत्त्व की विचित्रता को किन्ही लोक तत्त्वों की देन माना गया है।[२]

श्री करपात्री जी के अनुसार सृष्टि के महदादि तत्त्वों के समूह के अधिपति होने से गणेश को गणपति कहा गया है।[३]

श्री भण्डारकर जी वैदिक आधार से उन्हे रुद्रपुत्र मरुद्गणों का अधिपति कल्पित करते है।[४]

श्री जी. के. पिल्ले उन्हे युद्ध का देवता बतलाते हैं। उनके अनुसार गजमुख गणेश में मनुष्य की बुद्धि तथा हाथी का बल एक साथ प्रदर्शित किया गया है।[५]

श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल के अनुसार वैदिक ब्रह्मणस्पति पौराणिक

---

१ यन्त्रचिन्तामणि — देवानां च ऋषीणां च गुरुं काञ्चनसंनिभम्।
बुद्धिभूतं त्रिलोकेशं तं नमामि बृहस्पतिम्॥

२. एनसाइक्लोपीडिया रिलीजन एण्ड एथिक्स जिल्द ६, पृ० ७०१।

३. श्री भगवत्तत्त्व०, पृ० ६४५ महदादितत्त्वगणानां पतिः गणपतिः।

४. वैष्णविज्म शैविज्म०, पृ० १४७। ५. हिन्दू गाड्स्, पृ० १७।

गणपति के रूप में विकसित हुए हैं। उनके अनुसार गणेश का गजशीर्ष समष्टिमन तथा वाहन मूषक—व्यष्टिमन का प्रतीक है।[1]

श्री जुआन रोजर ने अपने एक लेख में गणेश सम्बन्धी विभिन्न लेखकों के मत संग्रहीत किये हैं और अन्त में आशा व्यक्त की है कि अबतक रहस्यपूर्ण बना हुआ यह प्रश्न अन्ततः पुराणों के विशद अध्ययन से हल होकर ही रहेगा।[2] उनके लेख में उद्धृत गणेश सम्बन्धी कुछ मत इस प्रकार हैं—

होपकिन्स के अनुसार गणेश शूद्रों के देवता हैं जो कि ईसा की छठी सदी से भी पहले से पूजित रहे हैं।

ग्रियर्सन तथा क्रुक्स के अनुसार गणेश द्रविड़ मूल के एक सौर देवता हैं।

कुमार स्वामी इन्हें यक्षपति कुबेर का गणेश नामक एक अनुचर बतलाते हैं।

मेयर के अनुसार गणेश उर्वरता के देवता हैं।

प्रो. फाउचर गणेश को वनदेवता बतलाते हैं जिसका विकास अर्धपशुमानव के रूप में हुआ है।

मेरे विचार से गणपति का वास्तविक तत्त्व उनका भूतसर्ग का अधिष्ठातृत्व है जिसने अपने विकास के लिए वैदिक ब्रह्मणस्पति तथा ज्यौतिष्क बृहस्पति से भी कदाचित् सहायता ली है। इसके साथ ही उसे पुराणों के ही नरसिंह आदि अर्धनर तथा अर्धपशु रूपवाले अवतारों से प्रेरणा प्राप्त हुई है।

●

---

१. अग्रवाल   दी पुराणाज एण्ड दि हिन्दू रिलीजन—पुराणं ६।२।१९६४।
२. जुआन रोजर रिबिरि—दी प्राब्लेम ऑफ गणेश इन दि पुराणाज—पुराणं ४।१।१९६२।

सर्ग संहिता

पौराणिक सृष्टिदर्शन

सृष्टि शब्द का अर्थ है—संसार की रचना।

संसार के किसी भी पदार्थ को देखकर मानव-मन में अनायास ही यह प्रश्न उठता है कि यह पदार्थ क्या है ? और जब इस प्रश्न का कोई उत्तर आता है तब तो मानो प्रश्नों की झड़ी ही लग जाती है—यह पदार्थ कैसे बना ? क्यों बना ? किसने बनाया ? कब बनाया ? कहाँ बनाया ? किसके लिए बनाया ? इत्यादि।

इस प्रकार केवल एक ही पदार्थ की जिज्ञासा से उसकी निर्मिति, प्रयोजन, निर्माता, निर्माण-स्थल, निर्माण-काल आदि सम्बन्धी पूर्वोक्त अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। जब यही प्रश्न सम्पूर्ण संसार के सम्बन्ध में उठने लगते है तब उनसे सृष्टि-विद्या अर्थात् सृष्टि के विचार का जन्म होता है।

सृष्टिविचार

सृष्टि का विचार यद्यपि अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों—वेद, ब्राह्मणादि में भी उपलब्ध होता है तथापि व्यवस्थित दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से सांख्यदर्शन में ही यह विचार प्रथमतः पाया जाता है।

सांख्य के इस सृष्टि विचार की झलक हमें उपनिषदों में भी दिखलाई देती है। पुराण वस्तुतः सांख्य के इसी उपनिषद्गत सृष्टिविचार का अनुसरण, प्रतिपादन एवं परिवर्धन करते है। सांख्य भी सम्भवतः उपनिषदों के इसी सृष्टिविचार का परिष्कृत एवं विनिश्चित रूप है। सांख्याचार्यों ने सम्भवतः उपनिषदों मे बिखरे हुए सृष्टि-तत्त्वों की अनिश्चित एवं अव्यवस्थित संख्या को निश्चित एवं व्यवस्थित करके सांख्य अभिधान को प्राप्त किया हो या हो सकता है स्वयं उपनिषदों ने उसे सांख्य से ग्रहण किया हो।

विचारों का यह आदान-प्रदान विवाद का विषय हो सकता है किन्तु यह सर्वथा निर्विवाद है कि सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों की पूर्णतः स्वतन्त्र एवं मौलिक सत्ता स्वीकार की गयी है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन द्वितत्त्ववादी अथवा द्वैतवादी ठहरता है।

इसके विपरीत पुराणों का दर्शन एकतत्त्ववादी, अद्वैतवादी अथवा ब्रह्मवादी है। पुराणों में एकमेव अद्वितीय ब्रह्म से सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है तथा प्रलय काल में इन दोनों का विलय भी ब्रह्म में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार पुराणों का तत्त्वदर्शन उस वेदान्त अथवा उपनिषदों के निकट पहुँच गया है जिनकी यह अचल धारणा है कि इस विश्व की उत्पत्ति, प्रलय एवं संस्थिति उस ब्रह्म के ही द्वारा उस ब्रह्म में ही और उसी ब्रह्म के लिए (ब्रह्मलीला के लिए) होती है।

सांख्य का सर्ग-क्रम

सांख्य दर्शन में एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् प्रकृति (राग) और पुरुष (विराग) के योग (संयोग अथवा संसर्ग) को सृष्टि अथवा सर्ग कहा गया है।[१] राग और विराग के इस योग से महदादि क्रम से पंचभूतपर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि होती है।[२]

सांख्य के अनुसार प्रारम्भ में सत्त्व, रज तथा तम—इन तीन गुणों से युक्त साम्यावस्थावाली प्रकृति थी।[3] पुरुष के दृष्टिपात से उसके उपर्युक्त त्रिगुण की साम्यावस्था भंग हो गयी। इस साम्यावस्था के भंग होने से उसके त्रिगुणों में क्षोभ उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप उससे एक नवीन तत्त्व महान् या महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। लेकिन त्रिगुण की हलचल फिर भी जारी रही। फलस्वरूप महान् से अहंकार उत्पन्न हुआ। यह अहंकार सत्त्वादि के भेद से त्रिगुणात्मक था। उसके सात्त्विक अंश से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन की उत्पत्ति हुई। उसके राजस अंश ने इस कार्य में उसकी सहायता की। अहंकार के ही तामस अंश से पंचतन्मात्र और उनसे पंचमहाभूत उत्पन्न हुए। राजस अहंकार ने इस तामस अहंकार की सहायता सत्त्व के समान की। इस राजस अहंकार से स्वतन्त्र रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ।[४] जब कि पुराणों में राजस अहंकार से दस इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गयी है। इसके अतिरिक्त सात्त्विक अहंकार से देव सृष्टि तथा राजस से प्राण सृष्टि भी पुराणों में प्रतिपादित की गयी है।

सांख्य का सर्ग-क्रम इस प्रकार है—

---

१. सां० सूत्र २।६ — रागविरागयोर्योगः सृष्टिः।

२. सां० सूत्र २।१० — महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्।

३. सां० सूत्र १।६१ — सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

४. सां० सूत्र १।६१ — प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।

सां० कारिका २५ — सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥
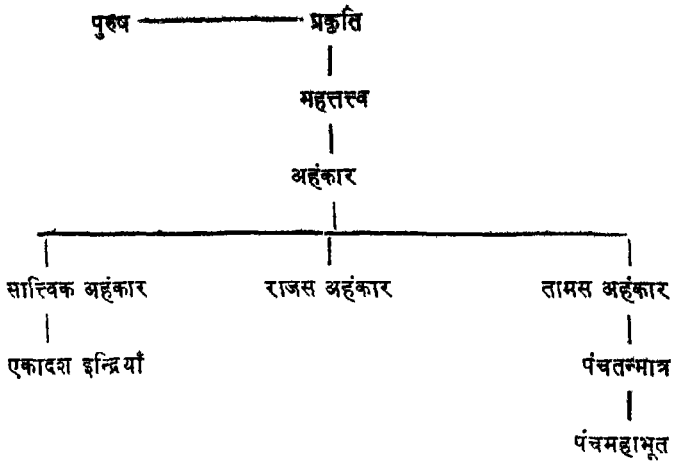
औपनिषदिक सर्ग-क्रम

सांख्य के समान उपनिषदों में भी सृष्टि का वर्णन उपलब्ध होता है। लेकिन सृष्टि के मूलभूत कारण एकमेव ब्रह्म में विश्वास के कारण उनकी सृष्टिविद्या सांख्य से कुछ भिन्न प्रकार की हो गयी है। हमारे पुराणों में प्रायः इसी औपनिषदिक सांख्य क्रम को अंगीकार किया गया है तथापि वे पूर्णरूप से उसके अनुगामी नहीं हैं। कुछ बातों में वे सांख्य से अधिक सामीप्य रखते हैं।

उपनिषदों की सृष्टिविद्या का सर्वसार त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है।

प्रारम्भ में अविद्याशबल सद्ब्रह्म थे। उनसे अव्यक्त उत्पन्न हुआ। अव्यक्त से महान्। महान् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र, पंचतन्मात्र से पंचमहाभूत, पंचमहाभूतों से अखिल विश्व।[1]

पैंगलोपनिषद् के अनुसार प्रारम्भ में सत् ही था। वह सत्य ज्ञान, आनन्द से परिपूर्ण सनातन एकमेव अद्वितीय ब्रह्म था। उसमें मरुभूमि में जल के समान, शुक्ति में रजत के समान, स्थाणु में पुरुष के समान तथा स्फटिक में रेखा के समान लाल, सफ़ेद तथा कृष्ण वर्णवाली (रज, सत्त्व तथा तमोगुणवाली) साम्यावस्था को प्राप्त मूल प्रकृति निहित थी। उसमें जो प्रतिबिम्बित था वह साक्षी चैतन्य था। वह साम्यावस्थावाली प्रकृति विकार को प्राप्त हुई। उसके सत्त्वगुण में उद्रेक से अव्यक्त नामवाली आवरण-शक्ति उत्पन्न हुई। उस अव्यक्त में जो प्रतिबिम्बित हुआ वह ईश्वर-चैतन्य था। वह ईश्वर स्वाधीन, मायी, सर्वज्ञ, विश्व का स्रष्टा, पालक तथा संहारक था।....उस ईश्वर के

१. त्रिशिखि० १।

अव्यक्त प्रकृति पर अधिष्ठित होने से रजोद्रेक से महत् नामक विक्षेप शक्ति उत्पन्न हुई। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ वह हिरण्यगर्भ-चैतन्य था।....हिरण्यगर्भ से अधिष्ठित विक्षेपशक्ति से, तमोद्रेक के फलस्वरूप अहंकार नामक स्थूलशक्ति उत्पन्न हुई। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ वह विराट्-चैतन्य था। वह विराट् पुरुष विष्णु था। उस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। वे तन्मात्राएँ त्रिगुणात्मक थीं। स्रष्टा ने तमोगुण का आश्रय लेकर उन्हें स्थूल भूत बनाने की कामना की।....पंचीकृत भूतों से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड, उनके लिए उपयुक्त चतुर्दश-भुवन तथा उन भुवनों के निवासियों के शरीर बनाये। उसने पंचभूतों के रजो अंश से प्राण तथा कर्मेन्द्रिय बनाये। सत्त्वांश से अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उनके देवताओं को रचा। और उन्हें उसने समष्ट्यण्ड में डाल दिया। उसकी आज्ञा से वे वहाँ स्थित हुए। विष्णु ने उसकी आज्ञा से स्थूलों की रक्षा की तथा ब्रह्मा ने सूक्ष्मों की। किन्तु स्वयं उसके बिना वे निश्चेष्ट रहे। तब उसने उन सबमें प्रविष्ट होकर उन्हें चेतन कर दिया। इस प्रकार वह सर्वज्ञ ईश्वर, मायालेश से समन्वित होकर तथा व्यष्टि देह में प्रविष्ट होकर जीवत्व को प्राप्त हुआ संसार में भटक रहा है।[1]

पैंगलोपनिषद् का यह सर्गक्रम अहंकारोत्पत्ति तक तो ठीक है। उसके पश्चात् वह आत्मा या ईश्वर से पंचतन्मात्रों की उत्पत्ति बतलाती है और उन तन्मात्रों के एक-एक गुण प्रधान अंशों से इन्द्रिय, मन, प्राण आदि की उत्पत्ति। जब कि सांख्य दर्शन में अहंकार व उसके त्रिगुणात्मक रूप से इन्द्रिय, मन, प्राण तथा भूतों की उत्पत्ति बतलायी गयी है।

पैंगलोपनिषद् की भाँति अन्य उपनिषदें भी आत्मा या ईश्वर से पंचभूतों की उत्पत्ति की घोषणा करती हैं।[2]

जब कि इसके विपरीत पुराणों में, सांख्य के समान ही, अहंकार से इनकी उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है किन्तु सांख्य से उनका पूर्णतः मतैक्य नहीं है जिसे हम आगे प्रदर्शित करेंगे।

इसके अतिरिक्त त्रिदेव के पुराण सम्मत स्वरूप से भी उपनिषदों का मतभेद है। उपनिषदों में सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा को आकाशादि पंचभूतों का अधिष्ठाता माना गया है। जब कि पुराणों में उनकी स्थिति इससे भिन्न है। यह बात अवश्य है कि उपनिषदें भी पुराणों के समान ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर को सृष्टि, स्थिति तथा

---

१. पैंगलो० १।१ — ...सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। तद्...ब्रह्म। तस्मिन् ...लोहितशुक्लकृष्ण-गुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत् तत्साक्षि चैतन्यमासीत्। इत्यादि।

२. योगचूडा० ७२।

प्रलय का कर्ता मानता हैं।[1]

उपनिषदों में किसी सामान्य सृष्टिविद्या का अन्वेषण, असम्भव नहीं तो महा-कठिन अवश्य है तथापि आत्मा से पंचभूतों की उत्पत्ति मानना उनका अपना सामान्य सृष्टि मत माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक उपनिषद् का अपना विशिष्ट सृष्टि-सिद्धान्त है जिसकी चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं।

पौराणिक सर्ग-क्रम

पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म है। इस ब्रह्म को वे नारायण एवं विष्णु के नाम से पुकारते हैं। ब्रह्म के स्वभाव अथवा स्वरूप में व्यक्त, अव्यक्त, काल तथा पुरुष—ये चार शक्तियाँ निहित हैं। इन चार की सहायता अथवा प्रयोग से वह इस विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करता है। यद्यपि प्रकृति (अव्यक्त), पुरुष, व्यक्त (जगत्) तथा काल, परमात्मा विष्णु के रूप हैं तथापि वह उनके द्वारा सीमित नहीं होता। वह उनसे परे भी विद्यमान रहता है। यह व्यक्ताव्यक्त रूप जगत् उस परमात्मा विष्णु की क्रीड़ा—खेल या लीला के समान है।[2]

जिस प्रकार बालक खेल-खेल में मिट्टी के घरौंदे बना-बनाकर मिटाया करते हैं वैसे ही भगवान् इस विश्व या सृष्टि रूपी घरौंदे को खेल-खेल में बनाया और मिटाया करते हैं। इस खेल की सामग्री और खिलौने आदि सभी कुछ उनके स्वरूप में निहित हैं।

जब वे अपने चार रूपों में प्रमुख-पुरुष रूप से अपने ही एक अन्य रूप अव्यक्त का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करते हैं तब उससे व्यक्त नामक एक तीसरा रूप प्रकट होता है। यह व्यक्त रूप महदादिभूतपर्यन्त समस्त व्यक्त जगत् मय है। इन तीन से पृथक् अपने चौथे रूप-काल द्वारा वे सृष्टि काल में इस व्यक्त जगत् को तथा प्रलयकाल में अव्यक्त एवं उससे पृथक् हुए पुरुष को धारण करते हैं। उनके उपर्युक्त काल रूप द्वारा सृष्टि एवं प्रलय समय-समय पर नियमित रूप से होते रहते हैं।[3]

---

१. योगचूडा० ७२ एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति॥
तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः।

२. विष्णु० १।२।१८
व्यक्तं विष्णुस्तथाऽव्यक्तं पुरुषः काल एव च।
क्रीडतो बालकस्यैव चेष्टां तस्य निशामय॥
गरुड़ १।४।४-६; भाग० २।५।२१।

३. विष्णु० १। २। २६, २७, २४
अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥
गुणसाम्ये ततस्तस्मिन्पृथक्पुंसि व्यवस्थिते।
कालस्वरूपं तद्‍ विष्णोर्मैत्रेय परिवर्तते॥
विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपान्तरं तद्‍ द्विजकालसंज्ञम्॥

विष्णु के इस चतुर्विध तथा उससे भी परे स्थित, परमस्वरूप का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् हम पुराणों की सर्ग प्रक्रिया की ओर अभिमुख होंगे।

पुराणों के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में न दिन था, न रात्रि थी, न आकाश था, न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न इनके अतिरिक्त ही कुछ था। बस, श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा बुद्धि आदि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म ही था।[1]

विष्णु के उस परम (उपाधिरहित) रूप के प्रधान (प्रकृति) और पुरुष उत्पन्न हुए।[2] पश्चात् पुरुष (क्षेत्रज्ञ, विष्णु) ने प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे क्षुब्ध किया जिससे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।[3]

वह महत्तत्त्व या महान् प्रधान तत्त्व (प्रकृति) से आवृत था। उस महान् से अहंकार तत्त्व उत्पन्न हुआ जो तीन प्रकार—वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस)—का था। यह अहंकार भी महान् की भाँति महत्तत्त्व से आवृत तथा द्रव्य, ज्ञान, क्रियात्मक था।[4]

---

१. विष्णु० १।२।२३

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥

अग्नि० १७।२

ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभून्न खं रात्रिदिनादिकम्।

२. विष्णु० १।२।२४

विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।

३. विष्णु० १।२।३३

गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने।
गुणव्यञ्जनसंभूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम॥

वायु० ४।२३।२४

गुणसाम्ये तदा तस्मिन्गुणभावे तमोमये।
सर्गकाले प्रधानस्य क्षेत्रज्ञाधिष्ठितस्य वै॥
गुणभावाद्वाच्यमानो महान् प्रादुर्बभूव ह।

भाग० २।५।२२

कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्।

अग्नि० १७।२

प्रकृतिं पुरुषो विष्णुः प्रविश्याक्षोभयत्ततः॥
सर्गकाले महत्तत्त्वं...

४. विष्णु० १।२।३५,३६,३७

वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः॥
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वमजायत।
यथा प्रधानेन महान् महता स तथावृतः।

भाग० २।५।२४

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो॥

अग्नि० १७।३

सर्गकाले महत्तत्त्वमहंकारस्ततोऽभवत्।
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः॥

अहंकार के भूतादि अर्थात् तामस रूप से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध-तन्मात्र एवं आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी महाभूत उत्पन्न हुए।[1]

अहंकार के ही तैजस अर्थात् राजस रूप से श्रोत्र, स्पर्श, नेत्र, जिह्वा तथा घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, हस्त, उपस्थ, पायु तथा पाद—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। उससे पाँच प्राण भी उत्पन्न हुए। पुनः अहंकार के सात्त्विक अथवा वैकारिक रूप से मन उत्पन्न हुआ। मन के अतिरिक्त उससे पूर्वोक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता दस देवता उत्पन्न हुए।[2]

कर्णेन्द्रिय के अधिष्ठाता दिग् देवता, स्पर्श के वायु, नेत्र के आदित्य, जिह्वा के वरुण, नासिका के अश्वि अधिष्ठाता देवता हुए। इसी प्रकार वाक् के अग्नि, हस्त के इन्द्र, उपस्थ के प्रजापति, पायु के मित्र तथा पाद के उपेन्द्र अधिष्ठाता देवता हुए।[3]

इसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति से महदादिभूतपर्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति का सर्गक्रम पुराणों में वर्णित है। पुराणों का यह सर्गक्रम सांख्य के सर्गक्रम से पर्याप्त साम्य रखते हुए भी उससे भिन्न है। जो कि निम्नांकित तालिका से प्रकट है—
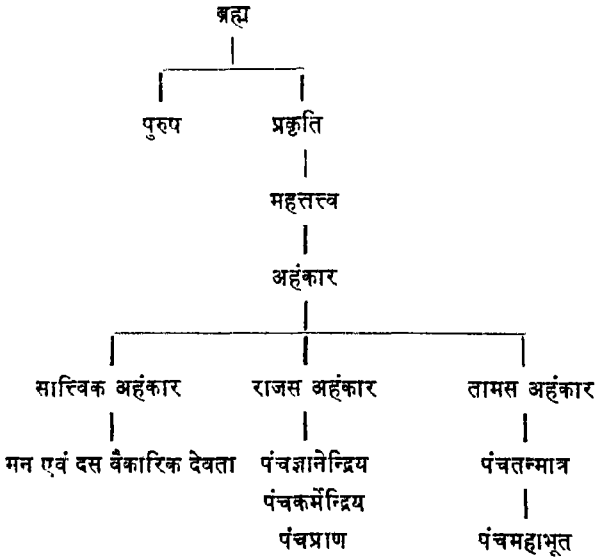
१. अग्नि० १७।४-५। विष्णु० १।२।३७-४५। वायु० ४।४८,४६,५६। भाग० २।५।२५-२६।
२. भाग० २।५।३०-३१ वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश॥
तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवत्।
...प्राणश्च तैजसौ।
विष्णु० १।२।४६-४७। अग्नि० १७।५,६।
३. भाग० २।५।३१
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।

पुराणों में उपर्युक्त तत्त्वसृष्टि के पश्चात् होनेवाली हिरण्याण्ड आदि अवस्थाओं का वर्णन भी उपलब्ध होता है जिसका अध्ययन हम अगले परिच्छेद में प्रस्तुत करेंगे।

पौराणिक सर्ग प्रक्रिया : कारण-हिरण्यगर्भ-विराट्

उपनिषदों का सृष्टि सूत्र कारण-हिरण्यगर्भ-विराट्, पुराणों में भी लोकप्रिय है।[१] जिस प्रकार वृक्ष का कारणभूत बीज, वृक्ष बनने के लिए बीज, अंकुर एवं वृक्ष—इन तीन व्यवस्थाओं में से होकर गुज़रता है उसी प्रकार विश्वकारण ब्रह्म भी कारण, हिरण्यगर्भ एवं विराट् अवस्थाओं में से होकर गुज़रता है। उसके साथ उसकी शक्तिभूता प्रकृति भी, उसी के अनुरूप अव्याकृत, हिरण्याण्ड एवं विश्व नामक अवस्थाओं से होकर गुज़रती है। पुरुष और प्रकृति की सृष्टि से पूर्व की अवस्था कारण, महत् से भूत पर्यन्त तत्त्वों की अवस्था हिरण्यगर्भ या सूक्ष्म तथा उन तत्त्वों की विराट् विश्व या ब्रह्माण्ड रूप अवस्था विराट् या स्थूल अवस्था कहलाती है। पुराणादि में उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

कारण-अव्याकृत

पुरुष प्रकृतिमय विश्व की प्राक्सृष्टिकालीन अवस्था का द्योतन इन शब्दों से होता है। विश्वकारण पुरुष उस अवस्था में सृष्टि संकल्प से रहित तथा प्रकृति, त्रिगुण-साम्य की अविकृत अवस्था में रहती है। पुराणादि में इस अवस्था को दिवसरात्रि से शून्य, तमोभूत, अप्रज्ञात, अविज्ञेय तथा प्रसुप्त के समान आदि विशेषणों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।[२]

हिरण्यगर्भ-हिरण्याण्ड

कालान्तर में उस एकाकी ब्रह्म में सृष्टि की कामना उत्पन्न हुई। यह कामना ही उसका रेत अर्थात् वीर्य है।[3] उसे हिरण्य भी कहते हैं।[४] इस रेत या हिरण्यमय वीर्य को वह अपनी ही योनि—महत् में गर्भित करता है।[५] इसलिए उसे हिरण्यगर्भ कहते

---

१. योगचूडा० — विराड् विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः।
पैङ्गलोप० १।१

२. भाग० ३।५।२३ — भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥
अग्नि० १७.२ — ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभून्न खं रात्रिदिनादिकम्।
मनु० १।५ — आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

३. ऋग्वेद १०।१३०।४ — कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

४. तै० ब्रा० ३।८।२।४ — रेतो हिरण्यम्। 'वेदविद्या', पृ० ५६ से उद्धृत।

५. गीता १४।३ — मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

हैं। अथवा चूँकि उस ब्रह्म में सिसृक्षा का बीज (हिरण्य) गर्भित रहता है इसलिए उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

जिस प्रकार ब्रह्म का प्रथम विकार हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) है उसी प्रकार प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व है। ब्रह्मा उसके अधिष्ठाता हैं। महत्तत्त्व का एक नाम बुद्धि भी है। इस बुद्धि और ब्रह्मा के मिथुन की उत्पत्ति पुराणों में साथ-साथ बतलायी गयी है।[1] महद् ब्रह्म के इस जोड़े से अहंकार, इन्द्रिय, मन, तन्मात्र तथा पंचभूतों की उत्पत्ति होती है और प्रकृति पुरुष के अनुग्रह से ये सब तत्त्व हिरण्याण्ड की रचना करते हैं।

हिरण्याण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में बतलाया गया है कि प्रकृति का आद्यविकार महत्तत्त्व तथा उससे उत्पन्न अहंकारादि तत्त्व, पृथक्-पृथक् होने के कारण जब संसार की रचना न कर सके तब प्रकृति के अनुग्रह तथा पुरुष के अधिष्ठान से वे सब आपस में मिल गये। उनके मेल से एक अण्डे की उत्पत्ति हुई। जो सोने (हिरण्य) के समान चमकीला होने से हिरण्याण्ड अर्थात् सोने का अण्डा कहलाया। पुराणों के अनुसार वह अण्डा जल के बुलबुले के समान छोटा-सा था। किन्तु धीरे-धीरे वह बढ़ने लगा। उस प्रवर्धमान अण्डे का आधार जल या सलिल था। वह उस सलिल में पड़ा-पड़ा बड़ा हो रहा था।[2]

सलिल तत्त्व

मेरे विचार से अण्डोत्पत्ति के पूर्व की, महदादिभूतपर्यन्त तत्त्वों की, अवस्था की संज्ञा सलिल है। क्योंकि तब वे सब तत्त्व सलिल या जलमय थे। वैदिक वाङ्मय में विश्व की इसी अवस्था को लक्ष्य करके कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे सब ओर सलिल ही सलिल था। यह विश्व आपोमय था।[3] श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल के अनुसार वह विश्वव्यापक सलिल या आप: साधारण जल या पानी नहीं था वरन् सर्वव्यापक शक्तितत्त्व या मातृतत्त्व था।[4] किन्तु यदि पुराणों की सर्गप्रक्रिया का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाये तो यह बात भली-भाँति प्रकट हो जाती है कि वह सर्वावरक सलिल, पानी या जल से भिन्न कुछ भी नही था।

पौराणिक सर्गप्रक्रिया में अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व, अहंकार, मन, दस इन्द्रिय, पंचतन्मात्र तथा पंचमहाभूतों की उत्पत्ति स्वीकर की गयी है। इनमे से पंचमहाभूतों

---

१. वायु० ५।२३ — ब्रह्मा बुद्धिश्च मिथुनं युगपत्संबभूवतु. ॥

२. विष्णु० १।२।५३-५४ — पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानाग्रहेण च।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥
तत्क्रमेण विवृद्धं सन् जलबुद्बुदवत्समम्।
भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धेर्महत्तदुदकेशयम् ॥

३. ऋग्वेद० १०।१३०।३ — तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्
शतपथ० ११।१।६।१ — आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।

४ मार्क० सा० अध्ययन, पृ० ३२-३४।

को छोड़कर शेष सभी तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दिखलाई नहीं देते। किन्तु पंचमहाभूतों में भी सभी भूत दिखलाई देनेवाले नहीं हैं। उनमें से आकाश एवं वायु महाभूतों को आँखों से नहीं देखा जा सकता किन्तु अग्नि, जल एवं पृथ्वी भूत सरलता से देखे जा सकते हैं। अब चूँकि सृष्टि के प्रारम्भिक काल में, भूर्भुवादि सप्तलोकात्मक ब्रह्माण्ड का अस्तित्व नहीं था किन्तु उसका निर्माण करनेवाले पृथ्वी आदि महाभूतों की सत्ता अवश्य थी। लेकिन वह पृथ्वीतत्त्व आज के समान जल महाभूत से पृथक् नहीं हुआ था। तब जल, पृथ्वी और अग्नि—ये तीनों दृश्यमान महाभूत आपस में मिले हुए थे। उनकी यह सम्मिलित अवस्था जल या सलिलमय थी। चूँकि पृथ्वी और अग्नितत्त्व उसमें मिले हुए थे इसलिए वह महान् जलराशि करोड़ों सूर्यों के समान चमक रही थी।

उस जलराशि के मध्य जिस हिरण्याण्ड की उत्पत्ति हुई, वह हिरण्याण्ड भी सहस्रों सूर्यों के समान चमक रहा था। चूँकि उस हिरण्याण्ड में लोकसिसृक्षु ब्रह्म स्वयं गर्भित हुए थे इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ कहा जाता है। आगे चलकर उन हिरण्यगर्भ के हिरण्याण्डगत गर्भ से चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड अर्थात् विराड् विश्व की उत्पत्ति होती है।

वाराह अवतार

इस प्रसंग में भगवान् नारायण के वाराह अवतार का स्मरण भी किया जा सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त जल या सलिलतत्त्व से उसका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। पुराणों में इस बात पर प्रायः मतैक्य पाया जाता है कि प्राक्सृष्टिकाल में सब ओर जल ही जल था। किन्तु उस महान् जलराशि से यह पृथ्वी, यह ब्रह्माण्ड, यह लोक किस प्रकार उद्भूत हुआ—इस सम्बन्ध में वहाँ पर तीन मतों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रथम मत के अनुसार उस महान् जलराशि में अपनी शेषशय्या पर सोये हुए भगवान् नारायण की नाभि से एक कमल निकला। वह कमल विश्वात्मक था। उस विश्व-कमल से लोकस्रष्टा ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए जिन्होंने चराचर जगत् की सृष्टि की।

द्वितीय मत के अनुसार प्रकृति और पुरुष के अनुग्रह से उस महान् पारावार के बीच एक अण्डे का जन्म हुआ। जो धीरे-धीरे विकसित होकर हिरण्याण्ड के रूप में बदल गया। अन्त में उस हिरण्याण्ड से ब्रह्मा जी प्रकट हुए जिन्होंने इस ब्रह्माण्ड की रचना की।

तृतीय मत के अनुसार भगवान् नारायण ने वाराह अवतार धारण करके जलमग्ना पृथ्वी का उद्धार किया था। पश्चात् उस पृथ्वी पर ब्रह्मा जी ने अनेक लोकों तथा उनके निवासियों की रचना की थी। इस मत में वर्णित वाराह (सुअर) भी पुराणों की अन्यान्य कल्पनाओं के समान एक गूढ़ प्रतीक के रूपमें ग्रहण किया गया है। तदनुसार—

भगवान् नारायण को वाराह रूप में केवल इस आधार पर कल्पित किया गया है कि जिस प्रकार वाराह या सुअर जल में मुँह डालकर अथवा जल को आहत करके

उसके भीतर की मिट्टी (पृथ्वी) को अनायास ही निकाल देता है उसी प्रकार भगवान् नारायण भी जलमग्ना पृथ्वी का उद्धार अनायास ही कर देते हैं । उनकी वाराह संज्ञा भी इसी तत्त्व की ओर संकेत करती है । जिस प्रकार सृष्टि के अन्त में, विशाल जलराशि (नारा या जल) में निवास करने के कारण उन्हें नारायण कहा जाता है[1] उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में उन्हें वाराह कहा जाता है । क्योंकि वे वार् (जल) को आहत करके (हटा करके) वार्मग्ना पृथ्वी का उद्धार करते हैं ।[2]

विराट्

बीज की परिणति जिस प्रकार शत सहस्र शाखावाले विराट् वृक्ष के रूप में होती है उसी प्रकार सृष्टि के बीजभूत प्रकृति पुरुष की अन्तिम परिणति चतुर्दशभुवनात्मक चराचर खचित विराट् विश्व तथा उससे अभिन्न सहस्रशीर्ष, सहस्र नेत्र तथा सहस्र बाहु एवं पैरवाले विराट् पुरुष के रूप में होती है । यह सर्वत्र फैला हुआ विराट् विश्व ही उस विराट् पुरुष का विराट् शरीर है । अस्तु ।

महदादिभूतपर्यन्त तत्त्वों से निर्मित पूर्वोक्त हिरण्याण्ड जल के बुलबुले के समान क्रमशः बड़ा हुआ । उस अण्डे में हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्मा गर्भित थे । सृष्टि के नदी, पर्वत, मेरु, समुद्र आदि स्थान उन्हीं भगवान् हिरण्यगर्भ के विभिन्न अंग हैं । उस अण्डे में ही सात लोक, सात द्वीप, सात सागर तथा सम्पूर्ण लोकालोक गर्भित है । उन समस्त लोकों की देव, असुर, मानव तथा पशु-पक्षी रूप समस्त प्रजा भी उस अण्डे में गर्भित है ।[3]

अग्निपुराण के अनुसार उस अण्डे के भीतर गर्भित पुरुष, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने,

---

१. मनु० १।१० — आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

वै० नारायण, पृ० ६५ ।

२. वै० नारायण, पृ० ६५. — वारं जलं आहित्वा उद्धारयति पृथ्वीं तस्माद्व वाराहः ।

३. विष्णु० १।२।५३-५५ — पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥
तत्र क्रमेण विवृद्धं जलं बुद्बुदवत्समम् ।
भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धेर्महत्तदुदकेशयम् ॥
प्राकृतं ब्रह्मरूपस्य विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ॥

वायु० ४।८०-८३ — हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्यौल्बं तन्महात्मनः ।
गर्भोदकं समुद्राश्च जराय्वस्थीनि पर्वताः ॥
तस्मिन्नण्डे त्विमे लोका अन्तर्भूतास्तु सप्त वै ।
सप्तद्वीपा च पृथ्वी समुद्रैः सह सप्तभिः ॥
लोकालोकं च यत्किंचिच्चाण्डे तस्मिन्समर्पितम् ।

विष्णु० १।२।५८ — साद्रिद्वीपसमुद्रश्च सज्योतिर्लोकसंग्रहः ।
तस्मिन्नण्डेऽभवद्विप्र सदेवासुरमानुषः ॥

वायु० ५०।७६ — अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ।

गरुड़० १।४।१० — अण्डस्यान्तर्जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम् ।

परिवत्सर पर्यन्त उसमें निवास करने के पश्चात् उसे फोड़ा; फलस्वरूप उस अण्डे के दो टुकड़े हो गये, उनमें से एक से स्वर्ग का और दूसरे से पृथ्वी का निर्माण हुआ तथा उन दोनों के बीच आकाश का।[१] इसके बाद उस स्वयंभू पुरुष ने सब प्रकार की चर अचर व मानसी सृष्टि की।[२]

पुनश्च श्रीमद्भागवत के अनुसार, असम्मत होने के कारण जब महदादिभूतपर्यन्त तत्त्व भोगायतन शरीर की रचना नहीं कर सके तब भगवान् ने इसके लिए उन्हें प्रेरित किया और वे संगठित होकर अण्डाकार हो गये। वह अण्डा एक सहस्र वर्ष पर्यन्त जल में अचेतन ही पड़ा रहा। पश्चात् भगवान् ने उसे जीवित कर दिया।[3] अन्यत्र कहा गया है कि वह परमपुरुष उस अण्डे को फोड़कर बाहर निकला। उसके सिर, नेत्र, पैर, बाहु आदि सभी सहस्र-सहस्र थे।[४] पुराणों में इस सहस्रशीर्ष पुरुष को प्रजापति भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा बतलाया गया है।[५] इस सहस्रमुख पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। पुराणों में इसी विराट् पुरुष के अवयवों में यह विराट् विश्व कल्पित किया जाता है। यथा—

उसके पैरों में भूलोक, नाभि में भुवर्लोक, हृदय में स्वर्लोक की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार उसके ऊरु में महर्लोक, ग्रीवा में जनलोक, वक्ष में तपोलोक तथा मूर्धा में सत्यलोक की कल्पना की गयी है। उसकी कमर में अतल, ऊरु में वितल तथा जानु आदि में सुतल आदि अधोलोक कल्पित किये गये हैं।[६]

भागवत की यह विराट् पुरुष-(सहस्रशीर्ष पुरुष) कल्पना वेद के सहस्रशीर्षा पुरुष से अनुप्रेरित है। वेद में इसी सहस्रशीर्ष पुरुष से चातुर्वर्ण्य तथा अन्य अनेक प्रकार की उत्पत्ति का वर्णन है।[७]

---

१. अग्नि० १७।९-१० — हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
तदण्डमकरोद् द्वैधं दिवं भुवमथापि च।
तयोः शकलयोर्मध्ये आकाशमसृजत् प्रभुः।

२. अग्नि० १७।११-१६; छान्दो० ३।१९।१ ३, में भी प्रायः इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं।

३. भाग० २।५।३२-३४

४. भाग० २।५।३५ — स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥

५. वायु० ७।६६-६७ — सहस्रशीर्षा सुमना सहस्रपाद सहस्रचक्षुर्वदनः सहस्रभुक्।
सहस्रबाहुः प्रथमः प्रजापतिस्त्रयीपथे यः पुरुषो निरुच्यते।
आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता एको ह्यपूर्वः प्रथमं तुराषाट्।
हिरण्यगर्भः पुरुषो महात्मा स पठ्यते वै तमसः परस्तात्।

६. भाग० २।५।३७,३६ — पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥

भाग० २।५।३७-४२।

७. ऋग्वेद १०।९०।१ — सहस्रशीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥
इत्यादि।

रहस्य

पैंगलोपनिषद् के अनुसार प्रकृतिपुरुष की सृष्टि से विरत अवस्था कारणअव्याकृत, महत्तत्त्वात्मक अवस्था हिरण्यगर्भ तथा महत्तत्त्व से उत्पन्न अहंकारात्मक स्थूल अवस्था विराड् है।[1]

सूर्यरूपी ब्रह्म की परिकल्पना में अनुपाख्य (दिखलाई न देनेवाला) सूर्य कारण, प्रातःकालीन अण्डाकार सूर्य हिरण्यगर्भ तथा दोपहर का चमकता हुआ सूर्य विराड् है।[2]

सृष्टि-विचार

पुराणों में सृष्टिविषयक जितना भी विचार पाया जाता है उसे सामान्यतः सृष्टि, स्थिति और प्रलय—इन तीन शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है। सृष्टि-विचार के अन्तर्गत सृष्टि-रचना के अतिरिक्त सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था का विचार भी आ जाता है।

सृष्टि-रचना के पूर्व

पुराणादि समस्त विद्याओं के आदि स्रोत ऋग्वेद मे सृष्टि की इस अवस्था का वर्णन करते हुए वेदर्षि प्रजापति परमेष्ठी कहते हैं कि सृष्टि के उस प्रभात में कुछ भी नहीं था। जो कुछ है वह भी नहीं था। आकाश और पृथ्वी नहीं थे। उनसे परे जो है, वह भी नहीं था। न मृत्यु थी—न अमरता। फिर दिवस और रात्रि की बात कौन पूछता है।

रचना से पूर्व सृष्टि के इस निषेधात्मक वर्णन के पश्चात् वही वेदर्षि, उसका विधायक वर्णन भी प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार तब सारा संसार अँधेरे में डूबा हुआ था। मानो अँधेरे ने अँधेरे को घेर रखा था। सब ओर सलिल (जल) ही सलिल था। उस सलिल में सारा संसार डूबा हुआ था। केवल एकमेव (ब्रह्म) उस समय शेष थे जो बिना वायु के श्वास ले रहे थे।

तभी उस एकाकी ब्रह्म के मन में सृष्टि की कामना उत्पन्न हुई और उससे यह सब उत्पन्न हुआ।

---

१. पैङ्गलोपनिषद् १।१।

२. जगद्गुरुवैभवम् (पं० मधुसूदन ओझा) पुराणं० १।२।१६५६, पृ० १८७ से
हिरण्यगर्भोऽण्डगतोऽस्ति सूर्योऽव्ययोऽनुपाख्यो विरजो द्यु ... ८ठे ॥४

३. ऋग्वेद० १०।१२०।१-४ (नासदीयसूक्त)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ।
नामृत्युरासीदमृतं न तर्हि ना रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम् ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्न परः किंचनास ।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविंदं हृदि प्रतीष्या कवयो वदन्ति ॥

ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसी वैदिक मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदें व स्मृतियाँ भी यही बात अपने-अपने ढंग से कहती हैं। पुराण भी इन सभी बातों का प्रतिपादन करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण प्रारम्भ में आप: अथवा सलिलावस्था का उल्लेख करता है और विश्वस्रष्टा की सृष्टि करने की उलझन से हमें परिचित कराता है।[1]

ऐतरेय उपनिषद् सृष्टि के प्रारम्भ में एकाकी आत्मा के अतिरिक्त अन्य सबका निषेध करती है।[2] यहाँ तक कि उस आत्मा में सृष्टि की इच्छा का भी अभाव था। बाद में उस आत्मा में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई।

छान्दोग्योपनिषद् सृष्टि के प्रारम्भ में एकमेवाद्वितीय सत् का अस्तित्व मानती है। पश्चात् उस सत् में, एक से बहुत होने की इच्छा की उत्पत्ति।[3]

बृहदारण्यक उपनिषद् पूर्वोक्त नासदीय सूक्त की भाषा में सृष्टि के प्रारम्भ में सबका निषेध करती है और केवल एकमेव ब्रह्म की सत्ता उस प्राक्सृष्टि काल में स्वीकार करती है।[4]

मनुस्मृति भी वैदिक स्वर में सृष्टि की उस आद्य अवस्था को तमोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय तथा प्रसुप्त के समान बतलाती है।[5]

श्रीमद्भागवत के अनुसार सृष्टि की रचना से पहले समस्त आत्माओं के आत्मा एक भगवान् ही थे। उस समय सृष्टि का नानात्व नहीं था। तब भगवान् की इच्छा एकाकी रहने की थी।[6]

अग्निपुराण के अनुसार उस आद्य अवस्था में न रात्रि थी न दिवस और न आकाश ही था। थे तो केवल एक अव्यक्त ब्रह्म।[7] विष्णुपुराण तथा मार्कण्डेयपुराण भी इसीका समर्थन करते है।[8]

---

१. शतपथ० ११।१।६ १ — आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।
ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहीति।
२. ऐतरेयो० १।१ — आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन।
३. छान्दोग्यो० ६।२।२,३ — सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।
४. बृहदा० १।२।१ — नैवेह किंच नाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्...
वही, १।४।१ — ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव...
५. मनुस्मृति० १।५ — आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
६. भाग० ३।५।२३ — भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥
७. अग्नि० १७।२ — ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभून्न खं रात्रिदिनादिकम्।
८. विष्णु० १।२।२३ — नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥
मार्क० ४५।६४ — ब्रह्माग्रे समवर्तत।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार उस प्राक्सृष्टि काल में यह गोलोक शून्यमय एवं भयंकर था।[1]

वायुपुराण, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत के अनुसार उस समय सर्व-सलिलमय एकार्णव अवस्था थी। उस महासागर में सहस्रशीर्ष सर्प अर्थात् शेषनाग की शय्या पर ब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायण अपनी योगनिद्रा का आश्रय लेकर सोये हुए थे।[2]

सृष्टि रचना

सृष्टि की वह तमोमय, सलिलमय, एकाकी ब्रह्ममय, एकार्णव अथवा कारण अवस्था अधिक समय तक न रह सकी। उस एकाकी ब्रह्म के मन में एक से अनेक होने की इच्छा उत्पन्न हुई। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह ब्रह्म विश्वस्रष्टा ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुआ। जिसे वैदिक वाङ्मय में हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा इत्यादि नामों से स्मृत किया गया है। स्मृति जिसे स्वयम्भू तथा पुराण जिसे चतुर्मुख लोकपितामह ब्रह्मा के रूप में चित्रित करते हैं।

ब्राह्मी सृष्टि

ब्रह्मा के जन्म से सम्बन्धित होने के कारण इस आद्य सृष्टि को ब्राह्मी सृष्टि कहा जाता है। उपनिषदों में, हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा की इस सृष्टि को, ब्रह्म की हिरण्यगर्भ अवस्था कहा जाता है।

वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार सबसे पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। उत्पन्न होते ही वे सब प्राणियों के अधिपति हुए। उन्होंने ही आकाश-पृथिवी को अपने-अपने स्थानपर नियुक्त किया। उन देवता का नाम 'क' था। हम हव्य द्वारा उनकी पूजा करते हैं।[3]

---

१. ब्रह्मवै० १।३।१ — शून्यमयं लोकं विश्वं गोलोकं भयंकरम्।

२. वायु० २४।८-११ — आसीदेकार्णवं घोरमविभागं तमोमयम्।
माययैकार्णवे तस्मिन् शङ्खचक्रगदाधरः।
फणासहस्रकलितं तमप्रतिमवर्चसम्।
महाभोगपतेर्भोगमन्वास्तीर्य महोच्छ्रयम्।
तस्मिन् महति पर्यङ्के शेते वै कनकप्रभे।

विष्णु० ६।४।४,६ — एकार्णवे ततस्तस्मिन् शेषशय्यागतः प्रभुः।
ब्रह्मरूपधरश्शेते भगवानादिकृद् हरिः॥
आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः।

भाग० ३।८।१० — उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः॥

३. ऋग्वेद १०।१२१।१ — हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

यजुर्वेद २७ — पूर्ववत्।

अथर्ववेद ४।२।१ — पूर्ववत्।

मुण्डक एवं श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी मिलते हैं, जहाँ हिरण्यगर्भ ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि का उल्लेख है।[1]

मैत्रायणी उपनिषद् में उन्हें प्रजापति कहकर पुकारा गया है। और कहा गया है कि उन्होंने बहुत-सी प्रजा उत्पन्न की है।[2]

पुराणों में उन्हें ब्रह्मा, चतुर्मुख, हिरण्यगर्भ, प्राणियों के आदिकर्ता आदि नामों से स्मृत किया गया है। कोशकार भी उन्हें यही नाम प्रदान करते हैं।[3]

मानसी सृष्टि

पुराणों में कहा गया है कि ब्रह्माजी अपने मन तथा शरीर के विभिन्न अंगोपांगों से नाना प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करते हैं।[4] उनके मन से उत्पन्न हुई सृष्टि को पुराणों में मानसी सृष्टि कहा गया है। इसके अतिरिक्त चूँकि ब्रह्मा का एक नाम मन भी है अतः ब्रह्मा अर्थात् मन से उत्पन्न हुई सृष्टि मानसी सृष्टि होगी।[5]

पुराणों में अनेक प्रकार से इस मानसी सृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है।

कुमार सर्ग

ब्रह्मा ने अपने मन से सर्वप्रथम जिस सृष्टि का आविष्कार किया वह पुराणों में कुमार सर्ग के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में अपने समान तेजस्वी चार पुत्रों को उत्पन्न किया। वे चारों पुत्र जन्म से ही धर्मज्ञान, वैराग्यादि भावों से युक्त थे। ज्ञानी होने के कारण वे चारों पुत्र सृष्टि विस्तार के कार्य से विरत रहे। वे बाल ब्रह्मचारी अथवा ऊर्ध्वरेता थे। उनके नाम थे—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। पुराणों में इन चार ब्रह्मकुमारों की प्रसिद्धि महाज्ञानवान् ऋषियों के रूप में है।[6]

---

१. मुण्डक० १।१।१ — ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
   श्वेताश्व० ३।४ — हिरण्यगर्भं जनयामास स पूर्वं…।
२. मैत्रायण्यु० १।६ — प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकः सोऽत्मानमभिध्यायात्वा बह्वीः प्रजा असृजत।
३. वायु० ४।७७,७८ — हिरण्यगर्भः सोऽग्रेऽस्मिन्प्रादुर्भूतश्चतुर्मुखः।
   आदिकर्ता च भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत।
   अमरकोश — ब्रह्मा…हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः।
४. भाग० ३।१२।२७ — मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥२७॥
५. वायु० ४।२७ — मनो महांश्च मतिर्ब्रह्मा…।
   तत्त्वसमास०, पृ. ३ पर उद्धृत मनो मतिर्महान् ब्रह्मा…।
६. भाग० ११।१३।१६ — पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
   वही, ३।१२।४ — सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः।
   सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः।
   वायु० ६।७०-७१ — अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान्।
   सनन्दनं च सनकं विद्वांसं च सनातनम्।
   विष्णु० १।७।६ — न ते लोकेष्वसज्जन्त निरपेक्षाः प्रजासु ते।

जैसा कि आगे (प्राकृत-वैकृत सर्ग) में बतलाया जायेगा कि ये चारों ऋषिकुमार, महत् या बुद्धि तत्त्व के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यात्मक चार भावों के मानवीकृत रूप हैं ।

सप्तर्षि सर्ग

उपर्युक्त चार पुत्रों के अतिरिक्त ब्रह्मा के मन से मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि सप्तर्षियों की उत्पत्ति के विवरण पुराणों में उपलब्ध होते हैं ।

विभिन्न पुराणों में इनकी संख्या के सम्बन्ध में विवाद पाया जाता है । कोई इनकी संख्या को सात, कोई नौ, कोई दस, कोई ग्यारह और कोई बारह बतलाते हैं । किन्तु प्रत्येक वर्ग में सप्तर्षियों के नाम अनिवार्य रूप से गिने गये हैं । उनके नाम एवं वर्ग इस प्रकार हैं—

सप्तर्षि—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ।[१]

नव ऋषि—पूर्वोक्त सप्तर्षि तथा भृगु एवं दक्ष ।[२]

दस ऋषि—पूर्वोक्त नव तथा देवर्षि नारद ।[३]

ग्यारह ऋषि—पूर्वोक्त दस तथा रुचि ।[४]

बारह ऋषि—पूर्वोक्त ग्यारह तथा नीललोहित रुद्र ।[५]

सप्तर्षि रहस्य

उपर्युक्त सात अथवा बारह ऋषि क्या थे ? कौन थे ? इस सम्बन्ध में वायुपुराण हमारा दिशा-निर्देश करता है । उसके अनुसार भृगु आदि नव ऋषि (नव ब्रह्मा) अत्यन्त प्राचीनकालीन ब्रह्मवादी गृहस्थ थे । उन्होंने सर्वप्रथम (वेदयज्ञमय) धर्म प्रवर्तित किया था तथा प्रजापति रुचि, नारद तथा रुद्र के साथ मिलकर बहुत-सी प्रजा उत्पन्न की थी । ये बारह ऋषि ही द्वादश प्रजापति हैं ।[६]

मरीचिप्रमुख सप्त ऋषियों के सम्बन्ध में पुराणों में प्रसिद्ध है कि वे स्वायम्भुव नामक प्रथम मन्वन्तर के मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि थे ।[७]

---

१. गरुड० १।८७।२ मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वशिष्ठश्च महातेजा ऋषयः सप्त कीर्तिताः ।

२. विष्णु० १।७।५-६ भृगुं पुलस्त्यं पुलहः क्रतुमङ्गिरसं तथा ।
मरीचिदक्षमत्रिं वशिष्ठं चैव मानसान् ॥
नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ।

३. भाग० ३।१२।२१-२२ अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।

४. वायु० ९।१००-१०३ ।

५. वायु० ९।१०३ इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः प्राणजा द्वादश स्मृताः ।

६. वायु० ९।१०४-१०५ भृग्वादयस्तु ये सृष्टा नवैते ब्रह्मवादिनः ।
गृहमेधिनः पुराणास्ते धर्मस्तैः प्राक्प्रवर्तितः ।
द्वादशैते प्रवर्तन्ते सह रुद्रेण वै प्रजाः ॥

७. गरुड० १।८७।१-३ ।

रौद्री सृष्टि

ब्रह्मा ने जब देखा कि उनके द्वारा उत्पन्न सनक-सनन्दन आदि चारों ऋषि-कुमार सृष्टिविस्तार के उनके कार्य में कोई भी भाग नहीं ले रहे हैं तो उससे उन्हें महान् क्रोध हुआ। उनके क्रोध से एक महत्तेजस्वी पुत्र हुआ। वह जन्मते ही रोया इसलिए ब्रह्मा ने उसका नाम रुद्र रखा। वह रुद्र नीललोहित वर्ण का था। पुराणों में उसे बहुधा नीललोहित रुद्र के नाम से स्मृत किया है।[1]

इन रुद्र ने अपने पिता ब्रह्मा के सृष्टि-कार्य में सहायता देने के लिए असंख्य रुद्रों की सृष्टि की। लेकिन ये रुद्र सृष्टि के विपरीत, संहार के योग्य निकले। ब्रह्मा ने रुद्र को इन असंख्य रुद्रगणों की सृष्टि करने से रोका और उन्हें तप करने की सलाह दी।[2]

ब्रह्मा से उपर्युक्त रुद्र के जन्म की घटना पुराणों में रौद्री-सृष्टि के नाम से प्रसिद्ध है। मेरे विचार से रुद्रोत्पत्ति की यह कथा महत्तत्त्वात्मक ब्रह्मा से अहंकारात्मक-रुद्र की उत्पत्ति को प्रतीक रूप से सूचित करती है।

सांख्य के प्रसिद्ध सर्गक्रम में महत्तत्त्व से धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इन चार भावों की उत्पत्ति को सूचित किया गया है। और उसी महत्तत्त्व से अहंकार की भी उत्पत्ति बतलायी गयी है।[3] चूंकि महत्तत्त्व के उपर्युक्त धर्मज्ञानादि भावों से किसी भी प्रकार से सृष्टि का विस्तार नहीं होता अतः उन्हें निष्क्रिय कहा जा सकता है। पुराणों की मानवीकरण प्रधान अलंकृत शैली में ये धर्मज्ञानादि भाव महत्तत्त्वात्मक ब्रह्मा के चार पुत्र—सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार हैं। और उसी महत्तत्त्वात्मक ब्रह्मा से

---

१. विष्णु १।७।८-१०,१२ — सनन्दनादयो ये च पूर्वसृष्टास्तु वेधसा।
न ते लोकेष्वसज्जन्त निरपेक्षाः प्रजासुते।
सर्वे तेऽभ्यागतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः॥
तेष्वेवं निरपेक्षेषु लोकसृष्टौ महात्मनः।
ब्रह्मणोऽभून्महान् क्रोधस्त्रैलोक्यदहनक्षमः॥
भ्रुकुटीकुटिलास्यस्य ललाटात्क्रोधदीपितात्।
समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः॥

भाग० ३।१२।७ — सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः।

वायु० ९।७० — रुद्रं रोषात्मसंभवम्।

अग्नि० १७।१४ — रुद्रं च ससर्ज क्रोधसंभवम्।

रुरोद सुस्वरं सोऽथ प्राद्रवद् द्विजसत्तम।

विष्णु० १।८।३,४ — रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह।

२. भाग० ३।१२।१६-१८ — रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत्।
.. अलं प्रजाभिः।
तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम्।

३. सां० कारिका० २३ — अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानविरागऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥

वायु० ५।२३,२५,२७ — महान् बुद्धिश्च मिथुनं युगपत्संबभूवतुः॥
अप्रतीघातज्ञानेन ऐश्वर्येण च सोऽन्वितः।
धर्मैश्वर्यकृताबुद्धिर्ब्राह्मी जज्ञेऽभिमानिनः॥

उत्पन्न (इन्द्रिय, भूततन्मात्रादि का उत्पादक) अहंकार उनका नीललोहित रुद्र है। जिससे असंख्य रुद्रों की (भूततन्मात्र अथवा एकादश प्राणरूप रुद्रों की उत्पत्ति होती है।

पुराणों में भी रुद्र को अहंकार का तथा ब्रह्मा को महत्तत्त्व का अधिष्ठाता-अभिमानी देवता कहा गया है। उनके इस रूप पर दैवतसंहिता में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है।

अंगज सृष्टि

ब्रह्मा ने पूर्वोक्त सनक-सनन्दनादि, मरीचि, अत्रि तथा नीललोहित रुद्र आदि कुमारों तथा ऋषियों की सृष्टि अपने मन से की। उन्होंने अपने शरीर से भी धर्म, अधर्म, मृत्यु, काम, क्रोध, लोभ, वाणी, समुद्र, निर्ऋति, कर्दम आदि की सृष्टि की।[1] ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से उत्पन्न होने के कारण वे अंगज कहलाये। उनकी सृष्टि समष्टिरूप से अंगज सृष्टि कही जाती है।

पुराणों में महत्तत्त्व को (जो कि ब्रह्मात्मक है) तीन प्रकार का—सात्त्विक, राजस-तामस कहा गया है।[2] धर्मज्ञानादि उसके सात्त्विक अंशजन्य हैं तथा रुद्र-तामस अंशजन्य। अंगज सृष्टि में गिने गये धर्म, अधर्म, काम, क्रोध, लोभ आदि भाव भी बुद्धि या महत्तत्त्व के सात्त्विक, राजस तथा तामस अंश के विभिन्न योगों से निर्मित हैं। उन सबका सम्बन्ध बुद्धि या महत्तत्त्व, जिसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है, से बतलाने के लिए उन्हें ब्रह्मा अर्थात् महत्तत्त्व की सन्तान बतलाया गया है।

मानवी सृष्टि

ब्रह्मा ने सृष्टि की वृद्धि के लिए पुनः ध्यान किया क्योंकि पूर्वोक्त मरीचि, अत्रि आदि मानसपुत्रों से उनकी सृष्टि की पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई थी। इस ध्यानावस्था में उनका शरीर दो भागों में विभक्त हो गया। एक भाग से नर उत्पन्न हुआ और दूसरे भाग से नारी। नर का नाम स्वायम्भुव मनु तथा नारी का नाम शतरूपा था।[3]

मनु और शतरूपा के इस सर्वप्रथम मानवीय युगल से, मिथुन धर्म द्वारा मानवी सृष्टि का विस्तार हुआ। इस मिथुन से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न

---

१. भाग० ३।१२।२३-२७।

२. विष्णु० १।२।३४ — सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्।

३. भाग० ३।१२।४६-५४ — ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे।
ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम्।
कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत् कायमभिचक्षते।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत।
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायंभुवः स्वराट्।
स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः।
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधांबभूविरे॥

वायु० १०।१-१५ — इसी के समान।

हुए। प्रियव्रत के आग्नीध्र, नाभि, ऋषभदेव, भरत आदि क्षत्रिय राजाओं की वंश परम्परा प्रचलित हुई जबकि उत्तानपाद से ध्रुव, उत्तम, तामस, रैवत आदि पुराण-इतिहास प्रसिद्ध नरपुंगवों की सन्तान परम्परा।[1]

मैथुनी सृष्टि

मनु और शतरूपा के उपर्युक्त दो पुत्रों के अतिरिक्त तीन पुत्रियाँ भी थीं। उनमें से देवहूति नामक पुत्री कर्दम नामक प्रजापति से संगत हुई तथा आकूति और प्रसूति क्रमशः रुचि एवं दक्ष नामक प्रजापतियों से। उनके संयोग (मिथुन) से नाना प्रकार के देव, दानव, पशु, सर्प आदि जीवधारियों की उत्पत्ति हुई।[2] मैथुन से उत्पन्न होने के कारण यह सृष्टि मैथुनी सृष्टि कहलायी।

चतुर्विध प्रजा सृष्टि

पुराणों में इस सृष्टि के समस्त प्राणियों को देव, असुर, मनुष्य तथा पितर-इन चार वर्गों में विभाजित किया गया है।[3] उनके सम्बन्ध में पुराणों में कहा जाता है कि ब्रह्मा के मुख से देवता, जघन से असुर, पक्षों से पितर तथा राजस शरीर से मानव उत्पन्न हुए।[4] इस चतुर्विध प्रजा की उत्पत्ति का विस्तृत विचार प्रायः सभी पुराणों ने किया है। और इस सबका उद्देश्य मात्र यह दिखलाना है कि इस सारे चराचर विश्व को ब्रह्मा ने अपने मन और शरीर से रचा है।

इस देव, असुर, पितर तथा मानव वर्ग के अतिरिक्त यदि ऋषिवर्ग का भी अलग से ग्रहण किया जाये तो उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों का कहना है कि मरीचि, अत्रि तथा सनक-सनन्दनादि ऋषिगण ब्रह्मा के संकल्प अथवा मन से उत्पन्न होने के कारण उनकी मानसी प्रजा है। जिसका वर्णन हमने अभी मानसी सृष्टि के अन्तर्गत किया है।

इस चतुर्विध प्रजा के अतिरिक्त वेद, यज्ञ, शास्त्र, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा आदि की सृष्टि-विषयक कथाएँ भी पुराणों में उपलब्ध होती हैं और उनमें ब्रह्मा जी को इन सब सृष्टियों का कर्ता माना गया है।[5]

---

१. भाग० ५।१-७। विष्णु० २।१। अग्नि० १०७। मार्क० ५३। वायु० ३३।

२. भाग० ४।१; गरुड० ५।२१, ३४; विष्णु० १।१५, २१; मार्क० ५०,५१,५२; वायु० १०।

३. वायु० ६।२ — ततो देवासुरपितॄन् मानवं च चतुष्टयम् ॥
विष्णु० १।५।३० — ततो देवासुरपितॄन् मनुष्यांश्च चतुष्टयम् ।

४. वायु० ६।४ — ततोऽस्य जघनात्पूर्वमसुरा जज्ञिरे सुताः ।
६।६ — ततो मुखे समुत्पन्ना दीव्यतस्तस्य देवताः ।
६।१३ — पितरो ह्युपपक्षाभ्यां रात्र्यह्नोरन्तरासृजत् ।
विष्णु० १।५।२८-४० — रजोमात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं प्रभुः ।
रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम ॥
भाग० ३।१२

५. वही।

सृष्टि के विविध प्रकार

पुराणों में आब्रह्म स्थावर पर्यन्त समस्त सृष्टि का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है किन्तु नौ प्रकार की सृष्टियों का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में उपलब्ध है। पुनश्च वह नवविध सर्ग पुराणों में अनेक प्रकार से विभक्त किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में इस नवविध सर्ग के पुराण वर्णित त्रिविध रूप को अपनाकर वर्णन किया गया है। उसके वर्णन विवेचन के पूर्व अन्यान्य भेदों का वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा।

नवविध सर्ग

पुराणों में इसके अन्तर्गत ये नव सर्ग गिनाये गये हैं—

१. महत् सर्ग	४. मुख्य सर्ग	७. अर्वाक् स्रोत
२. इन्द्रिय सर्ग	५. तिर्यक् स्रोत	८. अनुग्रह सर्ग
३. तन्मात्र सर्ग	६. ऊर्ध्व स्रोत	९. कुमार सर्ग ।

द्विविध सर्ग

पूर्वोक्त नवसर्ग में से प्रथम तीन सर्ग प्रकृति से नैसर्गिक रूप से अर्थात् अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न होने से अबुद्धिपूर्वक सृष्टि कहलाते हैं। शेष छह सर्ग ब्रह्मा द्वारा बुद्धिपूर्वक अर्थात् खूब सोच-समझकर बनाये जाने से बुद्धिपूर्वक सृष्टि कहलाते हैं।[1] बुद्धिपूर्वक सर्ग में कहीं-कहीं पाँच सर्ग ही गिने गये हैं।[2]

चतुर्विध सृष्टि

ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित मानसी, रौद्री, मैथुनी तथा स्वयं ब्राह्मी सृष्टि—इन सबका अन्तर्भाव भी उपर्युक्त नवविध सर्ग में हो जाता है। पूर्व वर्णित अंगज, मानवी तथा चतुर्विध प्रजा सृष्टि भी इस नवविध सर्ग में समाहित हो जाती है। ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित होने से ये सब सृष्टियाँ छह प्रकार के वैकृत सर्ग में आ जाती हैं।

षोडशविध सृष्टि

सांख्यदर्शन में सृष्टि के सोलह प्रकार माने गये हैं यथा—चौदह प्रकार का भौतिक सर्ग तथा एक-एक प्रकार के तत्त्व तथा भावसर्ग। इनमें से तत्त्वसर्ग का अन्तर्भाव महदादि रूप प्राकृत सर्ग में, भावसर्ग का अन्तर्भाव कुमार सर्ग में तथा भौतिक सर्ग

---

१. वायु० ६।६६ — प्राकृतास्तु त्रयः सर्गाः कृतास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः।
बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते षट्सर्गा ब्रह्मणस्तु ते॥

२. शिववायवीय १।१२।१८ — (पुराणविमर्श से उद्धृत)
प्राकृताश्च त्रयः पूर्वे सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः।
बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पञ्च वैकृताः॥

का अन्तर्भाव वैकृत सर्ग में ही आता है। सांख्य में तत्त्वसर्ग को लिंग सर्ग भी कहा गया है।[1]

त्रिविध सृष्टि

पुराणों में प्राकृत, वैकृत एवं प्राकृतवैकृत के भेद से तीन प्रकार की सृष्टियाँ मानी गयी हैं। पूर्वोक्त नवविध सर्ग को इन तीन भागों में पुराणकारों ने गर्भित किया है। प्रथम तीन सर्ग = प्राकृत सर्ग। मुख्यादि पाँच सर्ग = वैकृतसर्ग। नवमा कुमार सर्ग = प्राकृत-वैकृत सर्ग।[2]।

प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी त्रिविध विभाजन को स्वीकार करके नवसर्गों का वर्णन किया गया है।

प्राकृत सर्ग

जड़ और जीव के भेद से यह सृष्टि दो प्रकार की है। जड़ सृष्टि प्रकृति से उत्पन्न होने से प्राकृत कही जाती है। इस प्राकृत या जड़ सृष्टि के अन्तर्गत अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्त्व तथा अहंकारज एकादश इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्र—इस प्रकार सत्रह पदार्थ आते हैं। यह सत्रह पदार्थों की सृष्टि सांख्य दर्शन में लिंग या तत्त्व सर्ग के नाम से प्रसिद्ध है।[3] इसे पुराणों में प्राकृत सर्ग कहा गया है। इस सर्ग में पुराणो के प्रसिद्ध नवविध सर्ग के प्रथम तीन सर्ग अर्थात् पहला महत् सर्ग, दूसरा भूतसर्ग तथा तीसरा इन्द्रियसर्ग हो जाते हैं।[4]

सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहले इसी सर्ग की सृष्टि होती है। महदादि सप्त प्रकृतियों से उत्पन्न होने के कारण यह सर्ग प्राकृत सर्ग कहलाता है।

---

१. सां०कारिका ५४ गौडपादभाष्ये	लिङ्गसर्गो भावसर्गो भूतसर्गो···एष प्रधानकृतः षोडशविधः सर्गः॥
युक्तिदीपिका कारिका २१	तत्त्वसर्गो महदादिः। भावसर्गो धर्मादिः। भूतसर्गो ब्रह्मादिः।
वही, कारिका ५२	सर्गस्त्रिविधः। भौतिकः सर्गः। लिङ्गाख्यः सर्गः। भावाख्यश्च सर्गः।
तत्त्वसमास० २०	चतुर्दशविधो भूतसर्गः।
२. गरुड १।४।१८	पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः। प्राकृतो वैकृतश्चापि कौमारो नवमः स्मृतः॥
विष्णु० १।५।२४,२५	पूर्ववत्।
३. सां० कारिका० ४०	महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं···लिङ्गम्।
सां० सूत्र ३।६	सप्तदशैकं लिङ्गम्।
४. गरुड० १।४।१३-१५	प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः। तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः। वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्गश्चैन्द्रियकः स्मृतः॥ इत्येष प्राकृतः सर्गः संभूतो (अ) बुद्धिपूर्वकः॥

प्रथम महत्सर्ग (ब्राह्म सर्ग)	सृष्टि के प्रारम्भ में त्रिगुणसाम्य को प्राप्त अव्यक्त प्रकृति के पुरुष द्वारा क्षुब्ध किये जाने पर जिस महत्—महान् अथवा बुद्धि नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है वह इस सर्ग द्वारा संकेतित किया गया है।
द्वितीय इन्द्रियसर्ग (वैकारिक सर्ग)	उपर्युक्त महत्तत्त्व से द्विविध अहंकार तत्त्व उत्पन्न होता है। अहंकार के सात्त्विक रूप से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।
तृतीय भूतसर्ग (तामस सर्ग)	इसी अहंकार के तामस रूप से पंचतन्मात्र उत्पन्न होते हैं जिनसे पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

वैकृत सर्ग

पूर्वोक्त प्राकृत सर्ग की जड़ात्मक सृष्टि हो जाने पर जीव-जगत् की सृष्टि होती है। इस सृष्टि को पुराणों में वैकृत सर्ग कहा गया है। इस सर्ग के अन्तर्गत नवविध सर्ग के पाँच सर्ग—मुख्य सर्ग, तिर्यक् सर्ग, ऊर्ध्व सर्ग, अर्वाक् सर्ग तथा पाँचवाँ अनुग्रह सर्ग—आते हैं।[1] महदादि सप्त विकृतियों तथा इन्द्रियादि षोडश विकारों से उत्पन्न होने के कारण यह सर्ग वैकृत सर्ग कहलाता है।

चतुर्थ मुख्य सर्ग (स्थावर सृष्टि)	पूर्वोक्त प्राकृत सर्ग में कथित पृथ्वी आदि महाभूतों से सर्वप्रथम नदी, पर्वत, वृक्ष आदि स्थावरों की उत्पत्ति होती है। इसे ही इस सर्ग द्वारा लक्षित किया गया है। इस मुख्य सर्ग के अन्तर्गत हम भूर्भुवादि सप्तलोकों की भी गणना कर सकते है क्योंकि वे भी स्थावर कोटि में आते हैं।
पंचम तिर्यक् स्रोत (तिर्यक् सृष्टि)	मुख्य सर्ग की रचना के पश्चात् कीट, पतंग, पशु, पक्षी, सरीसृप इत्यादि तिर्यक् योनियों की सृष्टि होती है। चूँकि इन जन्तुओं के शरीर की बनावट तिर्यक् अर्थात् तिरछी रहती है इसलिए इन्हें तिर्यक् योनिज या तिर्यंच कहते हैं।
षष्ठ ऊर्ध्वस्रोत (देवसृष्टि)	मानवेतर स्थावर जंगम जीवों की उत्पत्ति के पश्चात् देवताओं की सृष्टि होती है। चूँकि देवता ऊर्ध्वलोक में निवास करते हैं अतः उनकी सृष्टि ऊर्ध्वस्रोत कही जाती है। देवता आठ प्रकार

---

१. गरुड० १।४।१५-१८ विष्णु० १।५।२१-२४ अग्नि० २०।३-५ वायु० ६।६२-६५ भाग० ३।१०।१३ मार्कं० ४७	मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः। तिर्यक्स्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तिर्यग्योनिः स उच्यते॥ तदूर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः। ततोऽर्वाक् स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानसः। अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसस्तु यः। पञ्चैते वैकृताः सर्गाः।

के माने गये हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पिशाच।[1]

सप्तम अर्वाक् स्रोत (मानव सृष्टि) पूर्वोक्त स्थावर, पशु-पक्षी, सरीसृप, इन्द्र, राक्षस, असुर, सोम, प्रजापति आदि जीव-जातियों की सृष्टि होती है। चूँकि मनुष्य नीचे पृथ्वी पर रहते हैं इसलिए उन्हे अर्वाक् स्रोत कहा जाता है।

अष्टम अनुग्रह सर्ग इन चार स्रोतों के प्राणियों की सृष्टि के साथ अनुग्रह सर्ग की प्रवृत्ति होती है। यह सर्ग विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि के भेद से चार प्रकार का है।[2] पुनः सात्त्विक, तामस के भेद से वह दो प्रकार का है।[3] अर्थात् विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धियाँ सात्त्विक तथा तामस भेद से दो प्रकार की हैं। सांख्य कारिका के गौड़पाद भाष्य में इन चारों के अवान्तर भेद पचास बतलाये गये हैं। इसे वहाँ पर प्रत्ययसर्ग कहा गया है।[4]

विपर्यय पाँच प्रकार का है—तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र। यह विपर्यय अथवा पंचपर्वा अविद्या अन्तर्बहिः प्रकाशशून्य स्थावर या मुख्यसर्ग में प्रतिष्ठित है।[5]

अशक्ति २८ प्रकार की है। ग्यारह इन्द्रियों सम्बन्धी ग्यारह प्रकार की अशक्ति या असामर्थ्य, नौ प्रकार की अतुष्टि (तुष्टि से विपरीत) तथा आठ प्रकार की असिद्धि (सिद्धि के विपरीत)। ये अठाईस प्रकार की अशक्तियाँ तिर्यक् स्रोत के प्राणियों में प्रतिष्ठित हैं।[6]

तुष्टि आठ प्रकार की है—प्रकृति, उपादान, काल भाग्य, पार, सुपार, परापार, अनुत्तमांभ, उत्तमांभ। यह आठ प्रकार की तुष्टि ऊर्ध्वस्रोत या देवसर्ग में प्रतिष्ठित है।[7]

इसी प्रकार ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति तथा दान—ये पाँच गौण सिद्धियाँ तथा तार, सुतार, प्रमाद, मुदित, मोदमान, रम्यक तथा सदामुदित—ये आठ सिद्धियाँ अर्वाक् स्रोत अर्थात् मानुषसर्ग में प्रतिष्ठित हैं।[8]

---

१. सां० कारिका ५३ अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति।
तथा उसपर गौड़पाद भाष्य मनुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥
भाग० ३।१०।२७-२८ देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः।
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः॥

२. वायु० ६।५७ पञ्चमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा स व्यवस्थितः।
विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या सिद्ध्या तथैव च।

३. विष्णु० १।५।२४ अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च सः।

४. सां० कारिका ४६ एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्याः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्॥

५. वायु० ६।३५-४०। विष्णु० १।५।४-७। ६. वायु० ६।४०-४७। विष्णु० १।५।८-११। ७. वायु० ६।४८-५१। विष्णु० १।५।१२-१४। ८. वायु० ६।५२-५६। वायु० ६।६७-६८। विष्णु० १।५।१५-१८।

इस प्रकार वैकृत सर्ग के अन्तर्गत सभी प्रकार की देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष आदि की सृष्टियाँ समाहित हो जाती हैं। उसके अन्तर्गत पहले कही गयी मानसी, रौद्री, मैथुनी आदि सृष्टियों का अन्तर्भाव भी हो जाता है।

प्राकृत-वैकृत सर्ग

पुराणों में इस सर्ग को बहुधा कुमार सर्ग के नाम से स्मृत किया गया है।[1] उसकी प्रकृति-विकृति रूप उभयात्मकता को बतलाने के लिए, उसे उभयात्मक सर्ग भी कहा गया है।[2]

इस सर्ग को प्राकृत-वैकृत कहे जाने का कारण प्राकृत तथा वैकृत सर्ग की भाँति स्पष्ट है। चूँकि यह सर्ग प्रकृति-विकृति रूप महत्तत्त्व से उत्पन्न होता है इसलिए इसे प्राकृत-वैकृत या उभयात्मक कहा जाता है।

पुराणों मे सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार नामक चार चिरकुमारों की ब्रह्मा से उत्पत्ति को कुमारसर्ग कहा जाता है। पुराणों के अनुसार ये चारों पुत्र सृष्टि कार्य से विरत अर्थात् निष्क्रिय, ऊर्ध्वरेता तथा जन्म से ही धर्म-ज्ञानादि से सम्पन्न थे।[3] ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहले इन्हीं की सृष्टि की थी।[4] कुमारसर्ग के सम्बन्ध में इससे अधिक वर्णन हमें पुराणों में उपलब्ध नहीं होता। अतः अन्य स्रोतों से उसका स्वरूप निर्धारित करना श्रेयस्कर होगा।

सांख्यकारिका ४३ में कहा गया है कि महत् या बुद्धितत्त्व के धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य—ये चार सांसिद्धिक भाव प्राकृतिक एवं वैकृतिक अर्थात् उभय रूप हैं।[5] इसी कारिका के गौड़पाद भाष्य में उनकी उभयात्मकता का हेतु देते हुए बतलाया गया है कि सर्ग के आदि में भगवान् ब्रह्मा के सनक-सनन्दनादि चार पुत्र उत्पन्न हुए। उन्हे ये धर्मज्ञानादि चारों भाव जन्म से प्राप्त थे। प्रकृतिप्रदत्त होने से वे भाव प्राकृत कहलाये। उन भावों को चूँकि आचार्य आदि के निमित्त से भी प्राप्त किया जा सकता है इसलिए वे वैकृत हैं। क्योंकि आचार्य आदि भी विकृति या वैकारिक अर्थात् प्रकृति के महदादि भूतपर्यन्त विकारों से उत्पन्न हैं।

---

१. वायु० ६।६५ कौमारो नवम स्मृतः। गरुड० १।४।१८ वही। विष्णु० १।५।२५ प्राकृतो-वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः।

२. भाग० ३।१०।२६ कौमारस्तूभयात्मकः।

३. भाग० १।३।६। वायु० ६०।७०,७१। विष्णु० १।७।८-१०।

४. भाग० १।३।६ स एव प्रथम देवः कौमारः सर्गमास्थितः।
वायु० ६।७० अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान्।

५. सां० कारिका ४३ (तथा उसका गौड़पाद भाष्य)
सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिकाः वैकृतकाश्च धर्माद्याः।
कारिका २३ अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानविराग ऐश्वर्यम्।

इस प्रकार सनकादि को प्राप्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—ये चार भाव प्राकृत-वैकृत सर्ग में अन्तर्भूत होंगे। पुराणों में जिस प्रकार ब्रह्मा को महत्तत्त्व का अधिष्ठाता माना गया है वैसे ही ये चार ब्रह्मपुत्र भी महत्तत्त्व के धर्म-ज्ञानादि चार भावों के अधिष्ठाता माने जाने चाहिए। मेरे विचार से जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि देवताओं के रूप एवं स्वभाव की कल्पना, पुराणों ने सांख्यतत्त्वों की संख्या एवं स्वभावादि के अनुसार की है उसी प्रकार इन धर्मादिभावों को उन्होंने कुमार रूप में कल्पित किया है। चूँकि महत्तत्त्व से उत्पन्न धर्म-ज्ञानादि भावों से किसी प्रकार की नवीन तत्त्वसृष्टि नहीं होती इसलिए उन्हें कुमार (कुँआरा या छोटी आयु का बालक जो कि सन्तानोत्पत्ति आदि सृष्टि कार्य नही कर सकते) रूप में कल्पित किया गया है। और चूँकि धर्म, ज्ञान, विराग आदि भाव ऋषियों मे ही बहुधा पाये जाते हैं इसलिए उन्हें ऋषि रूप में कल्पित किया गया है।

पुराणों में सनकादि ब्रह्मकुमारो को पंचवर्षीय बालकों के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

स्थिति-विचार

ब्रह्मा द्वारा सृष्टि का रचना-कार्य पूर्ण हो जाने पर उसके पालन तथा संरक्षण का प्रश्न उठता है। पुराणों के अनुसार यह कार्य परमेश्वर भगवान् विष्णु करते हैं। विष्णुपुराण उन सृष्टिपालक भगवान् विष्णु को सत्त्वगुणान्वित तथा अप्रमेय पराक्रम-शाली बतलाता है।[2]

विष्णुपुराण के ही अनुसार वे भगवान् अपनी जगत्पालनकर्ता शक्ति को चार भागों में विभाजित करके इस विश्व को धारण करते हैं। एक अंश से वे जगत् का प्रतिपालन करते है तो दूसरे अंश से चतुर्दश मनु, सप्तर्षि शूरवीर राजा तथा अवतारों के रूप में अवतरित होकर देश तथा धर्म का संरक्षण करते हैं। उनका तीसरा अंश काल-रूप है। इस रूप के ही कारण विश्व के सृष्टि-प्रलय तथा अन्य घटनाएँ नियमित रूप से घटित होती हैं। अपने तुरीयांश से वे भगवान् समस्त प्राणियों में उपस्थित रहकर उनका पालन-पोषण तथा संरक्षण करते हैं।[3]

---

१. ब्रह्मवै० १।८।१२-१३
अथ धातुश्च मनसः आविर्भूता कुमारका।
चत्वारः पञ्चवर्षीया ज्वलन्तो ब्रह्मतेजसा॥

२. विष्णु० १।२।६२
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना।
सत्त्वभृद्भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः॥

३. विष्णु० १।२२।२६-२७
एकांशेन स्थितो विष्णु करोति प्रतिपालनम्।
मन्वादिरूपश्चान्येन कालरूपः परेण च॥
सर्वभूतेषु चान्येन संस्थितः कुरुते स्थितिम्।
सत्त्वगुणं समाश्रित्य जगतः पुरुषोत्तम॥

अवतार

श्रीमद्भगवद्गीता के ही समान पुराणों में भी धर्मसंरक्षण तथा अधर्म के नाश के लिए व साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के निग्रह के लिए भगवान् की अवतार-क्रिया कल्पित की गयी है।[1] दुष्टों के संहार के लिए तो भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) स्वयं अवतार लेते हैं तथा धर्मयज्ञ आदि के संस्थापन के लिए ऋषि, मनु, मनुपुत्र, राजाओं, प्रजापति आदि के रूप में अपने अंश को अवतरित करते हैं।[2] जैसा कि कहा जा चुका है, भगवान् की यह अवतार क्रिया जबतक सृष्टि रहती है तबतक सतत रूप से चलती रहती है और इस बीच उनके अनगिनत अवतार हो जाते हैं।

पुराणों में लोकपालनादि के निमित्त भगवान् विष्णु द्वारा धारण किये गये वाराह, कपिल, ऋषभ, मत्स्य, कच्छप, धन्वन्तरि, वामन, नरसिंह, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि आदि अवतार अति प्रसिद्ध हैं। स्वायम्भुव तथा वैवस्वतमनु, अत्रि-मरीचि आदि ऋषि, राम-कृष्ण आदि प्रतापी नरेश तथा दक्ष आदि प्रजापतियों के अंशावतार पुराणों में सर्वत्र वर्णित किये गये हैं।

प्रलय-विचार

दिन के बाद रात आती है और जन्म के बाद मृत्यु। इसी तरह सृष्टि के बाद प्रलय भी अनिवार्य रूप से आता है।

समस्त पुराणों ने सृष्टि की इस अनिवार्यता अर्थात् प्रलय का एक जीवन्त चित्र खींचा है जो कि पुराणों की अपनी विशिष्ट लोमहर्षक शैली में अंकित होने के कारण चित्त को कभी क्षुब्ध तो कभी स्तब्ध कर देता है।

पुराणों के अनुसार स्वरूप तथा कालक्रम की दृष्टि से प्रलय के चार प्रकार हैं—

१. नैमित्तिक या ब्राह्मप्रलय।

२. प्राकृत प्रलय।

---

१. अग्नि० २७६।२ — धर्मसंरक्षणार्थाय ह्यधर्महरणाय च।
सुरादेः पालनार्थं च दैत्यादेर्मथनाय च॥

गीता० ४।७, ८ — यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

२. भाग० १।२-२७-२८ — ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

वही, २।७।३९ — स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः
माया विभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः।

विष्णु० १।७।३८ — मनवो मनुपुत्राश्च भूपा वीर्यधराश्च ये।
सन्मार्गनिरताः शूरास्ते सर्वे स्थितिकारणाः॥

३. नित्यप्रलय तथा

४. आत्यन्तिक प्रलय।[१]

अब हम इनका इसी क्रम में अध्ययन करेंगे।

नैमित्तिक प्रलय

पुराणों के अनुसार सृष्टि के एक सहस्र चतुर्युग पर्यन्त अवस्थित रहने के पश्चात् नैमित्तिक प्रलय होता है।[२] मानवीय वर्षमान से एक सहस्र चतुर्युगों में ४३२०००००० वर्ष (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष) होते हैं।[३] इस कालावधि को ब्रह्मा का दिन भी कहा जाता है।[४] अपने इस दिवस के अन्त में ब्रह्माजी सोने की इच्छा करते हैं और तब उनके द्वारा रची गयी यह सृष्टि भी सो जाती है अर्थात् उसका प्रलय हो जाता है। ब्रह्मा के शयन के निमित्त होने से इस प्रलय को ब्राह्म प्रलय भी कहा जाता है।[५] सृष्टि की यह प्रलयावस्था प्रलयरात्रि, कालरात्रि अथवा ब्राह्मरात्रि के नाम से भी प्रसिद्ध है और इसकी अवधि भी ब्राह्मदिन के समान सहस्र चतुर्युग अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष है।[६]

इस कालरात्रि के अवसान पर ब्रह्माजी, अपनी निद्रा का परित्याग करके, पुनः सृष्टि की रचना करते हैं।[७]

स्वरूप

पुराणों के अनुसार इस नैमित्तिक प्रलय में भूर्भुवादि सप्तलोकों में विभक्त ब्रह्माण्ड के केवल भूः, भुवः और स्वः—ये तीन लोक ही नष्ट होते हैं। इनके उपरिवर्ती महः-जनः-तपः तथा सत्यलोक इससे प्रभावित नहीं होते। केवल महः नामक चतुर्थलोक प्रलयाग्नि के महाताप के कारण जनशून्य हो जाता है। उस समय उस लोक के निवासी उपरिवर्ती लोकों में आश्रय लेते हैं।[८]

---

१. विष्णु० १।७।४१। — नैमित्तिकः प्राकृतकस्तथैवात्यन्तिको द्विज। नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः॥
अग्नि० ३६८।१,२। गरुड० १।२१६।१। वही, १।२१७।१। भाग० १२।४। विष्णु० ६।३-४

२. गरुड० १।२१६।१ — चतुर्युगसहस्रान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।
अग्नि० ३६८।१,२ — ब्राह्मो नैमित्तिको लयः। चतुर्युगसहस्रान्ते।
वायु० १००।१३३। विष्णु० ६।३।११,१२

३. पुराणविमर्श—'कालमान'

४. विष्णु० ६।३।११ — चतुर्युगसहस्रं तु कथ्यते ब्रह्मणो दिनम्।

५. विष्णु ६।४।७ — एष नैमित्तिको नाम मैत्रेय प्रतिसंचरः। निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो हरिः॥
वायु० १००।१३५ — युगपद्युगभङ्गात् ब्रह्मा प्रजा संहरते तदा।

६. वायु० ५।२ — रात्रिस्त्वेतावती ज्ञेया परमेशस्य कृत्स्नशः।

७. विष्णु० ६।४।१० — ततः प्रबुद्धो रात्र्यन्ते पुनः सृष्टिं करोत्यजः॥

८. विष्णु० ६।३।१२-४१, ६।४।१-१०। वायु० १००।१३४-१८१ अग्नि० ३६८।३-१५ भाग० १२।४, ३।११

प्रलय की प्रक्रिया बतलाते हुए विष्णुपुराण कहता है कि युगान्त में क्षीणप्राय पृथ्वीतल पर सौ वर्ष तक बिलकुल भी वर्षा नहीं होती जिससे समस्त प्राणी नष्ट हो जाते हैं। पश्चात् सूर्य की प्रखर रश्मियाँ अवशिष्ट जल को भी सोख लेती हैं। इसके पश्चात् सप्तरश्मि सूर्य की सातों रश्मियाँ विभाजित होकर सात सूर्यों का रूप धारण कर लेती हैं। उन सप्तसूर्यों का प्रचण्ड ताप भूर्भुवादि तीनों लोकों को नष्ट कर डालता है। इसके पश्चात् उस महोच्छ्वास की दारुण ज्वाला में तीनों लोक भस्मीभूत हो जाते हैं जो कि शेषनाग के मुख से निःसृत होती है। महर्लोक तक पहुँचनेवाली उस महाज्वाला के ताप से पीड़ित होकर उसके निवासी देवता जनलोक में चले जाते हैं।[1] सप्तपाताल भी शेषनाग के मुख से निःसृत निःश्वास के द्वारा भस्म हो जाते हैं।

इसके पश्चात् कालाग्नि रुद्ररूप भगवान् के मुखनिःश्वास से संवर्तक नामक मेघों की उत्पत्ति होती है। बहुवर्णी तथा महाकायवाले इन मेघों की मूसलाधार वर्षा से वह त्रिलोकदाहक अग्नि प्रशान्त हो जाती है। यह महावृष्टि सौ से भी अधिक वर्ष तक होती रहती है और उससे उत्पन्न महान् जलराशि में सम्पूर्ण (भू आदि तीनों) लोक समाधिस्थ हो जाते हैं। और यह त्रिलोकी एक महासमुद्र के समान हो जाती है।[2]

इस भयंकर जलप्रलय के पश्चात् भगवान् विष्णु के मुख से महावात उत्पन्न होता है। इस महान् वायु से समस्त मेघराशि प्रणष्ट हो जाती है। उसके बाद भी यह वायु सौ वर्षों तक निरन्तर चलती रहती है।[3]

एकार्णव

अन्त में इस महावायु को भी पीकर भगवान् विष्णु अपनी योगनिद्रा के आश्रय से उस महासमुद्र में पड़ी हुई शेषनाग की शय्या पर सो जाते है।[4] पुराणों मे विश्व

---

१. विष्णु० ६।३।१४-२९ चतुर्युगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले।
अनावृष्टिरतीवोग्रा जायते शतवार्षिकी ॥
ततस्स भगवान्विष्णुर्भानोस्सप्तसु रश्मिषु।
स्थितः पिबत्यशेषाणि जलानि मुनिसत्तम ॥
त एव रश्मयस्सप्त जायन्ते सप्त दिवाकरा. ॥
दहन्त्यशेषं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विज ॥
शेषाहिश्वाससंभूत' पातालानि दहत्यधः ॥
तस्मादपि महातापतप्ता लोकास्ततः परम्।
गच्छन्ति जनलोकं ते दशावृत्त्या परैषिणः ॥

२ विष्णु० ६।३।३०-४१ ततो दग्ध्वा जगत्सर्वं रुद्ररूपी जनार्दनः।
मुखनिश्वासजान्मेघान्करोति मुनिसत्तम ॥
उत्तिष्ठन्ति तथा व्योम्नि घोरास्संवर्तका घनाः।
वर्षन्ति ते महामेघा वर्षाणामधिकं शतम् ॥

३. विष्णु० ६।४।१-२ मुखनिःश्वासजो विष्णुर्वायुस्ताञ्जलदांस्तत'।
नाशयन्याति मैत्रेय वर्षाणामपरं शतम् ॥

४. विष्णु० ६।४।३-६ एकार्णवे ततः तस्मिन् शेषशय्या गत' प्रभुः।
ब्रह्मरूपधरश्शेते भगवानादिकृद्धरि. ॥
वायु० २४।८-११ आसीदेकार्णवं घोरमविभागं तमोमयम्। इत्यादि।

की इसी प्रलयापन्न अवस्था को एकार्णव कहकर स्पष्ट किया है। यह अवस्था ब्रह्म दिवस के समान सहस्र चतुर्युग पर्यन्त रहती है।[1]

प्राकृत प्रलय

पुराणों में ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की बतलायी गयी है। जब उनकी आयु के सौ वर्ष पूर्ण हो जाते हैं तब प्राकृत प्रलय होता है।[2] लेकिन ब्रह्मा की यह शतायु मनुष्य की सौ वर्ष की आयु से चार अरब बत्तीस करोड़ गुनी अधिक होती है।[3]

इस प्रलय का नाम प्राकृत प्रलय इसलिए है कि इसमें विश्व के प्रकृतिजन्य समस्त पदार्थ, मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। जिस महदादि क्रम से उनकी उत्पत्ति होती है उसके ठीक विपरीत क्रम से वे प्रकृति में विलीन हो जाते हैं।[4] तब न तो इस विश्व के चौदह भुवन होते हैं और न उनके निवासी। तब एक अकेले ब्रह्म ही होते हैं और यह सृष्टि उनमें अव्यक्त रूप से समाहित होती है।

स्वरूप

पुराणों में इस महाप्रलय का अत्यन्त भयानक एवं रोमांचकारी वर्णन पाया जाता है।[5]

श्रीमद्भागवत के अनुसार सबसे पहले सौ वर्ष तक अनावृष्टि, फिर सूर्याग्नि की सांवर्तक रश्मियों द्वारा लोकदहन, पुनः प्रचण्ड पवन के प्रबल आघात और अन्त में आकाश से घोर शब्दों की सौ वर्ष चलनेवाली वर्षा होती है।[6] तत्पश्चात् प्रलय की वास्तविक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

सबसे पहले पृथ्वी के गन्धगुण को, जल अपने में विलीन कर लेता है और गन्ध छिन जाने से पृथ्वी का प्रलय हो जाता है। अब सारा विश्व सलिलमय हो जाता है। जिस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में सब ओर जल ही जल था उसी प्रकार सृष्टि के अन्त में भी सब ओर जल ही जल दिखलाई देता है।[7]

लोकव्यापी इस जल को तेजस्तत्त्व अपने उदर में समाहित कर लेता है और तब यह विश्व अग्निमय हो जाता है। अग्नि के तेज को वायु पी जाता है। तब विश्व केवल

---

१. विष्णु० ६।४।७-१० पद्मयोनेर्दिनं यत्तु चतुर्युगसहस्रवत्।
एकार्णवीकृते लोके तावती रात्रिरिष्यते॥
२. विष्णु० १।३।२६ एवं तु ब्रह्मणो वर्षमेव वर्षशतं च यत्।
शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुर्महात्मनः।
गरुड० १।२१६।१ पूर्णे ब्रह्मायुषि गते मिथतेऽम्भसि लीयते।
३. पुराणविमर्श 'कालमान'।
४. विष्णु० ६।४।१३ महदादेर्विकारस्य विशेषान्तस्य संक्षये।
५. विष्णु० ६।४।१२-५० अग्नि०३६८।१८-२७; मत्स्य० २४७; वायु० १०२; मार्क० ४६; गरुड० २१५-२१७; भाग० १२।४।
६. भाग० १२।४।५-१३।
७. विष्णु० ६।४।१४-१६।

वायुरूप ही रह जाता है। वायु को भी आकाश अपने में विलीन कर लेता है। अग्नि आदि ज्योतियों के सर्वथा अभाव में यह विश्व अन्धकार से भर जाता है। अब तम ही तम शेष रह जाता है।[१]

इस तमोभूत आकाश को अहंकार तत्त्व ग्रस लेता है। अहंकारजन्य इन्द्रियाँ व मन भी इसमें विलीन हो जाते हैं। बुद्धि या महत्तत्त्व इस अहंकार को भी अपने आपमें विलीन कर लेता है। अन्त में बुद्धि आदि तत्त्वों की जनयित्री अव्यक्त मूलप्रकृति में महत्तत्त्व विलीन हो जाता है। ससावरण ब्रह्माण्ड के सात आवरण भी इस प्रकृति में विलीन होकर प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान त्रिगुणसाम्य की अवस्था पुनः स्थापित हो जाती है।[२]

विष्णुपुराण के अनुसार यह त्रिगुणसाम्या प्रकृति तथा उसको क्षुब्ध करनेवाला पुरुष भी अन्ततः परमात्मा में लीन हो जाते हैं किन्तु यह परमात्मा किसी में विलीन नहीं होता।[3]

परमात्मा परम ब्रह्म की यह एक की अवस्था अर्थात् प्राकृत-प्रलय की स्थिति ब्रह्मा की सौ वर्ष की पूर्णायु के तुल्य काल तक रहती है। इस वैष्णवीनिशा के अन्त में परमात्मा विष्णु पुनः सृष्टि का शुभारम्भ करते हैं।[४]

नित्य-प्रलय

सृष्टि में नित्य प्रति, प्रति क्षण, प्रति पल होनेवाला विनाश ही नित्यप्रलय है।

पुराणों की शब्दावली में प्राणियों एवं पदार्थों का अहर्निश विनष्ट होते रहना नित्यप्रलय अर्थात् प्रतिदिन होनेवाला प्रलय है।[५]

आत्यन्तिक प्रलय

सृष्टि और प्रलय के जीवन और मरण के तापत्रय दूषित संसारचक्र से मुक्त हो जाना ही आत्यन्तिक प्रलय है। वह ज्ञान एवं वैराग्य द्वारा प्राप्तव्य है।[६] कैवल्य, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष आदि उसके नामान्तर हैं।

---

१. विष्णु० ६।४।१५-२६ । २. विष्णु० ६।४।२६-३५ ।

३. वही० ६।४।३६-४५ प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि॥

४. विष्णु० ६।४।४६-४८ द्विपरार्धात्मकः कालः कथितो यो मया तव।
तत्र स्थिते निशा चास्य तत्प्रमाणा महामुने॥

५. अग्नि० ३६८।१ नित्यो यः प्राणिनां लयः। सदा विनाशो जातानाम्।
विष्णु० १।७।४३ नित्यः सदैव भूतानां यो विनाशो दिवानिशम्।

६. गरुड० १।२१७।१ आध्यात्मिकादितापांस्त्रीन् ज्ञात्वा संसारचक्रवित्।
उत्पन्नज्ञानवैराग्यः प्राप्नोत्यात्यन्तिकं लयम्।
अग्नि० ३६८।२ लयः आत्यन्तिको ज्ञानादात्मनः परमात्मनि।
विष्णु० ६।५।१ । भाग० १२।४।३४ ।

पौराणिक सृष्टिविद्या के चार आधार

पौराणिक प्रतीकों तथा उनकी चित्रमय शैली को सम्यक् रूप से न समझ पाने के कारण बहुधा ऐसा भासित होने लगता है कि सृष्टिविद्या सम्बन्धी पौराणिक वर्णन कपोलकल्पित किंवा निराधार है। किन्तु उन वर्णनों के सम्यक् अनुसन्धान से ऐसे अनेक सुदृढ़ आधारों का परिज्ञान होता है कि जिनपर पौराणिक सृष्टिविद्या का भव्य प्रासाद सहस्राब्दियों से अडिग भाव से खड़ा हुआ है। उसके वे अडिग आधार हैं—सांख्य योग, मनोविज्ञान, गर्भविद्या एवं प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन।

सांख्य योग

पुराणों में महदादिभूतपर्यन्त जिन सृष्टि तत्वों का प्रतिपादन किया गया है वे सृष्टितत्त्व सांख्य की सत्कार्यवादी अकाट्य तर्कसरणी द्वारा सिद्ध हैं। इसके साथ योग की प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ भी उनकी पुष्टि करती हैं। योग में जिन आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि नामक छह योगांगों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें सांख्य के भूतेन्द्रिय, प्राण, अहंकार, बुद्धि एवं प्रकृति के समान एक तारतम्य है। जिस प्रकार सांख्य के ये तत्त्व स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म होते गये हैं ठीक उसी प्रकार योग के षड्यन्त्र भी क्रमशः सूक्ष्म होते गये हैं और इन सूक्ष्म होते गये अंगों में सांख्य के सूक्ष्मतर होते हुए तत्त्वों के अनुभव की सामर्थ्य विद्यमान है।

योग का सबसे स्थूल अंग आसन है। जब साधक आसन के अभ्यास में दक्ष हो जाता है तब उसे विश्व के सर्वाधिक स्थूल तत्त्व—पंचमहाभूतों का स्पष्ट परिज्ञान होता है और वह उनसे भी सूक्ष्म तत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त होता है।

आसन की अपेक्षा प्राणायाम के द्वितीयांग में दक्ष होने पर उसे पंचमहाभूतों की अपेक्षा सूक्ष्म स्वरूपवाले प्राणतत्त्व की अनुभूति होती है। पश्चात् और भी सूक्ष्म योगांग अर्थात् प्रत्याहार की साधना करते समय वह इन्द्रियों एवं मन की सूक्ष्मता का अनुभव करता है जो कि निश्चय ही प्राण एवं पंचभूतों की अपेक्षा परम सूक्ष्म है। इसके आगे ध्यानांग के अभ्यास में उसे अहंकार नामक और भी सूक्ष्म तत्त्व का बोध होता है। इस अहंकार के कारण ही उसका चित्त चंचल बना रहता है और ध्येय विषय में विलीन होने को तैयार नहीं होता। पुनश्च धारणा में दक्ष हो जाने पर अहंकारज चंचलता नष्ट हो जाती है और निश्चयात्मक बुद्धि की अनुभूति होती है जो कि अहंकार से भी सूक्ष्म है। पश्चात् समाधि की अवस्था में साम्यावस्थित मूलप्रकृति एवं निष्क्रिय पुरुष तत्त्व की अनुभूति होती है। और सर्वान्त में समाधि की सर्वोच्च अवस्था—विदेहलय में निष्प्रपंच अद्वैत ब्रह्म का बोध होता है। जिसे कि पुराणों में समस्त सृष्टि प्रपंच का निष्प्रपंच हेतु घोषित किया गया है।

मनोवैज्ञानिक आधार

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर सृष्टि का विचार करते हुए एक मनोरंजक मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित किया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में एक अकेला आत्मा था। उसने कामना की कि उसे पत्नी प्राप्त हो। पत्नी से उसने प्रजा उत्पन्न की और प्रजा-पालन के लिए वित्त की कामना की।

इसी क्रम में आगे कहा गया है कि कामनाओं की सीमा इतनी ही है। न तो इससे अधिक कुछ चाहा जा सकता है और न पाया ही जा सकता है।

चूँकि पुरुष भी यह सब चाहता है। अतः यह स्वाभाविक है कि ब्रह्म जो कि परम पुरुष है के सम्बन्ध में भी वह यह सब कल्पित करे।[1]

सम्पूर्ण वैदिक एवं पौराणिक सृष्टि विद्या की भित्ति इसी एक सरल-से मानवीय मनोविज्ञान पर आधारित है। सृष्टि के प्रारम्भ में एकाकी ब्रह्म सिसृक्षा से प्रेरित हो स्वशक्तिरूपा माया अथवा प्रकृतिरूपी जाया से महदादिपुत्र उत्पन्न करता है और उनके परिपालन के लिए इस विश्व प्रपंचरूपी वित्त को उत्पन्न करता है।

गर्भशास्त्रीय आधार

मनुस्मृति आदि में कहा गया है कि सिसृक्षु भगवान् स्वयोनिरूपा प्रकृति को क्षुब्ध करते हैं, जिससे अप् की सृष्टि होती है। इस अप् में वे अपना बीजाधान करते हैं, जिससे हिरण्यमय हेमाणु की उत्पत्ति होती है। इस हिरण्याण्ड में वह परमपुरुष भगवान् स्वयं प्रविष्ट होकर उसे उर्वरित करते हैं। वह उर्वरित अण्डा उस अप् में बढ़ने लगता है। उसके विवृद्ध होकर परिपक्व हो जाने पर वही गर्भस्थ पुरुष (हिरण्यगर्भ) अपने पूर्ण विकसित रूप (विराट् पुरुष या सहस्रशीर्ष पुरुष) में उससे बाहर निकलता है।[2]

पुराणों की यह सर्गविद्या, गर्भविज्ञान से पूर्णतः सामंजस्य रखती है।

---

१. बृहदा० १।४।१७ — आत्मैवेदमग्र आसीदेकमेव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति। एतावान् वै कामो नेच्छँश्च नातो भूयो विन्देत। तस्माद्प्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति। स यावद्प्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते॥

२. मनु० १।८-९ — अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥

भाग० ३।२६।११ — दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

विष्णु० १।२।५३-५४ — पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च॥
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते॥

भाग० ३।७।२१ — सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात्।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनुप्राविशद् विभुः॥

भाग० २।५।३५ — स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रि बाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥

सामान्य लौकिक स्त्री-पुरुष इसी विधि से सुतोत्पत्ति रूप सृष्टि कार्य करते हैं। प्रथमतः पुरुष स्वजाया को क्षुब्ध करके उसके रजोरूप में बीजाधान करता है। जिससे रजस्थ स्त्रीबीज (डिम्बाण्ड) उर्वरित हो जाता है। उस डिम्बाणु में गर्भित होनेवाला शुक्रकीट वस्तुतः वह बीजप्रद पिता ही होता है और वही पिता उस डिम्बाणु के (मानव पक्ष में पिण्ड तथा सृष्टिपक्ष में ब्रह्माण्ड के रूप में) विकसित हो जाने पर शिशु (विराट् शिशु) के रूप में जन्म लेता है।

प्राकृतिक आधार

अबतक कहे गये पौराणिक सृष्टि-विद्या के समस्त आधारों में सबसे अधिक प्रबल व्यापक एवं मौलिक आधार है—प्राकृतिक आधार। इस आधार की प्रस्थापना भी प्रस्तुत प्रबन्ध की अन्यान्य प्रस्थापनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। दैवसंहिता में जिन पंच पौराणिक देवताओं की रूपकल्पना का आधार सांख्य एवं उसके द्वारा विनिश्चित तत्त्वों को बताया गया है, उस सांख्य का मूलाधार इस प्राकृतिक आधार में विद्यमान है।

सांख्य की प्रकृति-पुरुष तथा त्रिगुण कल्पना, वेदान्त के निर्गुण-सगुण ब्रह्म तथा माया के प्रत्यय, उपनिषदों के आदित्य ब्रह्म, अजा प्रकृति, अज तथा कारण-हिरण्यगर्भ-विराट् सम्बन्धी विचार, पुराणों का नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर की देव कल्पना, कालरात्रि, ब्राह्मदिवस, जलप्रलय, कल्पदाह, एकार्णव तथा नाभिकमल की कल्पनाएँ, नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति, ब्रह्मा के क्रोध से रुद्र जन्म की कथाएँ तथा हिरण्याण्ड से सहस्रशीर्ष पुरुष की उत्पत्ति की कल्पनाएँ और गायत्री के त्रिरूपों की कल्पना—ये सभी प्रत्यय, कल्पनाएँ और कथाएँ इसी प्राकृतिक आधार पर आधारित हैं।

इस प्राकृतिक आधार के दो घटक तत्त्व हैं—प्रकृति और सूर्य। इनमें से सूर्य का अर्थ स्पष्ट है। हमारी पृथ्वी को प्रकाश और ताप देनेवाला आकाशीय सूर्य-पिण्ड, जिसे हम सूरज, दिवाकर, भास्कर, रवि, आदित्य आदि नामों से पुकारते हैं।

प्रकृति का अर्थ भी स्पष्ट है। हमारे चारों ओर जो फैली हुई है वह प्रकृति है। इसे ही कुदरत, निसर्ग अथवा नेचर (Nature) कहा जाता है। चूँकि प्रकृति शब्द सांख्यदर्शन में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रचलित है अतः उससे पार्थक्य दिखाने के लिए हम उसे भौतिक प्रकृति अथवा निसर्ग कहेंगे तथा सांख्य की प्रकृति को प्रकृति अथवा सांख्यीय प्रकृति।

प्रकृति और निसर्ग

सांख्य में प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रज तथा तम—बतलाये हैं।[1] उपनिषदों में रजोगुण को रक्तवर्ण, सत्त्वगुण को श्वेतवर्ण तथा तमोगुण को कृष्णवर्ण बतलाया गया

---

१. सां० सूत्र० १।६१ सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

है।[1] त्रिगुणों की इसी त्रिवर्णता को ध्यान में रखते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् ने अजा अर्थात् जन्मरहित प्रकृति को लोहित शुक्ल कृष्णवर्णा कहा है।[2] पैंगलोपनिषद् तो उसे स्पष्ट रूप से लोहित शुक्ल कृष्ण गुणमयी मूल प्रकृति कहती है।[3]

सांख्य की इस त्रिवर्णात्मक—त्रिगुणमयी-प्रकृति की भाँति निसर्ग या भौतिक प्रकृति में भी पूर्वोक्त तीन वर्ण पाये जाते हैं। नैसर्गिक रात्रि में तमोमय कालारंग, दिवस में सफ़ेद रंग तथा संध्याओं में रक्तवर्ण या लाल रंग पाया जाता है।

मेरे विचार से निसर्ग के इन तीन वर्णों से ही सांख्यीय प्रकृति के तीन गुणों की धारणा प्रसूत हुई होगी।

साम्यावस्था

सृष्टि से पहले प्रकृति त्रिगुण साम्य की अवस्था में रहती है। प्रकृति की यह साम्यावस्था नैसर्गिक रात्रि में देखी जा सकती है। जब सत्त्व और रजोगुण अर्थात् निसर्ग के श्वेत एवं रक्त वर्ण तमोभूत अन्धकार (कृष्ण वर्ण या तमोगुण) से अभिभूत रहते हैं।

रात्रिवाचक त्रियामा तथा यामा शब्द भी इसे भलीभाँति अभिव्यक्त करते हैं।[4] यामा जिसके वर्ण परिवर्तन से प्रकृति वाचक माया शब्द बनता है, त्रि उपसर्गपूर्वक त्रिगुणात्मक माया अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति का वाचक है।

पुरुष और सूर्य

सांख्य व पुराणों में प्रकृति व उसके तीन गुणों—सत्त्व, रज, तम से परे एक निर्गुण पुरुष की सत्ता स्वीकार की गयी है। भागवत के अनुसार वह प्रकृति से पर निर्गुण पुरुष, अपनी माया से उपर्युक्त तीन गुणों को धारण करनेवाला भी बतलाया गया है। विश्वसृष्टि के लिए वह रजोगुण, स्थिति के लिए सत्त्वगुण तथा संहार के लिए तमोगुण धारण करता है। इन त्रिगुणधारित अवस्थाओं के कारण उस परम पुरुष को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकरात्मक सगुण संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं।[5]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में सत्त्व, रज तथा तमोगुण के श्वेत, रक्त तथा कृष्ण वर्णों से रहित, निर्गुण पुरुष को अवर्ण अज कहा गया है। वह वर्णरहित अजन्मा (पुरुष)

---

१. योगचूडा० ७५,७६ — राजसो रक्तो···सात्त्विको शुक्लो···तामसः कृष्णः।
२. श्वेताश्व० ४।५ — अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां···।
३. पैंगलोप० १।१ — लोहितशुक्लकृष्णगुणमयी गुणसाम्या निर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्।
४. अमरकोश, — रात्रिस्त्रियामा···यामिनी।
५. सां० कारिका ३ — न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष.।
भाग० १।२।२३ — सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि-विरिञ्चि-हरेति संज्ञाः···
वही, २।५।१८ — सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः॥

अपनी शक्तियोग से अनेक वर्ण धारण करता है।[1] मेरे मत से वह अवस्था पुरुष सूर्य है जो कि स्वयं वर्णरहित (अवर्ण) होते हुए भी लोहित शुक्ल कृष्णवर्णा अजाप्रकृति के लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण वर्णों को अपने शक्तियोग से धारण करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में उस सूर्य (आदित्य) के शुक्ललोहित आदि वर्णों का स्पष्ट उल्लेख है।[2]

सांख्य व पुराणों का पुरुष सूर्यात्मक है। उपनिषदों में ब्रह्म अभिधान से स्मृत उस पुरुष को आदित्य ब्रह्म कहा गया है।[3]

शास्त्रों में पुरुष अथवा परमपुरुष ब्रह्म के विशेषणों के समान, सूर्य को भी जगदात्मा, लोकात्मा तथा विष्णु से अभिन्न बतलाया गया है। उसे समस्त वैदिक क्रियाओं का मूल भी कहा गया है। यजुर्वेद में ब्रह्म को सूर्य के समान ज्योति बतलाया गया है।[4]

कारण-हिरण्यगर्भ-विराट् : सूर्य

वेद-पुराण तथा उपनिषदों में सिसृक्षु ब्रह्म की तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं। सृष्टि के पूर्व वह कारण या अव्यय अवस्था में रहता है। पश्चात् सृष्टि की इच्छा से हिरण्यगर्भ रूप धारण करके हिरण्याण्ड में गर्भित होता है और उस हिरण्याण्ड में ब्रह्माण्ड की रचना करके विराड् रूप में अभिव्यक्त होता है।

सूर्यात्मक ब्रह्म की भी ये तीन अवस्थाएँ होती हैं।

(१) सूर्योदय के पूर्व की अदृश्यमान सूर्यावस्था = कारण
(२) उदयकालीन रक्तवर्ण सूर्य की अण्डाकार अवस्था = हिरण्यगर्भ तथा
(३) चमकते हुए सूर्य की भ्राजमान, रजरहित अवस्था = विरज या विराट् है।[5] पुराणों में सूर्य की इन्हीं त्रिवर्णात्मक अवस्थाओं के अनुरूप जगत्-

---

१. श्वेताश्व० ४।१ — य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वही, ४।५ — अजो ह्येको जुषमाणो…।
२. छान्दो०, ८।६।१ — असौ वा आदित्यः पिङ्गलः एष शुक्लः एष नील एष पीत एष लोहितः।
३. वही, १।७।५ — अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते।
वही, ३।१६।१ — आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः…।
४. ऋग्वेद १।११५।१ — सूर्यो आत्मा जगतस्तस्थुषश्च…।
भाग, १२।११।४४ — सूर्यस्य जगदात्मनः…।
वही, १२।११।२८ — सूर्यात्मनो हरिः…।
वही, १२।११।३० — एक एव हि लोकानां सूर्य आत्मादिकृद्धरिः।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितम् ॥
यजु० २३।४७,४८ — किंस्विद सूर्य समं ज्योतिः
ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः।
५. पं० मधुसूदन ओझा — "पुराण प्रसंग" में उनके जगद्गुरुवैभवम्, पृ० ४-६ से उद्धृत श्लोकार्ध। – पुराणं १।२।१६।१।
हिरण्यगर्भोऽण्डगतोऽस्ति सूर्योऽव्ययोऽनुपाख्यो विरजो दृ पृष्ठे ॥

कारण नारायण को कृष्णवर्ण, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को रक्तवर्ण तथा विराडात्मा शिव को शुभ्रवर्ण कल्पित किया गया है।

त्रिदेव और सूर्य

पुराणों के ही अनुसार पुराण प्रसिद्ध तीन देवता—ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर—सूर्यात्मक हैं।

भविष्योत्तरपुराणान्तर्गत आदित्यहृदय स्तोत्र में कहा गया है कि उदयकालीन सूर्य ब्रह्मारूप, मध्याह्नकालीन सूर्य शिवरूप तथा अस्तमान (डूबता हुआ) सूर्य विष्णुरूप हैं।[१]

ब्रह्म के इस त्रिगुणात्मक स्वरूप से परे रहनेवाला नारायणात्मक रूप भी सूर्यात्मक है।[२] वस्तुतः सूर्य ही नारायण हैं। बोलचाल की भाषा में आज भी उन्हें 'सूरज नारायन' अर्थात् 'सूर्य नारायण' कहा जाता है।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर का पुराणप्रसिद्ध रक्त, कृष्ण तथा गौर वर्णत्व भी सूर्य की उपर्युक्त उदयादि अवस्थागत वर्ण के अनुसार कल्पित है।

गायत्री और सूर्य

पुराणों में त्रिदेवताओं के समान, उनकी शक्तिभूता तीन गायत्रियों की कल्पना की गयी है। उनके वर्णादि भी त्रिदेव के समान हैं।

जिस प्रकार उदयाकालीन रक्तवर्ण सूर्य को रक्तवर्ण ब्रह्मा के रूप में कल्पित किया गया है उसी प्रकार उनकी शक्तिभूता ब्रह्म गायत्री (ब्रह्मारूपा–प्रातःकालीन गायत्री) का वर्ण भी लाल माना गया है। इसी प्रकार मध्याह्नकालीन गायत्री को शिवरूपा तथा गौरवर्ण तथा सायंकालीन गायत्री को विष्णुरूपा तथा कृष्णवर्ण कल्पित किया गया है।[3]

त्रिगुण-त्रिवर्ण

पुराणों में प्रकृति के तीन गुणों का तादात्म्य तीन देवताओं से स्थापित किया गया है।

ब्रह्मा रजोमय, विष्णु सत्त्वमय एवं शंकर तमोमय हैं। इतना ही नहीं ये तीन देवता इनसे सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय कार्य भी सम्पन्न करते हुए पुराणोंमें दिखलाये गये हैं।[४]

---

१. आदित्य हृदय० ११७-११८ — उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः।
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिश्च दिवाकरः॥

२. वही, १ — श्री सूर्यनारायणप्रीत्यर्थं ...।
ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः।

३. देवी भाग० ११।१६। वही० ११।१९। वही० ११।२०।

४. मार्क० ४६।१८ — रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णुः सत्त्वं जगत्पतिः।

सूर्य नारायण भी त्रिसर्ग (भौतिक प्रकृति) के तीन वर्णों रक्त, श्वेत, कृष्ण को धारण करके सृष्टि, स्थिति एवं संहारात्मक (उदय, मध्याह्न एवं अस्तमान) अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। प्रलयान्त में नारायण की योग निद्रा के समान सूर्य भी विराम लेते हैं।

जिस प्रकार कालरात्रि के अन्त में रक्तवर्ण रजोगुण को धारण करके हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्मा; सृष्टिदिवस (अर्थात् ब्राह्म दिन—जिसमें ब्रह्मा की सृष्टि रहती है) की रचना करते हैं। ठीक उसी प्रकार अहंकारमय रात्रि के पश्चात् लाल वर्ण को धारण करके (उदयकालीन) हिरण्यवर्ण भगवान् सूर्य भी दिवस की सृष्टि करते हैं।

जिस प्रकार ब्राह्म दिवस पर्यन्त, श्वेतवर्ण सत्त्वगुण को धारण करके, भगवान् विष्णु, जगत् का परिपालन करते हैं ठीक उसी प्रकार श्वेतवर्ण सत्त्वगुणात्मक प्रकाश को धारण करके (माध्यन्दिन) भगवान् सूर्य भी दिवस का परिपालन करते हैं।

जिस प्रकार प्रलयरात्रि की बेला के आसन्न होने पर भगवान् रुद्र तमोगुण को धारण करके जगत् का संहार करते हैं ठीक उसी प्रकार (अस्तमान) भगवान् सूर्य भी तम (अन्धकार) को धारण करके जगत् का संहार करते हैं। अर्थात् जगत् को अन्धकार में विलीन करते हैं।

जिस प्रकार एकार्णवस्थ भगवान् नारायण अपनी शेषशय्या पर विराम लेते हैं उसी प्रकार निशीथस्थ भगवान् सूर्य भी क्षण-भर विराम लेते हैं।

वर्ण विवाद

इस प्रकार उपर्युक्त शीर्षकों में वर्णित तथ्यों एवं परिकल्पनाओं को समझ लेने के पश्चात् त्रिदेव के वर्ण के विषय में मन असंशयशील हो जाता है।

प्रथम परिकल्पना (कारण, हिरण्यगर्भ, विराडात्मक सूर्य) के अनुसार जगत्कारण विष्णु या नारायण का रंग काला माना जा सकता है। क्योंकि उदित होने के पूर्व सूर्य अनुपाख्य या तमसाच्छन्न रहता है। तम का वर्ण काला है। सृष्टि के प्रारम्भ में विष्णु भी अपनी तमोमयी माया से युक्त रहते हैं। पुनः सूर्य के उदयकालीन रक्त वर्ण तथा अण्डाकार सूर्य को हिरण्याण्डगत ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का आधार तथा उसी के समान वर्णवाला माना जा सकता है। इसी प्रकार द्युपृष्ठ पर स्थित शुभ्र वर्ण सूर्य को शिवस्वरूप माना जा सकता है। किन्तु यदि शिव को जगत्कारण माना जाये तो उनका रंग विष्णु के समान काला तथा विष्णु का रंग शिव के समान गोरा हो जायेगा। ब्रह्मा

विष्णु० १।२।६१-६३ जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः।
ब्रह्मा भूत्वास्य जगतो विसृष्टौ संप्रवर्तते॥
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना।
सत्त्वभृद्भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः॥
तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः।
मैत्रेयाखिलभूतानि भक्षयत्यतिदारुणः॥

का वर्ण पूर्ववत् रक्तवर्ण ही रहेगा।

द्वितीय परिकल्पना के अनुसार उदयकालीन रक्ताभ सूर्य से अभिन्न होने के कारण ब्रह्माजी रक्त वर्ण होंगे। इसी प्रकार (मध्याह्नवर्ती सूर्य से अभिन्न शिव गौर वर्ण तथा सायंसूर्य से अभिन्न विष्णु का वर्ण काला होगा।

गायत्री के ब्रह्मादिमय रूप एवं वर्ण भी इसी परिकल्पना की पुष्टि करते हैं। यदि त्रिदेवात्मक कल्पना में इन देवताओं के आधारभूत भगवान् नारायण को भी सम्मिलित कर लिया जाये तो सूर्य की चार अवस्थाओं से अभिन्न इन देवताओं के वर्ण भी सूर्य के वर्णों से अभिन्न होंगे। यथा—

उदयकालीन रक्तवर्ण सूर्य = रक्तवर्ण ब्रह्मा।
मध्याह्नकालीन शुभ्रसूर्य = गौर वर्ण शिव।
अस्तमान सायं सूर्य = कृष्ण वर्ण विष्णु।
निशीथस्थ सूर्य = कृष्ण वर्ण नारायण।

त्रिदेव के द्विविध-रूप तथा सूर्य

पुराणों में सृष्टि स्थिति तथा प्रलय के कर्ता तीन देवता माने गये हैं। इनमें से सृष्टि के देवता ब्रह्मा के दो रूप हैं—सिसृक्षु और शयिष्णु। सिसृक्षु अर्थात् कालरात्रि के पश्चात् सृष्टि की इच्छा रखनेवाला अथवा सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होनेवाला रूप तथा शयिष्णु अर्थात् सृष्टि के अन्त में शयन अर्थात् विश्राम की इच्छा रखनेवाला अथवा शयन करनेवाला रूप।

ब्रह्मा के समान विष्णु के भी दो रूप हैं—नारायण और विष्णु। नारायण उनकी गुणातीत (निर्गुण तथा विश्व की कारणात्मक) अवस्था है जब कि विष्णु उनकी सत्त्वगुण प्रधान (सगुण) तथा विश्वपालक अवस्था।

ब्रह्मा और विष्णु के समान शिव के भी दो रूप हैं—अघोर और घोर। अघोर रूप से वे ब्रह्मा जी की आज्ञा से सृष्टि अर्थात् सृजन कार्य (रौद्रीसृष्टि) करते हैं और घोर रूप से कल्पान्त में सृष्टि का संहार।

सृष्टि के तीन देवताओं के इन द्विविध रूपों की झलक हमें सूर्य के विविध रूपों में प्राप्त होती है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि उदयकालीन अण्डाकार सूर्य जिसका वर्ण आरक्त रहता है—पुराणों के हिरण्यगर्भ (हिरण्य-अण्डगत) ब्रह्मा का रूप है।[1] सृष्टि के प्रभात में स्वनिद्रा को त्यागकर ये ब्रह्मा जी सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होते हैं। उनका यह रूप स्रष्टा या सिसृक्षु रूप है।[2] इसके विपरीत उनके सृष्टि की इच्छा से विरत तथा

---

१. जगद्गुरुर्वैभवम् ४ हिरण्यगर्भोऽण्डगतोऽसि सूर्यो...
२. विष्णु० ६।४।१० ततः प्रबुद्धो राज्यन्ते पुनस्सृष्टिं करोत्यजः।
   वायु० ६।६ शर्वर्यन्ते प्रकुरुते ब्रह्मत्वं सर्गकारणात्।

शयन करने की इच्छा से युक्त रूप का विधान भी पुराणों में मिलता है।[1] उनके इस शयिष्णु रूप की झलक हमें अस्तमानकालीन रक्तवर्ण अण्डाकार सूर्य में उपलब्ध होती है। जिस प्रकार ब्रह्मदिवस पर्यन्त सृजन करते हुए ब्रह्मा जी दिनान्त में थककर निद्रा की कामना करते हैं उसी प्रकार दिवस पर्यन्त प्रकाश और ताप को बिखेरता हुआ सूर्य भी दिनान्त में शयन की इच्छा करता है अर्थात् अस्त हो जाता है।

शिव के अघोर-घोर रूप भी सूर्य की उपर्युक्त अण्डावस्थाओं से सम्बद्ध हैं। प्रातःकालीन अण्डाकार तथा आरक्त सूर्य के तत्काल पश्चात् प्रकट होनेवाला गोलाकार तथा पीतरक्ताभ सूर्य सूर्यात्मक रुद्र का अघोर रूप है। उनके इस पीतरक्ताभ रूप की ओर संकेत करते हुए वेद व पुराणों में भी उन्हें बभ्रुवर्ण, पिशंग या पिंगल वर्ण कहा गया है।[2] यह बभ्रुवर्ण सूर्य सायंकाल में पुनः प्रकट होता है लेकिन अब वह पूर्वोक्त रक्तवर्ण अण्डाकार सूर्यावस्था के ठीक पहले दिखलाई देता है। यह शिव का घोर रूप है। क्योंकि वे इस समय दिवससंहार के घोर अर्थात् भयंकर कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

विष्णु के भी दोनों रूप सूर्य की, शिव तथा ब्रह्मरूपा अवस्थाओं से व्यतिरिक्त अवस्थाओं द्वारा अभिग्राह्य हैं। प्रातःकालीन बभ्रुवर्ण सूर्य के पश्चात् प्रकट होकर सायंकाल तक पुनः उस बभ्रुवर्ण सूर्य के प्रकट होने पर्यन्त, अवस्थित रहनेवाली श्वेतवर्ण सूर्यावस्था सत्त्वपतिशुक्ल वर्ण विष्णु की द्योतक है। जब कि सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त अर्थात् सारी रात विलुप्त रहनेवाली वर्णरहित अथवा कृष्ण वर्ण सूर्यावस्था भगवान् नारायण की द्योतिका।[3]

ब्रह्मरुद्रोद्भव

पुराणों में ब्रह्मा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में विष्णु की नाभि से एक कमल निकला और उस कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। कमल से उत्पत्ति के कारण वे कमलयोनि, पद्मयोनि, पद्मसम्भव, अब्जयोनि, कमलासन, कमलोद्भव आदि कहलाये।

---

१. विष्णु० १।३।२४ एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।
भोगिशय्यां गतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः॥

२. ऋक्० २।३३।७ बभ्रुः।
भाग० १२।११।११ शिवं प्राप्तं तडित्पिशङ्गं जटाधरं।

३. ब्रह्मा { सिसृक्षु—उदयकालीन अण्डाकार एवं रक्तवर्ण सूर्य
शयिष्णु—सायंकालीन अण्डाकार एवं रक्तवर्ण सूर्य }

शिव { अघोर—प्रातःकालीन बभ्रुवर्ण सूर्य
घोर—सायंकालीन बभ्रुवर्ण सूर्य }

विष्णु { विष्णु (पालक)—मध्याह्नकालीन श्वेतवर्ण सूर्य
नारायण (कारण)—निशीथकालीन अनुपालभ्य सूर्य }

इसी प्रकार रुद्र शिव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराण उन्हें ब्रह्मा के क्रोध से उत्पन्न हुआ बतलाते हैं।

ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति सम्बन्धी ये कथाएँ भी सौरप्राकृत व्यापार पर आधारित हैं। यथा—

नाभिकमल से ब्रह्मोद्भव

प्रतिदिन, उषः तथा प्रत्यूषा काल में सूर्योदय के पूर्व, पूर्वदिशा में मुकुलित कमल के समान एक रक्तवर्ण आकृति दिखलाई देती है। क़रीब १०-१५ मिनट तक दिखलाई देने के पश्चात् इस आकृति के शनैः-शनैः विगलित हो जाने पर लाल रंग का अण्डाकार सूर्य उदित होता है।[१]

जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है कि प्रातःकालीन रक्तवर्ण तथा अण्डाकार सूर्य एवं ब्रह्मा में तादात्म्य है। अतः ब्रह्मा के पूर्वोक्त कमलाकृति के पश्चात् उदित होने के कारण, उनके कमलजन्मा रूप की कल्पना की गयी है।

और चूँकि यह कमलाकृति नारायण (निशीथसूर्य) से उत्पन्न होती है। अतः उसे नारायण की नाभि से उत्पन्न कहा गया है।

ब्राह्म क्रोध से रुद्रोद्भव

जिस प्रकार क्रोधावेश से व्यक्ति का मुखड़ा विकृत हो जाता है उसी प्रकार, क्रोध से विकृत मुखवाले ब्रह्मा से रुद्र उत्पन्न हुए। जैसा कि अभी कहा गया है, उदयकालीन अण्डाकार दिखलाई देनेवाला सूर्य ही ब्रह्मा है। इस ब्रह्मात्मक सूर्य का वह अण्डाकार रूप धीरे-धीरे विकृत होता है और अन्त में पूर्णगोलाकार सूर्यबिम्ब के रूप में परिणत हो जाता है।

ब्रह्मात्मक-अण्डाकार सूर्य का विकृत होकर गोलाकार हो जाना पुराण पक्ष में ब्रह्मा की क्रोधापन्न विकृत अवस्था का द्योतक है और इस विकार से उत्पन्न हुआ गोलाकार सूर्यबिम्ब—रुद्र।

उपर्युक्त अण्डाकृति या सूर्य या सूर्याण्ड के विकृत होने अथवा मृत होने से जिस गोलाकार सूर्यवृत्त की उत्पत्ति होती है—वही मार्तण्ड अर्थात् मृत अण्ड से उत्पन्न है। पुराण पक्ष में वह मार्तण्ड सूर्य हिरण्याण्ड को तोड़कर निकलनेवाला अण्डजन्मा ब्रह्मा या विराट् पुरुष अथवा सहस्रशीर्ष पुरुष है। सूर्य पक्ष में पुराण का यह सहस्रशीर्ष पुरुष ही सहस्रांशु सूर्य है। जबतक सूर्य अण्डाकार व रक्त वर्ण रहता है तबतक उसकी किरणें बिकीर्ण नहीं होतीं किन्तु उस अण्डगलन के साथ ही सहस्रों रश्मियाँ उस सूर्यवृत्त से प्रकट हो जाती है। साथ ही उसका वर्ण भी परिवर्तित होकर रक्त से श्वेत हो जाता है। पुराणों में विराट् पुरुष का भी यही शुभ्र वर्ण बतलाया गया है।

---

१. दे० पृ० १६७ पर अंकित चित्र की द्वितीय आकृति (कमलाकृति) तथा पृ० १६८ पर अंकित प्रातः-कालीन सौर प्राकृत व्यापार।

इस प्रकार—

उदयकालीन अण्डाकार रक्ताभ सूर्यपिण्ड = ब्रह्मा हिरण्यगर्भ और इसी सूर्यपिण्ड-गर्भ से निर्मित सहस्रांशु मार्तण्ड का सूर्य वृत्त = रुद्र, विराट् सहस्रशीर्ष पुरुष, अण्डज ब्रह्मा।

अग्निप्रलय

पुराणवर्णित अग्निप्रलय, जलप्रलय एवं एकार्णव की धारणाएँ भी सान्ध्य-कालीन सौर प्राकृत व्यापार पर आधारित हैं। इनमें से अग्निप्रलय की धारणा निम्नोक्त व्यापार पर आधारित है।

प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त के पश्चात्, पूर्व दिशा से उत्तर दक्षिण दिशाओं को स्पर्श करता हुआ लाल रंग का एक विशाल चाप अथवा धनुराकार उदित होकर पश्चिम दिशा की ओर संक्रमित होता है।[1] उसके संक्रमण से सारा आकाश लाल रंग की रश्मियों से इस प्रकार आविल हो जाता है मानो किसी ने सारे आकाश में आग लगा दी हो—मानो सारा आकाश अग्निप्रलय से दग्ध हो रहा हो। आकाश की वह आग्नेय रक्तिमा पृथ्वीस्थ पदार्थों को भी अपनी विक्षिप्त आरक्ति से लाल कर रही होती है।

सम्भवतः पुराणों की कल्पान्तक अग्निदाह, कल्पदाह, अथवा अग्निप्रलय की धारणा इसी नैसर्गिक-सौर व्यापार से प्रेरित हुई थी।

जलप्रलय

पुराणों में अग्निप्रलय के पश्चात् जलप्रलय का वर्णन उपलब्ध होता है। अग्नि-प्रलय की भाँति वह भी सौरप्राकृत व्यापारजन्य है।

जिस समय पूर्व दिशा से आरक्त धनुषाकार पश्चिम की ओर विचलित होकर अपनी रक्तिमा प्रसारित कर रहा होता है उसी समय उसके प्रभाव से मुक्त पूर्व दिशा का आकाश क्रमिक रूप से अपनी सागरोपम नीलिमा का विस्तार कर रहा होता है। ज्यों ही क्षितिज से रक्तवर्ण का विलोप होता है, यह वृद्धिगत नीलिमा उसका स्थान ले लेती है।

यही नीलिमा पुराण पक्ष के जलप्रलय की नैसर्गिक प्रेरणा है।

एकार्णव

धीरे-धीरे आकाश की यह नीलिमा रात्रि के अन्धकार का वरद-हस्त पाकर क्रमशः गहरी होती हुई समुद्र के समान गहन नीलिमा में बदलने लग जाती है और जब रात्रि अधिक गहरी हो जाती है तब मानो वह तमोमय सागर ही बन जाती है।

पुराण पक्ष में, अग्नि एवं जलप्रलय के पश्चात् होनेवाली सृष्टि की एकार्णव अवस्था भी उसी प्रकार की होती है।

---

१. वेसे०, पृ. १६१।

पुराणवर्णित नैमित्तिक एवं प्राकृत प्रलय की द्विविध कल्पना भी इसी सौर नैसर्ग व्यापार से सम्बद्ध है।

उषःकालीन सौर नैसर्ग व्यापार प्राकृत सृष्टि की तथा प्रत्यूषकालीन व्यापार नैमित्तिक सृष्टि की कल्पना का आधार हैं।

इसके ही अनुरूप प्रदोषकालीन सौर नैसर्ग व्यापार प्राकृत प्रलय की तथा सायं-कालीन व्यापार नैमित्तिक प्रलय की कल्पना का मूलाधार है। इसका समग्र वर्णन आगे चलकर करेंगे।

प्रलय रात्रि और ब्राह्म दिवस

पुराणों में प्रलयावस्था की कल्पना रात्रि के रूप में तथा सृष्टि की कल्पना दिवस के रूप में की गयी है। इसके अतिरिक्त सृष्टिरचना तथा संहार की कल्पनाएँ भी उपर्युक्त दिवस-रात्रि की सन्धियों अर्थात् सन्ध्या में की गयी हैं। उनकी रात्रि-दिवस तथा सन्ध्याभिधानात्मक संज्ञाएँ भी दैनन्दिन सौर प्राकृत व्यापार से उनकी सम्बद्धता को सूचित करती है।

अब हम इन सबकी स्पष्ट धारणा के लिए सूर्य तथा प्रकृति से सम्बद्ध समस्त व्यापार का सूक्ष्म अध्ययन करेंगे।

सौर प्राकृत व्यापार

पूर्व वर्णित विषयों के सुस्पष्ट एवं एकीकृत ज्ञान के लिए हम सूर्य एवं निसर्ग (भौतिक प्रकृति) के दैनन्दिन व्यापारों का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

त्रिगुण व्यापार

(१) निसर्ग मे प्रधानतया तीन वर्ण पाये जाते है। रात्रि में तमोभूत कृष्ण वर्ण, दिवस में प्रकाशरूप श्वेतवर्ण तथा उषा एवं सन्ध्या में रक्तवर्ण।

सांख्य की प्रकृति में भी प्रलयरात्रि में कृष्णवर्णवाला तमोगुण, सृष्टिरूपी ब्राह्म दिवस में श्वेतवर्णवाला सत्त्वगुण तथा दिवसरात्रि की सन्धिभूता सन्ध्याओं में रक्त वर्णवाला रजोगुण पाया जाता है।

(२) रात्रि में तीनों वर्ण अचल किंवा साम्यावस्था को प्राप्त रहते हैं। कृष्ण-वर्ण-अन्धकार; शुभ्रप्रकाश तथा रक्तवर्ण को अभिभूत किये रहता है।

सांख्य की त्रिगुणसाम्या प्रकृति तथा पुराणों की कालरात्रि इसी भाँति तमोभूत रहती है। रात्रिवाचक यामा के वर्ण-विपर्यय से बना प्रकृतिवाचक माया शब्द भी इसी याम्य अवस्था (रात्रिकालीन साम्यावस्था) का सूचक है।

(३) दिवस में सम्पूर्णलोक को प्रकाशित करनेवाले प्रकाश का शुभ्रवर्ण ही अभिव्यक्त रहता है।

ब्राह्मदिवस में भी सत्त्वगुण की बहुलता रहती है।

सौर प्राकृत व्यापार

(प्रभातकालीन व्यापार)

(चित्र नं. १)
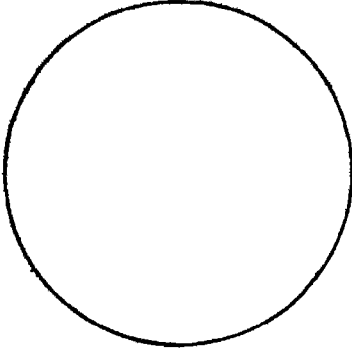
१-रात्रि का अवसान (अरुणोदय)
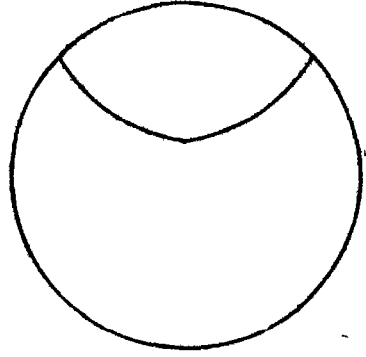
२-कमलाकृति (कमलोदय)
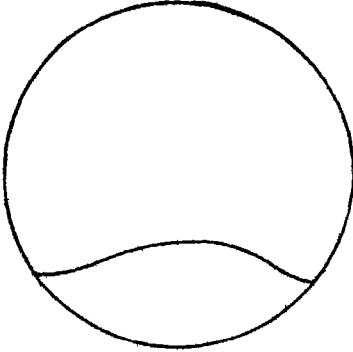
३-धनुराकृति (धनुरुदय)
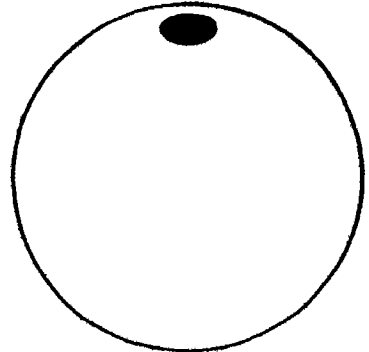
४-उदयकालीन सूर्य (सूर्योदय) (अण्डाकार)

(४) नैसर्गिक अन्धकार (कृष्ण वर्ण) तथा प्रकाश (शुक्ल वर्ण) अचंचल हैं । अन्धकार रात्रिपर्यन्त तथा प्रकाश दिवसपर्यन्त अचल बना रहता है ।

सांख्यीय प्रकृति के सत्त्व व तमोगुण भी इसी भांति अचंचल हैं ।

(५) किन्तु निसर्ग में उपलब्ध रक्तवर्ण चंचल है । तदनुरूप सांख्य का रक्तवर्ण-वाला रजोगुण भी चंचल है ।

इन दोनों की चंचलता के नियम समान हैं —

प्रातःकालीन सौर प्राकृत व्यापार

(क) रात्रि (कालरात्रि) के अन्तिम प्रहर में जब अन्धकार (तमोगुण) क्षीण होने लगता है तब कुछ-कुछ प्रकाश (सत्वगुण) दिखलाई देने लगता है तथा पूर्व दिशा में (सृष्टि के प्रारम्भ में) कुछ-कुछ रक्तवर्ण (रजोगुण) भी उद्रिक्त हो जाता है ।[1]

(ख) उषःकाल में पूर्व दिशा का यह रक्तवर्ण (रजोगुण) एक स्तूप, लिंग, या अर्धविकसित कमल की आकृति धारण करने लगता है । यह कमलाकृति पौराणिक ब्रह्मा की कमलयोनि तथा सांख्य का महदादिभूत पर्यन्त लिंग है ।[2]

कालान्तर में इस कमल के विकास अर्थात् विगलन (अदृश्य हो जाने) के पश्चात् पूर्व दिशा से ही अण्डाकार सूर्य (हिरण्यगर्भ या हिरण्याण्ड) उदित होता है । तब उसका वर्ण लाल होता है ।

(ग) कुछ समय तक प्रदीप्त रहने के पश्चात् यह रक्तवर्ण (स्तूप, लिंग) या कमलाकृति विसर्जित होने लगती है । उसका विसर्जन उसके शीर्ष भाग की ओर से प्रारम्भ होता है । विसर्जन के फलस्वरूप उसका रक्तवर्ण सारे आकाश को व्याप्त करता हुआ पश्चिम की ओर अग्रसर होता है । इससे पश्चिमी क्षितिज पर दक्षिण-उत्तर दिशाओं को स्पर्श करती हुई एक विशाल धनुराकृति निर्मित होती है ।[3] इस आकृति के निर्माण में शनैः-शनैः समस्त रक्तवर्ण (कमलाकृति के विगलन से विकीरित रक्तवर्ण) जब (१०-१५ मिनट में) व्यय हो जाता है तब उसका स्थान श्वेतवर्ण (श्वेताभ प्रकाश) लेने लगता है ।

(घ) अब पूर्व दिशा में रक्तवर्ण अण्डाकार सूर्य उदित होता है ।[४] यही पुराणों की हिरण्याण्ड अवस्था है, जो कि महदादिभूत पर्यन्त तत्वों के समामेलन से निर्मित होती है और यही वह हिरण्याण्ड है जिसमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मा गर्भित रहते हैं ।

सूर्य की यह हिरण्याण्ड अवस्था कुछ समय तक अविकृत रहती है । (जिस क्षण से उस अविकृत अण्डाकृति का विगलन प्रारम्भ होता है ठीक उन्हीं क्षणों में पश्चिम दिशा में दिखनेवाली धनुराकृति क्षितिज में विलीन हो जाती है ।[५])

(ङ) कुछ मिनट तक अविकृत रहने के पश्चात् हिरण्यगर्भ सूर्याण्ड की अण्डाकृति बिगड़ने लगती है । और वह शनैः-शनैः वृत्ताकार में परिणत हो जाती है । अब इस वृत्ताकार सूर्य—सूर्यवृत्त—का रंग श्वेतवर्ण होता है । रक्तवर्ण सर्वथा विलुप्त हो

---

१. देखिए, चित्र नं. ३ की आकृति नं. १ (अरुणोदय) ।
२. देखिए, वही, आकृति नं. २ (कमलाकृति)
३. दे०, वही, आकृति नं. ३ (धनुराकृति) ।
४. दे०, वही, चित्र नं. ३ पर अंकित आकृति नं. ४ ।
५. दे०, वही ।

जाता है। और सारा आकाश तथा विश्व सहस्रांशु सूर्य की रश्मियों से परिपूर्ण हो जाता है।

(सहस्रांशु की यह श्वेताभ वर्तुलावस्था, सूर्यास्त के कुछ पूर्व तक अविकृत बनी रहती है।)

सौर प्राकृत व्यापार

(सायंकालीन व्यापार)
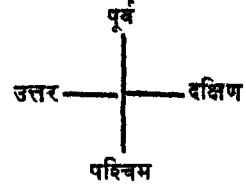
(चित्र नं ४)
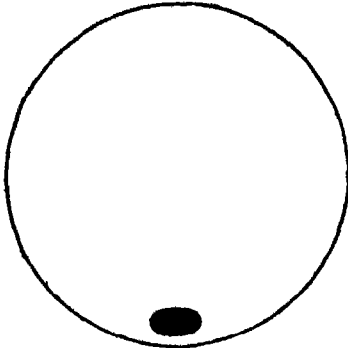
१- अस्तमनकालीन सूर्याण्ड
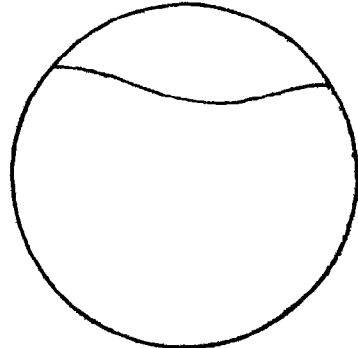
२- धनुराकृति
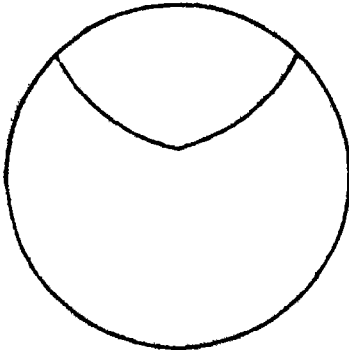
३- कमलाकृति
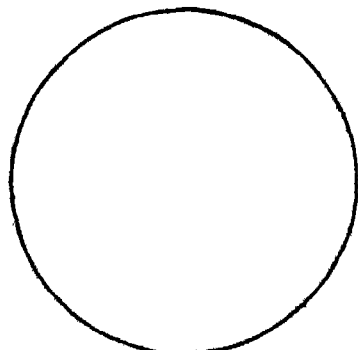
४- रात्रि

पुराण पक्ष में उपर्युक्त रक्ताभ, अण्ड-सूर्य से श्वेताभ वृत्त – सूर्य का निर्माण ब्रह्मा के क्रोधानल से रुद्रोत्पत्ति का तथा हिरण्याण्डगत हिरण्यगर्भ का विराट्-विश्वात्मक-

सहस्रशीर्ष-पुरुष रूप में अभिव्यक्ति का प्रतीक है। अण्डज ब्रह्मा की पौराणिक कल्पना इसी अण्डभंग की दैनन्दिन घटना से अनुप्रेरित है।

सायंकालीन सौर प्राकृत व्यापार

प्रतिदिन, प्रातः व्यापारों के विपरीत क्रम से सान्ध्य व्यापार घटित होते हैं। यथा–

(क) सर्वप्रथम अपराह्ण काल में पश्चिम क्षितिज को प्राप्त वृत्ताकार तथा श्वेताभ सूर्य, अण्डाकार तथा रक्ताभ सूर्य में बदलने लगता है और उसकी किरणें भी संहृत हो जाती हैं।[1]

(ख) इसके साथ ही पूर्व दिशा से पूर्वोक्त आकार-प्रकारवाली धनुराकृति उदित होने लगती है।[2]

(ग) सूर्यपिण्ड के अस्त हो जाने पर धनुराकृति का रक्तवर्ण सारे आकाश को व्याप्त करता हुआ पश्चिम क्षितिज की ओर संक्रमित होता है। तब ऐसा लगता है मानो कालाग्नि रूप रुद्र विश्व संहार के लिए अपने पिनाक धनुष से आग्नेयास्त्र प्रक्षेपित कर रहे हों।

पुराण में यह व्यापार रुद्राग्नि द्वारा, अग्निप्रलय का नैसर्गिक आधार है।

(घ) पूर्वोक्त रक्ताभ धनुष का सारा तेज पश्चिमी क्षितिज में संक्रमित होकर (उषःकाल के समान) एक रक्तवर्ण कमलाकृति का निर्माण करता है।[3] पुराण पक्ष में प्रातःकाल जिस कमलयोनि से अण्डसूर्यगत हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे, वे मानो इस सान्ध्य कमलाकृति रूप अपनी जन्म स्थली में पुनः वापस लौट गये हों।

इस आकृति के अतिरिक्त शेष आकाश का रंग इस समय नीला होता है— मानो सारा विश्व जलमग्न हो गया है। और उस महान् जलराशि के बीच एक काल कमल बन्द होकर रह गया है। यह नीलाभ आकाश पौराणिक जलप्रलय की परि-कल्पना का नैसर्गिक आधार है।

(ङ) इसके पश्चात् पश्चिमी क्षितिज की कमलाकृति अपने आधार की ओर से क्रमशः अधःपतित होकर कुछ ही मिनटों में विलीन हो जाती है। उसके विलय के पश्चात् समुद्र के समान नीलिमायुक्त आकाश ही शेष रह जाता है।[4] यह नीलवर्ण आकाशार्णव ही, पुराणों का एकार्णव है। जिस प्रकार पुराणोक्त एकार्णवावस्था काल-रात्रिपर्यन्त रहती है उसी प्रकार यह एकार्णव भी रात्रिपर्यन्त रहता है। इसके पश्चात् पुनः नवसृष्टि का उन्मेष होता है।

---

१. दे०, पृ० १६६ आकृति नं० १। २. दे०, वही, आकृति नं० २। ३. दे०, वही, आकृति नं० ३। ४. दे०, वही आकृति नं० ४।

उपर्युक्त सान्ध्य-प्रातःकालीन सौर प्राकृत व्यापार निसर्ग में प्रतिदिन देखा जा सकता है[1]। यदि सावधानी पूर्वक उसका निरीक्षण किया जाये तो उपर्युक्त घटनाओं में से प्रायः आधी घटनाओं को हम पुनरावृत्ति करते हुए देख सकते हैं। इन पुनरावृत्त घटनाओं को हमने प्राकृत एवं नैमित्तिक सृष्टि प्रलय का आधार पृथक्-पृथक् परिकल्पित किया है।

उसके अनुसार पूर्वोक्त प्रभातकालीन व्यापार उषा तथा प्रत्यूषा नामक दो वेलाओं में घटित होता है। इसी भाँति सायंकालीन सौर प्राकृत व्यापार भी सन्ध्या तथा प्रदोष नामक विशिष्ट घड़ियों में घटित होता है।

अमरकोश के अनुसार रात्रि का अवसान उषा तथा दिवस का प्रारम्भ प्रत्यूषाकाल है।[2] अतएव उषाकाल, प्रत्यूषाकाल का पूर्ववर्ती काल ठहरा। मेरे निरीक्षण के अनुसार रात्रि के अन्तिम प्रहर में, जबतक आकाश में तारे दिखलाई देते हैं, तबतक उषाकाल रहता है। पश्चात् सूर्योदय के क्षणतक प्रत्यूष काल।

उषःकाल में रक्तवर्ण के उद्रेक से लेकर कमलाकृति निर्माण, धनुराकृति निर्माण तथा धनुर्भंग पर्यन्त घटनाएँ घटित होती हैं। प्रत्यूष काल में घटनाएँ पुनः दोहरायी जाती हैं अर्थात् फिर से कमलाकृति, धनुराकृति तथा धनुर्भंग के तथाकथित व्यापार घटित होते हैं। उनके अन्त में सूर्योदय होता है।

इसी प्रकार की द्विविध घटनाएँ सायंकालीन सौर प्राकृत व्यापार में व्युत्क्रम से दिखलाई देती है। प्रभातकाल की भाँति सायंकाल के भी दो भेद हैं—सन्ध्या और प्रदोष। अमरकोश के अनुसार दिनान्त की सन्ध्या तथा रात्रि के प्रारम्भ को प्रदोष कहते हैं।[3] इसके अनुसार सन्ध्याकाल, प्रदोषकाल का पूर्ववर्ती हुआ। मेरे निरीक्षण के अनुसार सूर्यास्त के क्षण से लेकर आकाश में तारागणों के दिखलाई देने लगने तक का काल सन्ध्या तथा परवर्ती काल प्रदोष है।

सन्ध्याकाल में धनुर्निर्माण, धनुर्भंग, कमलाकृति निर्माण तथा कमलाकृति विसर्जन पर्यन्त घटनाएँ घटित होती हैं। इसके पश्चात् आनेवाले प्रदोषकाल में पुनः धनुर्निर्माण, धनुर्भंग, कमलाकृति निर्माण तथा कमलाकृति विसर्जन पर्यन्त घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है। इसके बाद रात का अँधेरा गहरा हो जाता है और फिर कुछ नहीं दिखलाई देता। उषा के आगमन तक वह प्रायः स्थिर बना रहता है। इस त्रियामात्मक काल को हमने पुराणोंके एकार्णव अथवा तमोभूत प्रलयावस्था का आधार निर्दिष्ट किया है।

---

१. टिप्पणी—सदाशय अध्येताओं से विनम्र आग्रह है कि वे कम से कम किसी एक दिन अवश्य ही उपर्युक्त सौर प्राकृत व्यापार का निरीक्षण खुले आकाश में सावधानीपूर्वक करेंगे। इससे हमारा अभिप्राय उन्हें अनायास ही समझ में आ जायेगा और इससे मैं अपने प्रयास को सार्थक समझ सकूँगा।

२. उषा रात्रेरवसाने। प्रत्यूषोऽहर्मुखम्।

३. दिनान्ते तु सायं सन्ध्या। प्रदोषो रजनीमुखम्॥

सौर व्यापार की दृष्टि से उषाकालीन व्यापार, निसर्ग का सर्वप्रथम तथा प्रदोष-कालीन व्यापार सर्वान्तिम व्यापार है। सृष्टि पक्ष में उषःकालीन व्यापार को, सृष्टि की प्रथम सृष्टि तथा प्रदोषकालीन व्यापार को सृष्टि के सर्वान्तिम प्रलय से समंजित किया गया है और उन दोनों के बीच रहनेवाली रात्रि को कालरात्रि से।

इसी प्रकार प्रत्यूषकालीन व्यापार को नैमित्तिक सृष्टि का तथा प्रदोषकालीन व्यापार को नैमित्तिक प्रलय की पौराणिक धारणा का, नैसर्गिक आधार कल्पित किया गया है।

इस प्रकार सौर प्राकृत निरीक्षणों के क्रम तथा उनसे पौराणिक सृष्टि तत्वों के स्वरूप तथा क्रमादि का सामंजस्य होने से, उसे पौराणिक कल्पनाओं का हेतु अथवा प्रेरणा स्रोत प्रदर्शित किया गया है। उस सबका सूत्रात्मक विवरण इस प्रकार है—

पुराणपक्ष	निसर्गपक्ष
१. त्रिगुणात्मक प्रकृति	त्रिवर्णात्मक निसर्ग (प्रकृति)
२. ब्रह्म	सूर्य
३. ब्रह्मा	उदयकालीन सूर्य
४. विष्णु (या शिव)	मध्याह्नकालीन सूर्य
५. शिव (या विष्णु)	सायंकालीन सूर्य
६. सृष्टिकाल	उषा या प्रत्यूषकाल
७. स्थितिकाल	दिवस
८. संहार काल	सन्ध्या या प्रदोषकाल
९. प्रलय रात्रि (या एकार्णव)	रात्रि

प्रतीकात्मक सृष्टिविद्या

पुराणों में सृष्टि सम्बन्धी रहस्यों को अत्यन्त संक्षिप्त प्रतीकों द्वारा भी अभि-व्यक्त करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ओंकार व स्वस्तिक ऐसे दो प्रतीक हैं जो अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी सृष्टि के समग्र अर्थ को मुखर करने में समर्थ हैं।

इनमें से ओंकार का व्याख्यान तो प्रत्येक पुराण में किया गया है किन्तु उप-निषदों में जिस मार्मिकता से उसका व्याख्यान हुआ है वह मननीय है। स्वस्तिक का व्याख्यान न तो पुराणों में उपलब्ध है और न उपनिषदों में ही। किन्तु उसके कुछ संकेत अवश्य ही वहाँ उपलब्ध है। उन्हीं संकेत सूत्रों को पकड़ते हुए यहाँ पर उसका व्याख्यान किया गया है।

ओंकार 'ॐ'

ॐ, ओंकार तथा प्रणव एक अक्षर है जिसमें अनादिकाल से लेकर अबतक हुई समस्त ज्ञान साधना को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है। इतना ही नहीं भविष्य की

ज्ञान साधना के लिए भी यह एक खुली चुनौती है।[1] अपनी इस विशेषता के कारण यह अक्षर हमारे देश में अक्षर-ब्रह्म, शब्द-ब्रह्म अथवा नाद-ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित है। समस्त चिदचित् विश्व को अपने रूप में गर्भित करनेवाले ब्रह्म को भी यह एकायनवाक् स्वयं में समाहित करने में समर्थ है।[2]

ओंकार का प्रयोग अत्यन्त पुरातन है। वैदिक संहिताओं सहित वह समस्त वैदिक वाङ्मय में प्रतिष्ठित है। मनुस्मृति तो प्रत्येक वैदिक मन्त्र के आदि और अन्त में उसके प्रयोग का विधान करती है।[3] जिससे श्रीमद्भागवत में उसे सर्वमन्त्रोपनिषद् वेद बीज सनातन कहे जाने की महत्ता स्पष्ट है।[4]

ओंकार की संरचना में—अ उ म्—ये तीन अक्षर विद्यमान हैं। ये तीन अक्षर ओंकार की तीन मात्राएँ हैं।[5] अमात्र नामक एक चौथी मात्रा भी उसमें कल्पित की गयी है।[6] इस प्रकार उसके—तीन मात्रावाले तथा चार मात्रा वाले—दो रूप उपलब्ध होते हैं। विभिन्न उपनिषदों में इनमें से किसी एक अथवा दोनों के अनुसार त्रिपाद् अथवा चतुष्पाद ब्रह्म के रूप में ओंकार का व्याख्यान किया गया है।

त्रिपाद ब्रह्म

पुराणों में ओंकार की अकारादि तीन मात्राओं को तीन वेद (ऋक्, यजुः, सामवेद), तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), तीन लोक (भूर्लोक, भुवः लोक, स्वर्लोक अथवा ऊर्ध्व, मध्य, अधःलोक) तथा तीन अग्नियों (गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण) का समष्ट्यात्मक प्रतीक बतलाया गया है।[7] मनुस्मृति में उसे प्रजापति स्वरूप वेदत्रयी से उद्भूत तथा व्याहृतियों से अभिन्न बतलाया गया है।[8]

---

१. माण्डूक्य० १ — ओमित्येवक्षरमिदं सर्वं भूतं भवद् भविष्यदिति। सर्वमोंकारमेव।
२. ब्रह्मविद्योपनिषद् २ — ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म तदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
   छान्दो० १।१।१ — ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।
   वायु० २७।२४ — ओङ्कारं ब्रह्मसंज्ञितम्…।
   विष्णु० ३।३।२२ — ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येव व्यवस्थितम्।
३. मनु० २।७४ — ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
४. भाग० १२।६।४१ — स (ओंकार) सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्।
५. माण्डूक्य० ८ — मात्राश्च अकार उकारो मकार इति।
६. वही, १२ — अमात्रश्चतुर्थो…।
७. वायु० २०।६ — ओमित्येतत्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः।
   अग्नि० २५६।७ — मात्रात्रयं त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः।
   मार्क० २३।३५-३७ — एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः।
   वायु० ५।१७ — एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः।
   भाग० १२।६।४२ — तस्य ह्यासन् त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह।
   धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः॥
८. मनु० २।७६ — अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
   वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च॥

उपनिषदों में भी इसी भाँति उसे त्रिदेव, त्रिलोक, त्रिगुण, त्रिवेद, त्रि-अग्नि, त्रिस्वर, त्रिसन्ध्या (प्रातः, मध्याह्न, सायं) त्रि-अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा प्राज्ञ, तैजस्, विश्व अथवा विराड्, हिरण्यगर्भ, कारण अथवा अव्याकृत, सूक्ष्म, स्थूल) आदि का प्रतीक बतलाया गया है।[1] साथ ही इन तीन मात्राओं का वर्ण भी उसमें प्रतिपादित किया गया है।[2]

चतुष्पाद ब्रह्म

ब्रह्मात्मक ओंकार की चार मात्राओं के अनुरूप उसका चतुष्पाद स्वरूप भी उपनिषदादि में प्रकट किया गया है। वेद में जिस परमवाक् के तीन पद गुहानिहित बतलाये गये हैं, वह परमवाक् यह ओंकार ही है।[3] इस परम ब्रह्म का चौथा पाद अत्यन्त प्रशस्त है क्योंकि शेष तीन पाद उसी में समा जाते हैं। इतना ही नहीं उसी एक पाद से वे तीन पाद प्रकट भी होते हैं। विभिन्न धर्म, दर्शन तथा सम्प्रदायों की दृष्टि से उन्हे अनेक तरह से व्यवस्थित किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में उन सबकी व्याख्या अपेक्षित न होने से उनका निर्देश मात्र किया जाता है।

चतुष्पाद	त्रिपाद
१. अमात्र ओंकार	अ, उ, म् ।
२. परा वाक्	पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ।
३. अधियज्ञ पुरुष	अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्म ।
४. नारायण	ब्रह्मा, विष्णु, महेश ।
५. सनातन अव्यक्त	अव्यक्त, सूक्ष्म, स्थूल ।
६. परमात्मा	प्रधानात्मा, महानात्मा, विराडात्मा ।
७. ब्रह्म	कारण, हिरण्यगर्भ, विराट् ।
८. तुरीय	जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ।

---

१. ब्रह्मविद्यो० ७१-७२ — तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ताः लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः ॥
अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ।
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः ।
योगतत्त्वो० १३४ ३५ — तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ।
योगचूडा० ७४, ७५ — विराड् विश्वः स्थूलश्चाकारः । हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः ।
कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः ।

२. योगचूडा० ७६ — अकारो···रक्तो···। उकारः शुक्लो । मकारः···कृष्णो ।

३. वायु० २०।६ — ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायां निहितं पदम् ।
ऋग्वेद १।१६४।४५ — चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।
वही, १।१६४।३५ — ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।···ब्रह्मायं वाचः परमः ।
यजुर्वेद ३२।९ — त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ।
अथर्व० २।१।२ — पूर्ववत्

९. अव्यक्त प्रकृति	सत्व, रज, तम ।
१०. तुरीय	वैश्व, तैजस, प्राज्ञ ।
११. गायत्री ब्रह्मरूपा	ब्रह्मरूपा, विष्णुरूपा, शिवरूपा ।
१२. परमब्रह्म	अव्यक्त, सूक्ष्म, स्थूल ।
१३. वासुदेव	प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण ।
१४. आत्मा	चित्त, बुद्धि, अहंकार ।
१५. प्रलयावस्था	सृष्टि, स्थिति, संहार ।
१६. परमज्योति	क्रिया, इच्छा, ज्ञान इत्यादि ।
१७. पुरुष	प्रकृति, महत्, अहंकार ।

ओंकार की इस त्रिपदी अथवा चतुष्पदी व्याख्या से हमें, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता ब्रह्म के स्वरूप को समझने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। पुराणों के अनुसार परमब्रह्म सृष्टि का सर्वस्व है। उस ब्रह्म के स्वरूप पर इस अक्षर-ब्रह्म अर्थात् ओंकार की उपर्युक्त व्याख्याओं से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ओंकार की ये विविध व्याख्याएँ ब्रह्म की सर्वात्मकता की ओर संकेत करती हैं। वह एक ब्रह्म पुरुष भी है, प्रकृति भी है। आत्मा भी है, जगत् भी है। जागते हुए में वह है, सोते हुए में वह है, स्वप्नद्रष्टा में भी वही एक परिव्याप्त है। ओंकार की भाँति तीन या चार मात्राओं में विभक्त होने पर भी वह परम ज्योति एक है। शंकर भी, ब्रह्मा भी, विष्णु भी, नारायण भी वही एक है। भले ही अलग-अलग कर्म-सम्प्रदाय उन्हें पृथक्-पृथक् नाम-रूप देते रहें और उनमें से किसी एक का आग्रह करके उसे ही सृष्टि का सर्वस्व घोषित करते रहें।[1]

स्वस्तिक

ओंकार की भाँति स्वस्तिक भी हमारे देश का सर्वाधिक प्रचलित एवं पवित्र प्रतीक है। यद्यपि हमें इस प्रतीक का शास्त्रीय व्याख्यान उपलब्ध नहीं होता तथापि उसकी अति प्राचीनता के सुदृढ़ प्रमाण अवश्य उपलब्ध होते हैं। विश्व की प्राचीनतम सभ्यता—सिन्धु घाटी सभ्यता के उत्खनन में हमें स्वस्तिकांकित अनेक मृण्मय मुद्राओं की उपलब्धि हुई है।[2] इन विभिन्न मुद्राओं पर स्वस्तिक की अनेक प्रकार की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।[3] उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

---

१. सृष्टिविद्या के इस प्रतीक (ॐ) में जैन सृष्टिविद्या का रहस्य भी गर्भित है। ओंकार की अ उ म्—ये तीन मात्राएँ विश्व की निर्मात्री षड्द्रव्यों की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक अर्थात् द्रव्यों की सृजन संस्थिति एवं संहारात्मक शक्तियों की प्रतीक हैं।

२. सिन्धु सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा, पृ. ११०-११३।

३. वही हड़प्पा—आकृतियों के लिए देखिए—१. फलक नं. २३, पृष्ठ ११०; २. फलक नं. १३ तथा फलक नं. ६६।
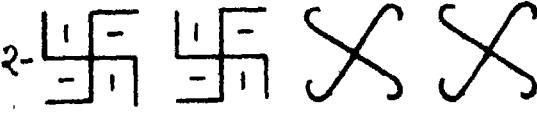
इन प्राचीन स्वस्तिकाकृतियों के प्रायः समान आकृतियों का प्रचलन आज भी हमारे देश में है—
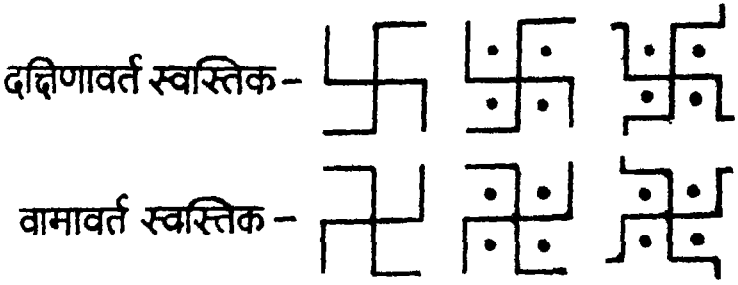
निर्वचन

कुछ विद्वानों के अनुसार यह प्रतीक कमल का पूर्व रूप है।[1] तथा कुछ के अनुसार वह गणपति का प्रतीक है।[2]

किन्तु मेरे विचार से यह चित्रात्मक तथा अक्षरात्मक प्रतीक सृष्टिविद्या तथा सृष्टि के अधिष्ठाता ब्रह्मा का प्रतीक है। इस सम्बन्ध में इन बातों को कहा जा सकता है।

चित्रात्मक प्रतीक

जिस प्रकार चित्रों या तसवीरों का प्रयोग गृहसज्जा इत्यादि के अलंकरण कार्यों के लिए किया जाता है उसी प्रकार स्वस्तिक का प्रयोग भी अनेक प्रकार की सज्जा तथा अलंकरण के लिए हमारे देश में प्रचलित है। उसका प्रयोग घर के प्रमुख द्वार के ऊपर, दायें-बायें अथवा चौखट पर अलंकरण के रूप में किया जाता है। मंगल घट, माथे का तिलक, अँगूठी, लाकेट, हाथों की मेंहदी-रचना तथा रंगोली सजाने में स्वस्तिक का प्रयोग हमारे यहाँ प्रचलित है। वणिग्गण अपनी लेखा पुस्तकों की वार्षिक पूजा के समय इसका प्रयोग अपनी लेखा पुस्तकों (बहीखातों) को अलंकृत करने में भी बहुधा किया करते हैं।

---

१. प्रतीकशास्त्र, पृ. २२-२५। २. हिन्दूपाली०, पृ. २६५-२६६।

जैनों के यहाँ भी यह चिह्नात्मक प्रतीक पवित्र माना जाता है। इसका प्रयोग उनके केसरिया रंग के धार्मिक (जैन ध्वज) ध्वज में भी किया जाता है। सातवें जैन तीर्थंकर भगवान् सुपार्श्वनाथ की मूर्ति के पहचान चिह्न के रूप में तो इसका प्रयोग सहस्राब्दियों से रूढ़ है। जैनों के अनुसार चार शीर्षोंवाली यह आकृति भवचक्र की प्रतीक है। देव, मनुष्य, तिर्यंच तथा नारक—इन चार गतियों (योनियों) में होनेवाला भवभ्रमण इसके द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

अक्षरात्मक प्रतीक

स्वस्तिकाकृति एक लिपि संकेत अर्थात् अक्षर के रूप में भी हमारे देश में बहुत पहले प्रचलित थी। प्राचीन ब्राह्मीलिपि, जिसमें सम्राट् अशोक ने आज से २२ सौ वर्ष पहले अपनी धार्मिक घोषणाएँ अंकित करवायी थीं, के 'क' अक्षर की बनावट भी स्वस्तिक के एक प्राचीन रूप + (क) के समान थी।[१]

यह क (+) स्वस्तिक का प्राचीनतम रूप है। स्वस्तिक शब्द भी इसी ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। स्वस्तिक का पदच्छेद है—स्वस्ति + क। जिसका अर्थ है स्वस्ति अर्थात् कुशलता प्रदान करनेवाला क। स्वस्तिकप्रदः कल्याणमंगल प्रदः क।

अब हम देखेंगे कि यह क क्या है।

क अर्थात् प्रजापति—ब्रह्मा

वेद, पुराण तथा संस्कृत कोशों में विश्वस्रष्टा प्रजापति ब्रह्मा का एक नाम क भी बतलाया गया है।[२]

ब्राह्मीलिपि के पूर्वोक्त अक्षर + (क) तथा वेदादि में क के नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्मा में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मेरे विचार से ब्राह्मीलिपि का + (क) और इसी आकार में बनाया जाने-वाला स्वस्तिक (+), प्रजापति क के चतुर्भुज चतुरानन ब्रह्मा रूप का प्रतीक है।

स्वस्तिक के चार शीर्षों (+) से, उन प्रजापति ब्रह्मा के चार मुखों, चार हाथों तथा उनके द्वारा रचे गये चार वर्ण, चार युग तथा चार प्रकार की प्रजा आदि, चतुरात्मक तत्त्वों को प्रदर्शित किया गया है।

ब्रह्मा के समान, स्वस्तिक की लोकपूज्यता भी इस परिकल्पना की पुष्टि करती है।
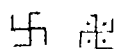
---

१. प्रतीकशास्त्र, पृ. ९६।
२. ऋग्वेद १०।१२१।१ कस्मै देवाय हविषा विधेम।
यजुर्वेद २७ वही।
अथर्व० ४।२।१ वही।
भाग० ३।१२।५२ कस्य रूपमभूद् द्विधा।

स्वस्तिक के अलंकृत रूपों में चार-चार लघु रेखाओं तथा चार लघु बिन्दुओं का प्रयोग भी (+ 卐 卍) स्वस्तिक की चातुर्वर्ण्य आदि चतुरात्मक तत्त्वों से सम्बद्धता को सूचित करता है।

आद्यव्यंजन 'क'

जिस प्रकार ब्रह्म का प्रथम विकार ब्रह्मा है, उसी प्रकार संस्कृत वर्णमाला का प्रथम व्यंजन क भी स्वररूपी शब्द ब्रह्म की प्रथम विकृति अथवा व्यंजना है। सृष्टि में जिस प्रकार ब्रह्मा जी अग्रजन्मा हैं उसी प्रकार व्यंजन क भी व्यंजनसृष्टि में अग्रजन्मा है।

जिस प्रकार ब्रह्मा जी सृष्टि की समस्त प्रजा के पति अर्थात् प्रजापति हैं उसी प्रकार क भी व्यंजनरूपी प्रजासृष्टि का पति अर्थात् प्रजापति है।

स्वस्तिक और सृष्टिविद्या

पुराणों में ब्रह्मा को अव्यक्त प्रकृति के प्रथम विकार महत्तत्त्व का अधिष्ठाता देवता माना गया है। महत्तत्त्व की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष के प्रथम संसर्ग का परिणाम है। मेरे विचार से स्वस्तिक भी इसी महत्तत्त्वात्मक ब्रह्मा की उत्पत्ति की कथा कहता है।

स्वस्तिक के सभी रूपों का मूल आधार दो रेखाओं का संसर्ग है। एक खड़ी रेखा (।) का संसर्ग एक आड़ी रेखा (–) से होने पर स्वस्तिक (+) का निर्माण होता है। मेरे विचार से खड़ी रेखा अपरिणामी पुरुष की तथा आड़ी रेखा विचारवान् प्रकृति की प्रतीक है। जब प्रकृति और पुरुष का संसर्ग होता है तब महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व का अधिष्ठाता ब्रह्मा है। और ब्रह्मा का प्रतीक स्वस्तिक (+)। अतः महत्तत्त्व का प्रतीक भी स्वस्तिक (+) हुआ। महदात्मक स्वस्तिक के ये चार शीर्ष उसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—इन चार भावों के प्रतीक हैं। यही शीर्ष महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मा के चतुर्वेदरूपी चार मुख हैं।

अलंकृत स्वस्तिक के दक्षिणावर्त (卐) तथा वामावर्त (卍) ये दोनों रूप महत्तत्त्व के सात्त्विक तथा तामस रूपों के प्रतीक हैं। महत्तत्त्व के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—ये चार सात्त्विक भाव दक्षिणावर्त स्वस्तिक द्वारा तथा अधर्म, अज्ञान, मोह तथा अनैश्वर्य—ये चार तामसभाव, वामावर्त स्वस्तिक द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं। सम्भवतः इसी कारण से वामावर्त स्वस्तिक को लोक में अशुभ माना जाता है।

स्वस्तिक के पूर्णालंकृत रूप (卐) में भी यही देखा जा सकता है। मूल रेखाओं के शीर्ष पर लगी चार रेखाएँ सात्त्विक भावों की प्रतीक हैं तथा उनके भी शीर्षों पर लगी चार रेखाएँ तामस भावों की प्रतीक।

स्वस्तिक का यह पूर्णालंकृत रूप समग्र सृष्टिरहस्य को भी अभिव्यक्त करता है। स्वस्तिक का वामावर्त रूप (卍) विश्व की सृष्टि का प्रतीक है। उसका वर्धितरूप (卍) सृष्टिसहित प्रलय का तथा बिन्दुसहित रूप (卍̇) सृष्टि एवं संहारसहित स्थिति का भी प्रतीक है। मूल स्वस्तिक (+) के शीर्ष पर लगी रेखाएँ (卐) सृजन की गतिशीलता के प्रतीक हैं किन्तु इन रेखाओं के भी शीर्ष पर लगी रेखाएँ (卐) सृजन की विपरीत गति अर्थात् संहार की प्रतीक हैं। सृष्टि-वाचक स्वस्तिक के क्रोड में स्थित बिन्दु (卍̇) सृष्टि की अगतिशीलता अर्थात् स्थिति के प्रतीक हैं।

इस प्रकार एक ही स्वस्तिक के सृष्टि, स्थिति एवं संहारात्मक सिद्ध हो जाने पर उसे इन अवस्थाओं के अधिष्ठाता देवताओं का प्रतीक भी माना जा सकता है। स्वस्तिक के ये तीन रूप 卐 卐̇ 卍̇ क्रमशः स्रष्टा ब्रह्मा, पालक विष्णु तथा संहर्ता शिव को भी द्योतित करते हैं। तथा इन सब आकृतियों में समान रूप से विद्यमान संसर्ग—बिन्दु अर्थात् स्वस्तिक के केन्द्र अथवा नाभि इस सृष्टि के केन्द्रभूत ब्रह्म का प्रतीक भी माना जा सकता है। जिस प्रकार स्वस्तिक की नाभि के चारों ओर सर्ग, स्थिति एवं संहार का चक्र चलता रहता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड-नाभि ब्रह्म के चारों ओर विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का चक्र चलता रहता है।

इस प्रकार ॐ की भाँति स्वस्तिक में भी सृष्टिविद्या का रहस्य भरा हुआ है। उसमें ओंकार की भाँति ब्रह्मसहित ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर—इन तीन देवताओं का निवास भी है[1]।

●

१. सृष्टिविद्या के इस प्रतीक (स्वस्तिक) में जैन सृष्टिविद्या का रहस्य भी गर्भित है। इसको बनानेवाली प्रमुख दो रेखाएँ (+) जीव और पुद्गल द्रव्यों के अनादि संसर्ग की प्रतीक हैं तथा उन रेखाओं के चार शीर्ष (卐) उनके संसर्ग से परिनिर्मित विश्व के चतुर्गति चक्र की प्रतीक अथवा जीव पुद्गल को छोड़कर धर्म-अधर्म एवं आकाश तथा काल नामक चार द्रव्यों की प्रतीक।

सप्तावरण ब्रह्माण्ड

(चित्र नं० ५)
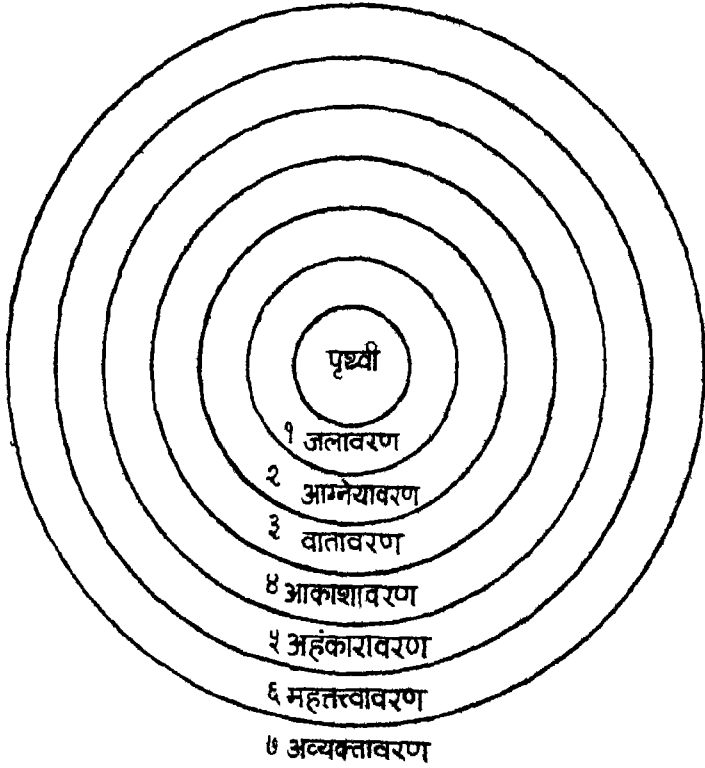
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः।
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ॥
—भाग० ३।११।३९-४०

ब्रह्माण्ड का स्वरूप

ब्रह्मवैवर्त पुराण में ब्रह्माण्ड के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है—सात द्वीप, सात स्वर्ग तथा सात पातालवाले लोक को ब्रह्माण्ड कहते हैं।[1] इस परिभाषा में सप्त-सागर तथा सप्तआवरण और जोड़ देने से पुराण वर्णित ब्रह्माण्ड का चित्र पूरा हो जाता है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में बतलाया गया है कि सृष्टि की कामना से भगवान् ने सबसे पहले जल की सृष्टि की। फिर उसमें अपना वीर्याधान किया। उससे एक अण्डे का जन्म हुआ। वह अण्डा सोने-जैसा चमकीला था। उस अण्डे में भगवान् स्वयं गर्भित हुए। उन भगवान् के गर्भ से उस अण्डे में सप्तद्वीप, सागर, लोक, पाताल आदि का निर्माण हुआ।[2] लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा से अधिकृत होने के कारण वह अण्डा ब्रह्माण्ड अर्थात् ब्रह्म का अण्ड कहलाया।[3]

अब हम इस ब्रह्माण्ड की रचना का अध्ययन करेंगे।

सप्त द्वीप-सागर

पुराणों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में भूर्भुवादि सप्त स्वर्ग और अतलादि सप्त पाताल है। हमारी सप्तद्वीपा पृथ्वी इन दोनों के मध्य में है। पृथ्वी के ऊपर की ओर स्वर्ग तथा नीचे की ओर पाताल तथा नरक है।

जिस जम्बूद्वीप में हम निवास करते हैं वह इस सप्तद्वीपा पृथ्वी के केन्द्र में स्थित है। शेष छह द्वीप इसे वलयाकार में घेरे हुए हैं। उन द्वीपों का विस्तार क्रमशः दुगुना-दुगुना अधिक है। इन सात द्वीपों को सात सागर एकान्तर क्रम से घेरे हुए हैं। उनका विस्तार भी द्विगुण-द्विगुण है।[4]

---

१. ब्रह्मवै० १।७।१४ — सप्तद्वीपैः सप्तनाकैः सप्तपातालसंज्ञकैः।
एभिर्लोकैश्च ब्रह्माण्डं ब्रह्माधिकृतमेव च॥

२. अग्नि० १७।७,८ — अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमथासृजत्।
हिरण्यवर्णमभवत् तदण्डमुदकेशयम्॥

विष्णु० १।२।५७-५८ — मेरुरुल्बमभूत्तस्य जरायुश्च महीधराः।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन्सुमहात्मनः॥
साद्रिद्वीपसमुद्राश्च सज्योतिर्लोकसंग्रहः।
तस्मिन्नण्डेऽभवद्विप्र सदेवासुरमानुषः॥

३, ब्रह्मवै० १।७।१४ — ...ब्रह्माण्डं ब्रह्माधिकृतमेव च।

४. अग्नि० १०८।३,२ — जम्बूद्वीपो द्वीपमध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः।
एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः॥

विष्णु० २।२।७,६ — पूर्ववत्।
गरुड० १।५४।२ — ,,
भाग० ५।१।३२-३३ — ,,

उन द्वीप-सागरों के नाम इस प्रकार हैं—

द्वीप—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप तथा पुष्करद्वीप।[1]

सागर—लवणसागर, इक्षुसागर, सुरासागर, घृतसागर, दधिसागर, क्षीरसागर तथा जलसागर।[2]

इन द्वीप-सागरों के सम्बन्ध में पुराणों के भुवनकोश वर्णन के अन्तर्गत प्रभूत सामग्री संकलित है। सम्प्रति, जम्बूद्वीप को छोड़कर अन्य द्वीप-सागर अज्ञात हैं।

सप्त पाताल

अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान्, महातल, सुतल तथा पाताल नामक सात पाताललोक इस पृथ्वी मण्डल के अधोभाग में दस-दस हज़ार योजन नीचे-नीचे की ओर स्थित हैं।[3]

स्वर्गों से भी अधिक रमणीय इन पाताललोकों में दैत्य, दानव, यक्ष और नाग आदि देवजातियाँ निवास करती हैं।[4]

पुराणों के अनुसार सातवें व अन्तिम पाताल के नीचे सहस्रफनवाले भगवान् शेषनाग का निवास है। वे अपने एक सिर पर समस्त भूमण्डल को मुकुट के समान धारण किये हुए हैं।[5]

सप्तलोक

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य नाम के ये सात लोक एक के ऊपर एक—छत्राकार रूप से अवस्थित हैं।[6]

---

१. अग्नि० १०८।१ — जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो महान्।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चेति सप्तमः॥
विष्णु० २।२।५ — पूर्वप्राय।
गरुड़० १।५४।४ — ,,
भाग० ५।१।३२-३३ — ,,

२. गरुड़० १।५४।५ — लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलान्तकाः।
विष्णु० २।२।६ — पूर्वप्राय।
अग्नि० १०८।२ — ,,

३. विष्णु० २।२।२। गरुड़० १।५७।१-२।

४. विष्णु० २।२।४-५ — स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानि नारद।
तेषु दानवदैतेया यक्षाश्च शतशस्तथा॥
निवसन्ति महानागजातयश्च महामुने॥

५. विष्णु० २।२।१३, २० — ...शेखरीभूतमशेषं क्षितिमण्डलम्।
भाग० ५।२५।२

६. वायु० ५०।७९-८० — भूर्लोकश्च भुवश्चैव तृतीयः स्वरिति स्मृतः।
महर्लोको जनश्चैव तपः सत्यश्च सप्तमः॥
एते सप्त कृता लोकाश्छत्राकारा व्यवस्थिताः।
स्वकैरावरणैः सूक्ष्मैर्धार्यमाणाः पृथक्पृथक्॥

भूर्लोक

जिस सप्तद्वीपा वसुन्धरा पर हम निवास करते हैं वह भूर्लोक का पृष्ठ भाग है। इसके नीचे सप्त पाताल व अट्ठाईस नरकभूमियाँ हैं। सर्गादि में ब्रह्मा के द्वारा भूः कहने पर इस लोक की उत्पत्ति हुई थी अतः इसे भूर्लोक कहते हैं। इस लोक का अधिपति देवता अग्नि है।[1]

भुवर्लोक

ब्रह्मा के द्वारा भुवः व्याहृति का उच्चारण करने से इस लोक की उत्पत्ति हुई थी। वायु इस लोक का अधिपति देवता है। भूपृष्ठ से लेकर सूर्यमण्डल तक यह लोक व्याप्त है। इसका अन्य नाम अन्तरिक्ष भी है। इस लोक में गन्धर्व, अप्सरा, भूत, पिशाच, नाग, मरुत्, मातरिश्वा, अश्विनी तथा रुद्र देवता निवास करते हैं। इन देवताओं की संज्ञा अनिकेत है। आदित्य, ऋभु, विश्वेदेवा, साध्य, पितर, ऋषि तथा अंगिरस ये देवता ग्रह-तारादिरूप विमानों में इसी लोक में रहते हैं।[2]

स्वर्लोक

ब्रह्माजी के स्वः कहने पर यह लोक उत्पन्न हुआ। यह लोक सूर्य से ऊपर ध्रुवतारे तक विस्तृत है। इसके मध्य में ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा और सप्तर्षिमण्डल हैं।[3]

महर्लोक

ब्रह्मा के महः कहने से यह लोक उत्पन्न हुआ। यहाँ पर कल्पपर्यन्त रहनेवाले कल्पवासी देवगण रहते है। इस लोक में सप्तर्षि, देवता, गन्धर्व, राक्षस, मनु, पितर, आदि निवास करते हैं। ये महर्लोकवासी देवता उपर्युक्त रूपों में भूर्लोक में समय-समय पर अवतरित होते हैं। यह लोक ध्रुव के ऊपर जनलोक तक व्याप्त है। नैमित्तिक प्रलय में अग्नि प्रदाह के कारण यह लोक जनशून्य हो जाता है।[4]

जनःलोक

ब्राह्मप्रलय में महर्लोक के रिक्त हो जाने पर उसके निवासी देवता जनःलोक में शरण लेते हैं। यहाँ पर आगामी कल्प में जन्म लेनेवाले ऋषि, देवता, मनु आदि निवास करते हैं।[5]

---

१. वायु० १०१।१८-२१।
२. वायु० १०१।१६-४०।
३. वायु० १०१।१६,२२,४१; विष्णु० २।७।५-१०।
४. वायु० १०१।३-६, २३,३३,४१,५३,५४,१३८; विष्णु० २।७।१२।
५. वायु० १०१।२४, ६३ ६४; विष्णु० २।७।१३।

तपोलोक

यहाँ पर सनक-सनन्दनादि ब्रह्मपुत्र तथा ऋभु आदि देवगण निवास करते हैं। वैराग्ययुक्त होने से ये 'वैराज' कहलाते हैं। ये सभी वैराजगण 'भूतदाह विवर्जित' हैं। यह लोक जनःलोक तथा सत्यलोक के मध्य में है।[1]

सत्यलोक

यह लोक ब्रह्माण्ड का शीर्षस्थ लोक है। इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। यहाँ पर अपुनर्मारक अर्थात् जन्ममृत्युरहित अमर देवगण निवास करते हैं।[2]

पुराणों के अनुसार छत्राकार रूप से स्थित इन सात लोकों की स्थिति आदि के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञानवेत्ता सन्देहशील हैं।

ससावरण

पुराणों में उपर्युक्त चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का विस्तार पचास करोड़ योजन बतलाया गया है। उसकी रचना मुख्यतः पृथ्वी महाभूत से निष्पन्न हुई है तथापि जल, अग्नि आदि महाभूत भी उसमें न्यूनाधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं।[3]

पुराणों के अनुसार यह ब्रह्माण्ड सात आवरणों से आवेष्टित है—घिरा हुआ है। पृथ्वीतत्त्व से निर्मित यह ब्रह्माण्ड बाहर की ओर से स्वयं की तुलना में दस गुने जलतत्त्व से घिरा हुआ है। यह जलावरण भी स्वयं की तुलना में दस गुने अधिक अग्नितत्त्व के आवरण से आवेष्टित है। इस प्रकार एक दूसरे से दस दस गुने बड़े वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व, अहंकारतत्त्व और महत्तत्त्व के आवरण एक दूसरे को घेरे हुए हैं। अन्त में अव्यक्त प्रकृति महत्तत्त्व को आवृत किये हुए है। यह अनन्त प्रकृति ब्रह्म में प्रतिष्ठित है किन्तु ब्रह्म स्वप्रतिष्ठित है।[4]

विष्णु पुराण में इन ससावरणों से आवृत ब्रह्माण्ड की उपमा, कपित्थ (कैथे) तथा नारिकेल (नारियल) से दी गयी है।[5] जिस प्रकार कैथ तथा नारियल के बीज तथा सारभाग इन फलों के बाह्यावरणों से आवृत रहते हैं उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी अव्यक्तादि से घिरा रहता है।

पुराणों का यह ससावरण सिद्धान्त वेदान्त में दशांगुल न्याय के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आवरण का दश-दश गुणित होना उसके दशांगुल अभिधान से प्रकट है।

---

१. वायु० १०१।२५, २६,३७,१४०; विष्णु० २।७।१४।
२. वायु० १०१।२७,१४१; विष्णु० २।७।१५।
३. भाग० ५।२०।३८; गरुड० १।५४।३।
४. भाग० ३।११।३६-४१; विष्णु० २।७।२२-२५, २६-३०; वायु० ५०।८१-८५।
५ विष्णु० २।७।२२ तथा १।२।६०।

कपित्थस्य यथा बीजं सर्वतो वै समावृतम्।
नारिकेलफलस्यान्तर्बीजं बाह्यदलैरिव॥

अनन्त ब्रह्माण्ड

पुराणों के अनुसार पूर्वोक्त चतुर्दश भुवनपर्यन्त विस्तृत ब्रह्माण्डों की संख्या करोड़ों से भी अधिक है।[1] और वे सम्पूर्ण क्षेत्र में फैले हुए हैं—बिखरे हुए हैं।

(अनन्त ब्रह्माण्डों की यह पौराणिक परिकल्पना हमारे देश सम्बन्धी सीमित दृष्टिकोण को प्रसारित करने के लिए एक उत्तम अंजनशलाका के समान है।

पिण्ड ब्रह्माण्ड

पुराणकारों ने मानवदेह (पिण्ड) को भी एक छोटे से ब्रह्माण्ड के रूप में कल्पित किया है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सप्त-सप्त द्वीप, सागर, लोक, पाताल, पर्वत, ग्रह आदि अवस्थित हैं उसी प्रकार मानवदेह के विभिन्न अंगोपांगों में इनकी परिकल्पना पुराणों ने की है।[2] इस प्रकार उन्होंने यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे की उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया है।

युग-विभाग

सप्तलोकों में प्रथमतः उत्पन्न यह भूलोक नाना प्रकार के परिवर्तनों का केन्द्र है। इस लोक में ही मनु, सप्तर्षि, भगवत् अवतार, प्रजापति तथा चक्रवर्ती नरेश आदि समय-समय पर अवतरित होते हैं। इस लोक में ही धर्मार्थकाम के साथ परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष की साधना सम्भव है।[3] प्रत्येक नैमित्तिक प्रलय में यह लोक नष्ट हो जाता है। प्रलयान्त में ब्रह्मा जी पुनः इसकी रचना करते हैं। यह नवरचित लोक एक कल्प तक व्यवस्थित रहता है। इन सहस्रयुगों में इस लोक की व्यवस्था के लिए मनु, सप्तर्षि आदि प्रधान पुरुष प्रत्येक चतुर्युग में उत्पन्न होते रहते हैं। पुराणों में कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि नाम के चार युगों का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है। इनके विधिवत् अध्ययन के पूर्व हम कुछ आवश्यक परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

कल्प

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि एक कल्प में एक सहस्र चतुर्युग होते हैं। मानवीय वर्ष गणना के अनुसार प्रत्येक चतुर्युग में ४३,२०,००० वर्ष (तेंतालीस

---

१. विष्णु० २।७।२७, २८ — अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटि-शतानि च॥

भाग० ११।१६।११

२. गरुड० २।२२।१-६५ — ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति शरीरे ते व्यवस्थिताः।
पातालभूधरालोकास्तथा द्वीपाः ससागराः।
आदित्याद्या ग्रहाः सर्वे पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः॥

३. भाग० १२।७।१५ — मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥

विष्णु० ६।१।१४ — पूर्ववत्।

लाख बीस हज़ार वर्ष) होते हैं तथा प्रत्येक कल्प में इससे हज़ार गुने वर्ष अर्थात् ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष)।[१]

मन्वन्तर

पुराणों के अनुसार एक कल्प में समान अन्तराल से चौदह मनु उत्पन्न होते हैं। दो मनुओं के बीच का अन्तर—मन्वन्तर कहलाता है। मानवीय कालमान से एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग अर्थात् तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं।[२]

सन्ध्या

दो मन्वन्तरों का सन्धिकाल सन्ध्या कहलाता है। एक सन्ध्या ३।७ चतुर्युग अर्थात् १८,५१,४२८ वर्ष की होती है। सूर्य सिद्धान्त नामक ज्योतिषग्रन्थ के अनुसार इस सन्धिकाल में जलप्रलय की अवस्था रहती है। पुराणों में इस जलप्लावन का उल्लेख नहीं मिलता।[३]

चतुर्दश मनु

पुराणों में अतीत अनागतकालीन चौदह मनुओं के निम्नांकित नाम प्राप्त होते हैं—

१. स्वायम्भुव मनु	८. सावर्णि
२. स्वारोचिष	९. दक्ष सावर्णि
३. उत्तम	१०. ब्रह्म सावर्णि
४. तामस	११. धर्म सावर्णि
५. रैवत	१२. रुद्र सावर्णि
६. चाक्षुष	१३. देव सावर्णि
७. वैवस्वत श्राद्धदेव	१४. इन्द्र सावर्णि[४]

इनमें से प्रथम सात मनु अतीत काल में उत्पन्न हो चुके हैं तथा शेष सात मनु भविष्य में उत्पन्न होंगे।

सम्प्रति श्राद्धदेव मनु का वैवस्वत नामक सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। पौराणिक काल गणना के अनुसार प्रथम मनु से लेकर आज तक (ई. सन् १९७० तक) कुल १,९७,२९,४९,०७० (एक अरब सत्तान्नबे करोड़ उनतीस लाख उनचास हज़ार सत्तर वर्ष) व्यतीत हो चुके हैं।

---

१. पुराणविमर्श — कालमानाध्याय।
२. विष्णु० १।३।२०-२१।
३. पुराणविमर्श — कालमानाध्याय, तथा उसमें उद्धृत—
सूर्यसिद्धान्त १।१८ — युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिप्रोक्तो जलप्लवः॥
४. भा० ८।१।११; विष्णु० ३।१-२।

पुराणों के अनुसार यह पृथ्वी भी इतनी ही पुरानी है।[1]

चतुर्युग

एक कल्प में सहस्र चतुर्युग होते हैं तथा एक चतुर्युग में चार युग। उनके नाम हैं—कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग।[2]

कलियुग चार लाख बत्तीस हजार वर्ष का होता है। द्वापर इससे दूना, त्रेता तिगुना तथा कृतयुग इससे चौगुना होता है। पुराणों के अनुसार ये चार युग केवल भारतवर्ष में ही होते हैं तथा इनकी प्रवृत्ति भ्रममाण चक्र के समान एक के बाद एक के क्रम से होती है।[3]

पुराणों में बहुधा स्वायम्भुव एवं वैवस्वत मन्वन्तरों से सम्बद्ध चतुर्युगों का वर्णन विशदता से प्राप्त होता है। शेष मन्वन्तरों तथा उनके चतुर्युगों का निर्देश मात्र प्राप्त होता है। हम भी इनका संक्षिप्त विवरण यथास्थान प्रस्तुत करेंगे। सम्प्रति कृतादि युगों का वर्णन क्रम प्राप्त है।

कृतयुग

इस युग को सत्ययुग के नाम से भी स्मृत किया गया है। इस युग में सत्य, दान, तप तथा दयात्मक चतुष्पाद धर्म की प्रवृत्ति रहती है। कुछ उल्लेखों के अनुसार इस युग में सत्य धर्म की प्रधानता रहती है। इस युग के निवासी मानव पूर्णतः सन्तुष्ट, ज्ञानवान् तथा दीर्घजीवी होते हैं। आद्य कृतयुग तथा अन्तिम कलियुग को छोड़कर शेष ९९९ चतुर्युगों का स्वरूप समान रहता है। इस युग में पाप-पुण्य तथा वर्ण-आश्रम रूप धर्म-अधर्म का ज्ञान लोगों को नहीं रहता।[4]

आद्य कृतयुग

वायुपुराण के अनुसार कल्प के प्रथम कृतयुग में सत्यसंकल्प ब्रह्मा ने अपने मुख से एक सहस्र मिथुन उत्पन्न किये। ये मिथुन सत्त्वगुण प्रधान थे। इसके पश्चात् ब्रह्मा ने अपने वक्ष, जंघा तथा पैरों से एक-एक सहस्र मिथुन क्रमशः उत्पन्न किये। वे मिथुन क्रमशः रजः, रजस्तम तथा तमःप्रधान थे। इन मिथुनों को जीवनान्त में

---

१. पुराण विमर्श, पृ० २६८।

२. विष्णु० ६।१।५ — कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।

३. वायु० ३२।१,७ — चत्वारि भारते वर्षे युगानि मुनयो विदुः। कृतं त्रेता द्वापरं च युगाख्यः कलिना सह। परिवर्तमानैस्तैरेव भ्रममाणेषु चक्रवद्॥
पुराण विमर्श — कालमानाध्याय।

४. गरुड० १।२१५।५-६, विष्णु० ६।१।६-७ — कृते धर्मश्चतुष्पाच्च सत्यं दानं तपो दया।
वायु० ८।६१ — अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः। वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः॥

केवल एक शिशु मिथुनरूप सन्तति की उपलब्धि होती थी क्योंकि उस समय स्त्रियों में मासिक धर्म का अभाव था।[1]

उस समय इस पृथ्वी पर उन मिथुनों के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राणी नहीं थे। न तो पशु-पक्षी-कीट सरीसृप ही थे और न कन्द-मूल फल-पुष्प-पत्रवाली वनस्पतियाँ ही। पृथ्वी से उत्पन्न रस ही उनका आहार था। धर्माधर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुख आदि द्वन्द्व उस समय नहीं थे। वे पूर्ण सन्तुष्ट युगल-दम्पत्ति (मिथुन) नदी, पर्वत, जलधि, तडागादि पर स्वच्छन्द विचरण करते थे। उस समय पृथ्वी पर ऋतु चक्र का सर्वथा अभाव था। सदैव एक रस ऋतु व्याप्त थी। इस कारण घर-द्वार आदि भी लोगों ने नहीं बनाये थे। ग्राम-नगर सभ्यता भी उस समय नहीं थी और न इनकी मूलाधार परिवार की संस्था ही। वे मिथुन दम्पति साथ-साथ उत्पन्न होते और एक साथ मृत्युका वरण करते थे। वे महास्वच्छन्द, महाबली और महादीर्घायु थे। उस समय उनकी पूर्णायु चार हजार वर्ष की थी।[2]

पुराणों का यह आद्य कृतयुग का वर्णन जैनों के भोगभूमि के वर्णन से पूर्णतः साम्य रखता है।

त्रेतायुग

इस युग में कृतयुग की व्यवस्था एवं श्रेष्ठता की अवनति होती है। कृतयुग का चतुष्पादधर्म इस युग में त्रिपाद ही रह जाता है। लोगों की प्रवृत्ति मुख्यतः यज्ञधर्म की ओर रहती है। राज्य संस्था का उदय अब हो जाता है। लोग ग्राम-नगर बसाकर स्थायी रूप से बस जाते हैं। इस समय लोगों की पूर्णायु एक अथवा तीन हजार वर्ष होती है। इस युग के प्रारम्भ में मन्त्र-द्रष्टा सप्तर्षि श्रौत-स्मार्त धर्म का प्रवर्तन करते हैं। यज्ञ, वेद, वर्ण आदि की व्यवस्था भी इस युग में की जाती है।[3]

आद्य त्रेतायुग

आद्य कृतयुग की भाँति इस युग की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। आद्यकृत-युग की प्राकृतिक व्यवस्थाएँ इस युग में तेजी से परिवर्तित होती हैं। ऋतुरहित पृथ्वी पर पहली बार वर्षा का प्रादुर्भाव होता है और पृथ्वी पर पहली बार वृक्षादि वनस्पतियाँ अपने आप उगने लगती हैं। इस युग के प्राणियों के जीवनाधार कल्पवृक्ष होते हैं लेकिन धीरे-धीरे उनका भी ह्रास होने लगता है और लोग कृषि की ओर उन्मुख होते हैं। कृषि के साथ ग्राम-नगर की सभ्यता भी जन्म ले लेती है और उसकी व्यवस्था के लिए राजन्य वर्ग।

स्त्रियाँ अब प्रतिमास रजस्वला होने लगीं और मिथुन शिशु की उत्पत्ति की प्राकृत व्यवस्था भी भंग हो गयी। अब बालक एवं कन्या का जन्म पृथक्-पृथक् होने

---

१. वायु० ८।२९-४६। २. वायु० ८।५७-६७। ३. वायु० ५७।३६-४१,६०,६१,८३; गरुड० १।२१५।८,९।

कथा। सम्भवतः इसी व्यवस्था अंश को पुराणों ने ब्रह्मा के शरीर विभाजन द्वारा, एक स्त्री (शतरूपा) तथा एक पुरुष (स्वायम्भुव मनु) की उत्पत्ति द्वारा अभिव्यक्ति दी है। वायु पुराण के अनुसार चूंकि आद्य त्रेता में ही ये दोनों घटनाएँ हुई थीं अतः उनको अभिन्न मानने में अधिक आपत्ति भी नहीं होती।[1]

वायुपुराण के अनुसार इस आद्य त्रेता में ब्रह्मा ने देव, असुर, पितर, ऋषि, पशु-पक्षी, सरीसृप, कीट-पतंग, वृक्ष, नारकी आदि जीवयोनियों की भी प्रथमतः सृष्टि की थी। वेद यज्ञ को भी इसी समय रचा था। भृगु-मरीचि आदि सप्तर्षि एवं प्रजापति भी इसी युग में उत्पन्न किये थे। तथा अन्त में कार्य-विभाजन से मनुष्यों के पूर्वज मनु और शतरूपा की सृष्टि की थी।[2]

वायुपुराण का यह वर्णन जैनों के आद्य कर्मभूमि के वर्णनों से बहुधा साम्य रखता है।

द्वापरयुग

इस युग में धर्म का और भी ह्रास होता है। अब वह केवल द्विपाद शेष रह जाता है। मनुष्यों की आयु भी केवल दो हजार अथवा चार सौ वर्ष शेष रह जाती है। लोगों में रजस्तमात्मक लोभ, अधैर्य, युद्ध, वर्णभेद, दम्भ, भय, मद, अक्षमा आदि प्रकृतियाँ दिनानुदिन बढ़ती जाती हैं।[3] शेष व्यवस्थाएँ पूर्ववत् रहती हैं।

कलियुग

इस युग में धर्म का ह्रास होकर निर्दयता तथा दुराचार का ही बोलबाला रहता है। रोग, भय, मृत्यु, क्षुत्पिपासा की भयंकरता इस युग की प्रमुख विशेषता है। पुराणों के अनुसार इस युग के अन्त में मनुष्यायु केवल २५ वर्ष शेष रह जायेगी।[4]

अन्त्य कलियुग

अन्य कलियुगों से इस कलियुग की यही एक विशेषता है कि इसके अन्त में प्राकृत प्रलय हुआ करता है।[5] और सम्पूर्ण सृष्टि अपने आदि कारण में विलीन हो जाती है। अन्य कलियुगों की भाँति इस युग में भी धर्म का लोप, अधर्म का प्राबल्य, सर्ववर्णों की शूद्रप्राय प्रवृत्ति, स्त्रियों में दुराचरण तथा शक्तिशालियों में प्रमाद की अति होती है।

स्वायम्भुव मन्वन्तर

सृष्टि के आद्य त्रेतायुग में ब्रह्मा ने अपने देह-विभाजन से जिस आद्य मनुष्य की सृष्टि की थी, पुराणों में वह स्वायम्भुव मनु के नाम से विख्यात है। सृष्टि के आरम्भ

---

१. वायु० ८।७६–२०१; वायु० ९।१–७६। २. वायु० ८.६ पूर्वोक्त। ३. गरुड० १।२१५।१०; वायु० ५८।१-४,२८। ४. गरुड० १।२१५।२३; विष्णु० ६।१; वायु० ५८।३३, ३४, ६५।
५. विष्णु० ६।१७ क्रियते चोपसंहारस्तस्यान्ते च कलौ युगे।

में उन्होंने सप्तर्षियों के साथ मिलकर श्रौत-स्मार्त धर्म का प्रवर्तन किया था। मरीचि, अत्रि आदि सप्तर्षि श्रुति धर्म अर्थात् वेदयज्ञमय धर्म के प्रवर्तक थे जब कि स्वायम्भुव मनु वर्णाश्रमादि रूप स्मार्त धर्म के आद्य संस्थापक थे।

पुराणों के अनुसार प्रत्येक मनु के समकालीन पाँच अधिकारी होते हैं जो कि उस मन्वन्तर के लिए धर्म का प्रवर्तन करते हैं।

स्वायम्भुव मन्वन्तर के इन अधिकारियों का वर्णन पुराणों में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

१. मनु	स्वायम्भुव
२. सप्तर्षि	मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु एवं वसिष्ठ
३. इन्द्र	यज्ञ
४. देवगण	याम
५. मनुपुत्र	प्रियव्रत, उत्तानपाद तथा इनके वंशज— आग्नीध्र, नाभि, ऋषभ, भरत, ध्रुव, उत्तम, रैवत, तामस आदि[१]

वैवस्वत मन्वन्तर

स्वायम्भुव मन्वन्तर के पश्चात्कालीन उत्तम, तामस, रैवत आदि मन्वन्तरों का वर्णन पुराणों में वैशद्यपूर्वक उपलब्ध है। यहाँ पर प्रवर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के अधिकारियों का निर्देश मात्र किया जाता है।

१. मनु	वैवस्वत अथवा श्राद्धदेव
२. सप्तर्षि	कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि एवं भारद्वाज
३. इन्द्र	पुरन्दर
४. देवगण	आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्, विश्वेदेव, ऋभु, अश्विनी कुमार
५. मनु पुत्र	इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति आदि

पुराणों मे सावर्णि आदि अनागतकालीन मन्वन्तर के अधिकारी पुरुषों के सम्बन्ध में भी भविष्यवाणी की गयी है। पुराणों में उनका वर्णन विशदता से किया गया है।[३]

●

१. विष्णु० २।४; भाग० ५।१; अग्नि० १०७; गरुड० १।८७। ३. विष्णु० ३।१; भाग० ८।१३।

चतुर्थ खण्ड

विकासवाद एवं तुलनात्मक अध्ययन

विकासवाद

विकासवादी दर्शन

इतिहास की दृष्टि से विकासवाद एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। प्राचीन भारत तथा यूनान के अनेक दार्शनिकों ने इसका प्रतिपादन अपने-अपने ढंग से किया है। भारत के सांख्याचार्य इस सम्पूर्ण भौतिक जगत् को एकमेव भौतिक प्रकृति की अभिव्यक्ति अथवा विकास बतलाते हैं। उपनिषद्कार भी एकमेव अद्वितीय ब्रह्म से विश्वतत्त्वों के विकसित होने की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं। यूनानी दर्शन के पिता थेलीज के अनुसार इस प्राकृत विश्व का विकास जलतत्त्व से हुआ है। थेलीज की भाँति एनेक्जिमिनीज वायुतत्त्व से तथा हिरैक्लिटस अग्नितत्त्व से विश्व के विकसित होने का मत प्रतिपादित करते हैं। इन तीन मतों से थोड़ा हटकर एनेक्जिमेंडर ने असीम भौतिक प्रकृति से विश्व-विकास का मत प्रतिपादित किया है। एम्पैडोक्लीज के अनुसार पशु-पक्षी आदि जन्तु, तृण-वृक्ष आदि वनस्पतियों के पश्चात् विकसित हुए थे।[1]

यदि भारत और यूनान के उपर्युक्त प्राचीन दर्शनों को छोड़ दिया जाये तो आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त मुख्यतः लिनौस, बफन, एरैस्मस डार्विन, लामार्क तथा चार्ल्स डार्विन एवं उनके अनुयायियों के अध्ययन-अन्वेषण का परिणाम है।[2] इन विद्वानों के अध्ययन-अन्वेषण का क्षेत्र मूलतः जीवशास्त्र था। इस क्षेत्र में किये गये अन्वेषणादि के आधार पर उन्होंने बतलाया कि इस विश्व में पायी जानेवाली असंख्य जीवजातियों का विकास उनकी पूर्ववर्ती जीव-जातियों से हुआ है। ये जीव-जातियाँ अपेक्षाकृत नयी जीव-जातियों से, संरचना में सरल तथा संख्या में स्वल्प थीं। इसका स्पष्ट आशय यह कि अत्यन्त पुरातनकाल में इस पृथ्वी पर अत्यन्त सरल दैहिक एवं मानसिक संरचनावाली केवल थोड़ी-सी जीव-जातियाँ अथवा प्रोटोप्लाज्म नामक जीवित द्रव्य विद्यमान था। वह जीवद्रव्य उपर्युक्त जीव वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित आनुवंशिकता, परिवर्तन, प्राकृतिक चयन, विलोलन (फ्लक्चुएशन) तथा उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) आदि सिद्धान्तों के अनुसार कालान्तर में अपेक्षाकृत अधिक जटिल

---

१. मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०६।
   पाश्चात्य-दर्शन, पृ० २-४।

२. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २६२।
   मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०६।

संरचनावाले कीट-पतंग, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी तथा मानव आदि जीवों के रूप में विकसित हुआ। उनके अनुसार वह आज भी निरन्तर विकास के पथ पर आरूढ़ है।[1] अस्तु।

जीवजातियों के उपर्युक्त विकास सिद्धान्त के प्रचलन के पूर्व इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त विश्व में प्रचलित था उसे हम सृष्टिवाद या सृष्टि सिद्धान्त का नाम दे सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर, खुदा अथवा ब्रह्मा ने विश्व के पदार्थों एवं जीवधारियों की सृष्टि, सृष्टि के प्रारम्भ में की थी। तब से लेकर आज तक वे पदार्थ एवं जीवधारी प्रायः उसी रूप में विद्यमान हैं। न तो उनके आकार-प्रकार अथवा रूप में ही कोई परिवर्तन हुआ है और न विकास ही। आज जिस रूप में नदी, पर्वत, द्वीप आदि भौतिक पदार्थ तथा पशु-पक्षी, मनुष्य आदि जीव-जातियाँ विद्यमान हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में भी वे उसी रूप में विद्यमान थीं। नदी-पर्वतादि भौतिक पदार्थ तो यथावत् बने हुए हैं किन्तु पशु-पक्षी-मनुष्य आदि जीव-जातियाँ वंशपरम्परा के द्वारा बदलती रही हैं। तथापि उनके प्राचीन रूप ज्यों के त्यों बने हुए हैं। जब कि विकासवाद के अनुसार प्राचीन जीव एवं जागतिक पदार्थ निरन्तर अपना रूप बदलते हुए विकसित होते रहे हैं। विकास की इस भाग-दौड़ में उनके प्राचीन रूप इतने अधिक परिवर्तित हो चुके हैं कि उन्हें उनके नवीन रूपों में पहचानना भी असम्भव नहीं तो महाकठिन अवश्य हो गया है।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वोक्त डार्विन प्रभृति जीवशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित यह विकास सिद्धान्त अपनी नवीनता तथा प्रामाणिकता के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। फलस्वरूप केवल जीवशास्त्र ही नहीं वरन् भूगोल, भूगर्भ, नृतत्त्व, ब्रह्माण्डिकी, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्म व भाषाशास्त्र आदि समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञानों की व्याख्या उसके अनुसार की जाने लगी। इतना ही नहीं इस बीसवीं सदी में भी वह सिद्धान्त विश्व-विवेचना का सर्वोच्च सिद्धान्त बना हुआ है।

ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों के समान दार्शनिक क्षेत्र में भी विकास सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हुई। इस क्षेत्र में इस सिद्धान्त का केवल निष्क्रिय वरण मात्र ही नहीं किया गया अपितु उसे सुविचारित सुदृढ़ दार्शनिक आधार देने के प्रयास भी किये गये। इस दिशा में सेमुअल अलेक्जेण्डर, लायडमार्गन, जनरल स्मट्स तथा ह्वाइटहैड प्रभृति दार्शनिकों के प्रयास उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने विज्ञान द्वारा प्रतिपादित तथ्यों का उपयोग करते हुए विश्व के मूलतत्त्व तथा अज्ञात-अतीत एवं अनागत-भविष्य के सम्बन्ध में अनेक परिकल्पनाएं प्रस्तुत की हैं। उनमें से कुछ का सार यहाँ प्रस्तुत है।

---

१. विकासवाद,
   जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २६३-६४।
   मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ४-५ तथा १०५।
२. विकासवाद, पृ० १
   मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०५-६।

जनरल स्मट्स के अनुसार इस सृष्टि का अन्तिम तथ्य भौतिक वस्तुएँ हैं जो कि देश-काल में अन्योन्य सम्बन्ध के साथ अवस्थित हैं। इन वस्तुओं से भरे इस विशाल ब्रह्माण्ड में प्रतिक्षण घटित होनेवाली अगणित घटनाएँ एक सुनिश्चित क्रम में घटित हो रही हैं। स्मट्स के अनुसार इन घटनाओं का संचालन सूत्र किसी विश्वात्मा अथवा ईश्वर के हाथ में नहीं है वरन् जड़ और चेतन सभी पदार्थों में विद्यमान सृजनात्मकता ही इस सुनियोजित ब्रह्माण्डीय कार्य प्रणाली का हेतु है। उसके अनुसार इस स्वाभाविक सृजनात्मकता का अन्तिम उद्देश्य—पूर्णता को प्राप्त करना है। लेकिन यह विश्व अभी तक पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है तथापि पूर्णता की ओर वह निरन्तर गतिमान है। सृष्टि के प्रारम्भ में देश-काल में स्थित वस्तुएँ अन्तर्निहित सृजनात्मकता के कारण पूर्णत्व प्राप्ति की ओर अग्रसर हुई थीं। उनके इस अभियान में—पूर्णत्व प्राप्ति की यात्रा में, उनसे जीवन और मन क्रमशः विकसित हुए जो कि और भी विकसित होने के लिए विकासपथ पर आरूढ़ हैं। पूर्ण विकास ही उनका अन्तिम लक्ष्य है।[१]

जनरल स्मट्स का यह मत पूर्णाभिमुख विकासवाद (होलिस्टिक इवोल्यूशन) के नाम से दार्शनिक जगत् में विख्यात है।

उद्भूयमान विकासवाद (इमर्जेण्ट इवोल्यूशन) के प्रवर्तक सेमुअल अलेक्जेण्डर तथा लायडमार्गन के अनुसार इस सृष्टि का मूल तत्त्व देश-काल है। प्रारम्भ में केवल एक यही विद्यमान था। फिर उससे समस्त सत् वस्तुओं की उत्पत्ति हुई। सबसे पहले आकृति एवं संख्या आदि प्रारम्भिक गुण देश-काल की संरचना के भीतर उत्पन्न हुए। फिर इन्हीं गुणों से धीरे-धीरे वस्तु (मेटर) तथा उपवस्तु (सबमेटर) की उत्पत्ति हुई। इसी क्रम में आगे चलकर जीवन तथा मन भी उससे क्रमशः विकसित हुए।

इस मत के प्रवक्ताओं के अनुसार ब्रह्माण्ड विकास की पूर्वोक्त प्रक्रिया मनुष्य के उच्चतर स्तर पर पहुँच चुकी है। लेकिन मनुष्य पर आकर ही वह थम नहीं जायेगी वरन् मनुष्य से भी ऊँची देवता की मंजिल उसकी आगामी मंजिल होगी। आज का मानव कल के दिन विकसित होकर देवता बनने जा रहा है।[२]

अलेक्जेण्डर प्रभृति के इस मत की आलोचना में डॉ. एस. राधाकृष्णन् कहते हैं—"इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि प्रारम्भ में देश-काल की एक ऐसी आदिम व्यवस्था थी जिसमें मूर्त अनुभव की समस्त समृद्धि का अभाव था और जिससे किसी न किसी रूप में उसका उद्भव हुआ है। यदि देश-काल अन्तिम तथ्य है तो हम नहीं जानते कि उसका स्वरूप क्या है?....देश-काल से भौतिक वस्तु का उद्भव कैसे हो सकता है, यह समझना कठिन है।"[3] पुनः इस बात का भी क्या भरोसा किया जा सकता है कि

---

१. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. ३३५-३६।
दे०—जनरल स्मट्स 'होलिज्म एण्ड इवोल्यूशन' ई. १९२६।
२. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. ३३९-४३। ३. वही, पृ. ३४०।

आज का मनुष्य कल का देवता ही बनेगा और यदि वह देवता बन भी गया तब विकास की प्रक्रिया का क्या होगा ?

ह्वाइटहेड महोदय ने विश्व विकास के सन्दर्भ में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह आन्तरिक विकासवाद (इनर-इवोल्यूशन) के नाम से विख्यात है। पूर्वोक्त अलेक्जेण्डर आदि के मत से भिन्न इनके मत में सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान देश-काल में उससे उद्भूत होनेवाली वस्तुएँ भी आन्तरिक रूप से विद्यमान मानी गयी हैं। देश-काल में बीजरूप से विद्यमान यही वस्तुएँ कालक्रम से जगत्, जीवन तथा मन के रूप में विकसित होती हैं।[1]

विश्व विकास के ये तीन सिद्धान्त अपनी बारीकियों में चाहे जितने मतभेद रखें किन्तु उन सबकी मौलिक मान्यताएँ एक समान हैं। वे सब इस बात पर सहमत हैं कि प्रारम्भ में अचेतन देश-काल अथवा उसकी भौतिक पदार्थगर्भित-अवस्था विद्यमान थी। जिससे कालान्तर मे जागतिक पदार्थ, जीवन तथा मन का विकास हुआ। तथा आगे भी जितना विकास होगा वह सब वस्तुतः इसी एक अचेतन तत्त्व का विकास कहलायेगा। इस प्रकार विकासवादी दार्शनिक जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं वे सब तात्त्विक रूप से जड़वादी हैं।

विकासवादी दर्शन के इस विवरण को प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हम ब्रह्माण्ड, पृथ्वी तथा जीवन के उद्भव एवं विकास के सन्दर्भ में वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत करेंगे।

ब्रह्माण्ड का उद्भव एवं विकास

विज्ञान जगत् मे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति (उद्भव) के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन सिद्धान्त प्रचलित है—

१. स्थिरदशा सिद्धान्त; २. विस्फोट सिद्धान्त; ३. स्पन्दमान सिद्धान्त।

स्थिरदशा सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक है ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध खगोलविद् श्रीयुत् फ्रेड हायल। उनके मतानुसार यह ब्रह्माण्ड सदा से अस्तित्ववान् रहा है। सदा से फैलता रहा है तथा कालान्तर में परिवर्तित नहीं होता। जब आकाशगंगाएँ एक दूसरे से काफ़ी दूर तक हट जाती हैं तो रिक्त स्थान में हाइड्रोजन की उत्पत्ति हो जाती है। यह हाइड्रोजन उस रिक्तता को भरती रहती है।

इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड निरन्तर फैलता जा रहा है और चिरकाल से उत्पन्न भी होता जा रहा है। ब्रह्माण्ड वस्तुतः अनन्त और चिरजीवी है। न तो उसका आदि है और न अन्त ही। पुराणों की शब्दावली में—न तो इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है और न उसका संहार ही सम्भव है। एक प्रकार की स्थिर दशा उसमें सदैव विद्यमान रहती है।

---

१. वही, पृ. ३४४-४६।

श्रीयुत् फ्रेड हॉयल के इस सिद्धान्त में से यदि ब्रह्माण्ड की निरन्तर प्रसरणशीलता तथा हाइड्रोजन की उत्पत्ति के वैज्ञानिक तथ्य निकाल दिये जायें तो भी सिद्धान्त बना रहेगा, वह जैनों के अनादि-अनन्त स्थिर विश्व के सिद्धान्त से अभिन्न होगा। लेकिन ऐसा करना असंख्य खगोलविदों के प्रयासों एवं वैज्ञानिक सत्यों पर पानी फेर देने के अतिरिक्त कुछ न होगा।

विस्फोट सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रवक्ता हैं कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध खगोलज्ञ श्रीमान् राइल महोदय। उनकी धारणा है कि ब्रह्माण्ड का जन्म एक हजार करोड़ वर्ष पहले, अत्यन्त सघन पदार्थों के अभूतपूर्व महाभयंकर विस्फोट के साथ हुआ था तथा उस विस्फोट के फलस्वरूप असंख्य ताराओं तथा आकाशगंगाओं की सृष्टि हुई थी। ये तारागण एवं आकाशगंगाएँ उस महास्फोट से उत्पन्न ऊर्जा से ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र से उसकी परिधि की ओर निरन्तर बढ़ी जा रही हैं। ब्रह्माण्ड की प्रसरणशीलता का रहस्य उनके अनुसार इसी विस्फोट में छिपा हुआ है।

इस विस्फोट सिद्धान्त के समर्थक कुछ खगोलज्ञों की यह मान्यता है कि जब ब्रह्माण्ड के निरन्तर फैलाव की गति अवरुद्ध हो जायेगी तब गुरुत्वाकर्षण के कारण समस्त आकाशीय तारे एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होकर टकरा जायेंगे। तब इस भयंकर टक्कर के फलस्वरूप यह ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जायेगा।

स्पन्दमान सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का एक अन्य नाम दोलन सिद्धान्त भी है। इसके प्रवर्तक वैज्ञानिक हैं श्रीमान् विल्सन तथा ऐलन सैंडेज महोदय। ये वैज्ञानिक-द्वय भी उपर्युक्त सिद्धान्त को थोड़े से संशोधन के साथ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार पूर्वोक्त भयंकर विस्फोट के कारण तारे फैलते जा रहे हैं किन्तु प्रसरण गति जब क्षीण हो जायेगी तब वे सब तारे लौटकर तथा संकुचित होकर अत्यन्त सघन पदार्थ की सृष्टि करेंगे। यह सघनित पदार्थ तत्काल ही विस्फोट के साथ फिर से फैल जायेगा जिससे पहले के ही समान प्रसरणशील ब्रह्माण्ड फिर से उत्पन्न हो जायेगा।

वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं प्रलय का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। उनके अनुसार इस चक्र के पूरे होने की अवधि आठ हजार करोड़ वर्ष है। इसमें से चार हजार करोड़ वर्ष तक यह ब्रह्माण्ड निरन्तर फैलता रहता है। उसके पश्चात् इतने ही वर्षों में वह संकुचित होकर अपनी पूर्व अवस्था में आ जाता है। जिस प्रकार, दिवस व रात्रि के प्रवर्तन के अनुसार कमल का फूल विकसित एवं संकुचित होता रहता है उसी प्रकार यह लोकपद्म भी निश्चित कालावधि में फैलता एवं सिकुड़ता रहता है।

सम्प्रति ब्रह्माण्ड के केन्द्र में विस्फोट हुए एक हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यह महान् समयान्तर ही वर्तमान सृष्टि की गतायु है।[1]

ब्रह्माण्ड का विकास

ब्रह्माण्ड के उद्भव के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त और भी मत प्रस्थापित करके मतभेद बढ़ाये जा सकते हैं किन्तु ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में एक बात ऐसी भी है जो मतभेद की किंचित् भी अपेक्षा नहीं रखती। वह बात है—ब्रह्माण्ड की निरन्तर प्रसरणशीलता। यह ब्रह्माण्ड अपने केन्द्र के चारों ओर निरन्तर फैलता जा रहा है—फैलता जा रहा है। इसे कोई भी व्यक्ति अपनी आँखों से खगोलज्ञों की अनुसन्धानशालाओं में जाकर देख सकता है।

इस निरन्तर बृंहित होनेवाले ब्रह्माण्ड के गर्भ में क्या-क्या भरा पड़ा है? इसे देखने का प्रयास अब हम करेंगे तो लीजिए हम अपना कार्य अपनी पृथ्वी से ही क्यों न प्रारम्भ करें।

पृथ्वी

जिस पृथ्वी पर हम निवास करते है, वैज्ञानिकों के अनुसार वह एक ग्रह है। इस ग्रह का व्यास क़रीब आठ हजार मील है और यह हमारे सौरमण्डल का एक नन्हा-सा सदस्य है।

सौरमण्डल

पृथ्वी के अतिरिक्त मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, यम, वरुण आदि ग्रहों तथा सूर्य को मिलाकर सौरमण्डल का निर्माण होता है। सौर मण्डल के ये ग्रह निरन्तर सूर्य की परिक्रमा मण्डलाकार में कर रहे हैं। सूर्य इन सबके परिभ्रमण का अचर केन्द्र है। वह हमारी पृथ्वी से औसतन ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर स्थित है तथा पृथ्वी की तुलना में करीब १३ लाख गुना बड़ा है। यदि सूर्य के समस्त ग्रहपिण्डों की पदार्थ राशि एकत्र कर ली जाये तो वह भी सूर्य की समता नहीं कर सकती। सूर्य की तुलना में यह समस्त राशि उसका केवल ७४५वाँ अंश होगी।[2]

हमारा सूर्य एवं उसका विशाल ग्रहमण्डल हमारी आकाशगंगा की विशाल परिधि में एक बिन्दु के समान है।

आकाशगंगा

सूर्य तथा उससे भी महान् आकारवाले करीब ४० अरब ताराओं द्वारा हमारी आकाशगंगा का निर्माण हुआ है। इस आकाशगंगा का व्यास एक लाख प्रकाश वर्ष

---

१. डॉ० अरविन्द मोहन—"अद्वितीय तारे क्वासर और ब्रह्माण्ड का रहस्य" धर्मयुग, (२० अप्रैल १९६९) पृ० २६ पर प्रकाशित। डॉ० मोहन के उपर्युक्त लेख के आधार पर ब्रह्माण्डोत्पत्ति के ये तीनों सिद्धान्त इस प्रबन्ध में प्रस्तुत किये गये हैं।

२. सूरज-चाँद-सितारे—पृ० १०,१७, २३,२४।

है।[1] इस विस्तार का अनुमान इतने से ही लगाया जा सकता है कि हमारे सूर्य से सर्वाधिक निकट का तारा क़रीब साढ़े चार प्रकाशवर्ष (२६६ खरब मील) की दूरी पर स्थित है।[2] पुनश्च, आकाशगंगा के अनेक तारे इससे भी अधिक दूरियों पर स्थित हैं।[3] ये सब तारे स्थिर नहीं हैं वरन् सौरमण्डल के ग्रहों की तरह आकाश-गंगा के केन्द्र बिन्दु की परिक्रमा करते हैं। सूर्य भी इस परिक्रमण में सम्मिलित है। वह २२५ किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति से इस आकाशगंगा की परिक्रमा २० करोड़ वर्ष में कर पाता है।[4] हमारी यह विराट् आकाशगंगा एकचारिणी नहीं है वरन् उन्नीस आकाशगंगाओं के मन्दाकिनी समूह की एक सदस्या है—यूथचारिणी नीहारिका है।

अनन्त आकाशगंगाएँ

उपर्युक्त आकाशगंगा तथा मन्दाकिनी समूह-जैसे असंख्य समूह इस विराट् विश्व के क्रोड में खेल रहे हैं।[5] उनकी संख्या और सीमा गणित का विषय नहीं फिर भी वैज्ञानिकों ने जो कुछ भी इस असीम ब्रह्माण्ड में देखा उसकी झलक इस प्रकार है—

कुछ आकाशगंगाएँ एकचारिणी हैं अर्थात् समूह बनाकर नहीं रहतीं जब कि अनेक आकाशगंगाएँ यूथचारिणी हैं अर्थात् दस-पन्द्रह से लेकर सहस्रों तक के झुण्ड बनाकर इस सीमारहित गगन में विचरण करती हैं।[6]

हमारी आकाशगंगा यूथचारिणी है। उसमें देवयानी, कालिय, शिल्पी, त्रिकोण, तारामण्डल आदि नामवाली उन्नीस आकाशगंगाएँ हैं। हमारी आकाशगंगा इन सबसे घिरी हुई है। वैज्ञानिकों के अनुसार इस मन्दाकिनी समूह ने जितना स्थान आकाश में घेर रखा है वह दस लाख 'पारसेक' है।[7] हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि एक पारसेकमें १९२ खरब मील होते हैं।

लेकिन इससे भी अधिक विस्मयकारक तथ्य है—दो मन्दाकिनी गुच्छों की आपसी दूरी। हमारे मन्दाकिनी गुच्छक से सर्वाधिक निकटस्थ क्षुद्र मन्दाकिनी गुच्छक २५ लाख तथा बृहत् मन्दाकिनी गुच्छक एक करोड़ पारसेक की दूरी पर स्थित है। इस बृहत् गुच्छक में एक हजार से अधिक दृश्य मन्दाकिनियाँ वैज्ञानिकों ने खोज निकाली हैं।[8]

जिस दो सौ इंच व्यासवाले लैंस से युक्त, पालोमर दूरबीन से वैज्ञानिकों ने उपर्युक्त ज्योतिर्जगत् की खोज की है, उसकी दर्शन क्षमता एक अरब पारसेक है किन्तु

---

१. प्रकाशवर्ष—५९,००,००,००,००० मील (उनसठ अरब मील)।

२. सूरज-चाँद-सितारे—पृ० १३। ३. वही, पृ० १४। ४. वही, पृ० १४।
ज्योतिष की पहुँच, पृ० २२६।

५. वही, पृ० २७१।

६. ज्योतिष की पहुँच, पृ० २७१। ७. वही, पृ० २७१-७२। ८. वही, पृ० २७४।

४० करोड़ पारसेक की दूरी पर स्थित वासुकि तारामण्डल तक ही वैज्ञानिकगण देख पाते हैं क्योंकि उससे आगे का आकाश शून्यमय है। वहाँ पर किसी भी प्रकार का तारा, तारामण्डल, आकाशगंगा या मन्दाकिनी समूह नहीं है।[1]

शून्याकाश के इस तथ्य से जैनों की सीमित विश्व की परिकल्पना को बल प्राप्त होता है। जिसके अनुसार चौदह राजु लम्बे तथा ३४३ राजु घनफलवाले लोक के बाहर पदार्थरहित विशुद्ध आकाश (अलोकाकाश) विद्यमान है।

प्रसरणशील ब्रह्माण्ड

आधुनिक ब्रह्माण्डिकी का सबसे रोचक तत्त्व है—विश्व की प्रसरणशीलता। हमारा ब्रह्माण्ड दिन दूना रात चौगुना की अबाध गति से प्रति क्षण फैलता जा रहा है। कौन जानता है आकाश के किस बिन्दु तथा काल की किस सीमा तक उसका प्रसरण होगा ?

ब्रह्माण्ड का यह प्रसरण हमारे मन्दाकिनी समूह से क़रीब पाँच लाख पारसेक की दूरी से प्रारम्भ होता है। इस प्रसरण में हमारी आकाशगंगा से अपेक्षाकृत दूर की मन्दाकिनियाँ अधिक तीव्रता से फैलती जा रही हैं—

हमसे ५ लाख पारसेक की दूरी पर स्थित मन्दाकिनी ८० मील प्रति सेकेण्ड की गति से दूर भागती जा रही है जब कि सर्वाधिक दूरी (४० करोड़ पारसेक) पर स्थित वासुकि तारामण्डल प्रति सेकेण्ड ३८,००० मील के वेग से हमसे दूर भागता जा रहा है। मन्दाकिनियों की यह हाहाकारी भाग-दौड़ ४० करोड़ पारसेक की परिधि में प्रत्येक दिशा में मची हुई है।[2]

प्रसरणशीलता का कारण

वैज्ञानिकों के अनुसार इस प्रसरणशीलता का एकमेव कारण पदार्थ की निरन्तर उत्पत्ति में निहित है। विश्व में प्रति क्षण नया-नया पदार्थ उत्पन्न हो रहा है और उसकी वृद्धि लोकसीमा को विस्तृत होने के लिए बाध्य कर रही है।[3]

पृथ्वी का उद्भव एवं विकास

वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी, सूर्य की बेटी है। क़रीब २.५ अरब मतान्तर से ४ या ७ अरब वर्ष पहले—लट्टू की तरह घूमते हुए आग के गोले सूर्य से; उसका एक छोटा सा अंश, उससे टूटकर अलग हो गया जो स्वयं लट्टू की तरह घूमता हुआ सूर्य की आकर्षण पाश में आबद्ध होकर निरन्तर सूर्य की परिक्रमा करने लगा। परिक्रामी सूर्यांश

---

१. वही, पृ० २७४।

२. ज्योतिष की पहुँच, पृ० ३१३। ३. वही, अध्याय २०। वही, पृ० ३२०।
"विश्व अवश्य प्रसरण करेगा। पदार्थ की निरन्तर उत्पत्ति विश्व को प्रसरण के लिए बाध्य करती है।"

हमारी पृथ्वी—माता है और उसके भाई-बहन हैं—मंगल, शुक्र, बुध, बृहस्पति आदि ग्रह जो कि पृथ्वी की तरह सूर्य के अंश से उत्पन्न हुए थे।[1]

पृथ्वी के जन्म की कथा भी जेराल्ड पी० कूपर अपने ही ढंग से सुनाते हैं। उनके अनुसार किसी समय हमारे सूर्य के चारों ओर धूलि और गैस का एक घेरा पड़ा हुआ था। इस घेरे ने स्वतः ही घनत्व प्राप्त किया और सूर्य से पृथक् हो गया। इस पृथग्भूत पदार्थ से पृथ्वी एवं अन्यान्य सौर ग्रहों की उत्पत्ति हुई। सूर्य के आकर्षणपाश में बँधे हुए ये सौरग्रह, अबतक उसकी परिक्रमा किये जा रहे हैं।[2]

कूपर महोदय का यह सिद्धान्त अधुना पृथ्वी की उत्पत्ति का सर्वमान्य सिद्धान्त है।[3] इस सिद्धान्त के प्रचलित होने के पूर्व सूर्य तथा किसी अन्य ग्रह की टक्कर से; सूर्य के निकट से किसी प्रतापी तारे के अभिगमन से तथा सूर्य के वाष्पीय घेरे से विस्तृत पदार्थ से पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रह-उपग्रहों की उत्पत्ति के सिद्धान्त प्रचलित थे। लेकिन सौर-परिवार की उत्पत्ति के इन विभिन्न सिद्धान्तों के बावजूद सभी ब्रह्माण्डविद् इस बात पर एकमत हैं कि पृथ्वी आदि ग्रह-उपग्रहों की उत्पत्ति सौरपदार्थ से हुई है। सूर्य ही उन सबका जनक है।[4]

कहा जाता है कि पृथ्वी जब सूर्य से उद्भूत हुई तब वह भी सूर्य की जलती हुई गैस की अवस्था में थी। धीरे-धीरे वह शीतल होती गयी और कालान्तर में द्रव अवस्था में परिणत हो गयी। द्रव के और भी शीतल होने पर उसके ऊपर ठोस पपड़ी का निर्माण हुआ। फलस्वरूप उसपर पर्वत आदि का निर्माण हुआ। शीतलन की इस प्रक्रिया के समय पृथ्वी वाष्पमण्डल से आच्छादित थी। उस समय वर्षा का सर्वथा अभाव था। करोड़ों वर्ष की शीत साधना के पश्चात् पृथ्वी इतनी शीतल हो गयी कि उसपर छाये हुए मेघों ने बरसना प्रारम्भ कर दिया। इस महावृष्टि के फलस्वरूप पृथ्वी पर महान् नदियों एवं सागरों का निर्माण हुआ। महावृष्टि के फलस्वरूप पृथ्वी को आच्छादित करनेवाले वाष्पमण्डल का आवरण काफ़ी क्षीण हो गया और उसे भेदकर सूर्य-रश्मियों का पृथ्वी तक पहुँचना सम्भव हो गया। इस प्राकृत घटना के फलस्वरूप पृथ्वी पर जीवन का अंकुर पहली बार रोपित हुआ। उसके पहले पृथ्वी पर जीवन का सर्वथा अभाव था।[5]

जीवन का उद्भव एवं विकास

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि अपने जन्म के समय पृथ्वी एक जाज्वल्यमान आग्नेय पुंज के समान अत्युष्ण थी। उस अत्यन्त उष्णता के कारण उसपर जीवन का अस्तित्व सम्भव न था। उसके पर्याप्त शीतल हो जाने पर उसके जलीय भाग में

---

१. विकासवाद, पृ० ११। २. जीवजगत्, भूमिका, पृ० ८। ३. इस सिद्धान्त का प्रतिपादन क़रीब २० वर्ष पूर्व सन् १९५१ ई० में किया गया था। ४. जीवजगत्, पृ० ७, ८। विकासवाद, पृ० ११। ५. जीवजगत् (भूमिका), पृ० ७, ८।

आदिजीव उत्पन्न हो गये। इन जीवों का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ इसका कुछ ठीक पता नहीं किन्तु सभी वैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि जीवन का अंकुर सर्वप्रथम प्रोटोप्लाज्म नामक पदार्थ में अवतरित हुआ था। इसी एक जीवित द्रव्य से चींटी से लेकर हाथी तक के शरीर का निर्माण हुआ है।

कुछ विद्वानों के अनुसार पृथ्वी के रासायनिक पदार्थ सूर्य-रश्मियों से ऊर्जा प्राप्त करके जीवन रस (प्रोटोप्लाज्म) के रूप में संश्लिष्ट हो गये। इससे एक कोशीय आदि-जीव उत्पन्न हो गये। ये आदिजीव अत्यन्त क्षुद्र आकारवाले थे। खुली आँख से इनको देखा नहीं जा सकता था। द्विविभाजन की क्रिया से काफ़ी लम्बे समय तक ये आदि जीव अपनी वंशवृद्धि करते रहे। अन्त में संयुक्त होकर उन्होंने एक से अधिक कोषा-वाले जन्तुओं एवं वनस्पतियों के रूप में अपना विकास किया।[1]

उपर्युक्त जल-जन्तुओं में धीरे-धीरे स्नायुमण्डल तथा रक्तवाहिनियों का विकास हुआ। जल के अतिरिक्त पंक में भी उन्होंने घुसपैठ की। पंक में विकसित इन जीवों के शरीर के ऊपर कठोर कवच तथा उसके भीतर क्षुद्र मस्तिष्क का विकास भी शनैः-शनैः हो चला था लेकिन अबतक विकसित हुए जीवन में मेरुदण्ड का सर्वथा अभाव था। फिर भी सागर की कुछ मछलियों ने अपने शरीर के भीतर मेरुदण्ड का विकास कर लिया था।

मेरुदण्ड के पश्चात् फेफड़ों का विकास हुआ। इसके पश्चात् पृथ्वी के शुष्क भाग पर विकसित हो रही वनस्पतियों के लालच से जलीय जन्तुओं ने पृथ्वी की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप जल एवं स्थल में समान गति रखनेवाले मण्डूक आदि उभयचरों का विकास हुआ। शुष्क पृथ्वी पर दूर-दूर तक प्रवेश पाने के प्रयासों में यही मण्डूकादि उभयचर, रेंगनेवाले सरीसृपों के रूप में परिवर्तित होने लगे। पृथ्वी पर इनका विकास आत्यन्तिक रूप से हुआ। इनमें से कुछ सरीसृप ९० से लेकर १५० फ़ुट तक लम्बे थे। कालान्तर में इन विशालकाय उरंगमों की एक शाखा से विशालकाय पक्षियों का तथा दूसरी शाखा से महाकाय स्तनपोषी पशुओं का विकास हुआ। मनुष्य इसी दूसरी शाखा के पशुओं का परम विकसित रूप है।[2]

अमीबा-जैसे आदिजीव से मनुष्य तक के विकास की वैज्ञानिकों द्वारा परिकल्पित कथा इस उपकल्पना पर आधारित है कि सबसे पहले जल मे जीवन का उद्भव हुआ। तत्पश्चात् वह स्थल की ओर पंक में से होता हुआ आगे बढ़ा। अन्त में वह जल, स्थल एवं पंकादि में सर्वत्र प्रतिष्ठित हो गया। जल से थल की ओर संक्रमण में उसने परि-स्थितियों के अनुसार नाना रूप धारण किये। जिसका कालक्रमानुसार वर्णन आगे किया गया है।

---

१. जीवजगत (भूमिका), पृ० ८, विकासवाद, पृ० ३२–३४। २. वही।

जीवन विकास के विभिन्न युग

भूगर्भविदों के अनुसार इस पृथ्वी पर जो सर्वपुरातन चट्टानें उपलब्ध हुई हैं, वे क़रीब २ अरब वर्ष प्राचीन हैं। इन पुरानी चट्टानों तथा अन्यान्य पुरातन चट्टानों व उनमें उपलब्ध जीवाश्मों (फ़ासिल्स) के अध्ययन से वैज्ञानिकों ने एक कालनिर्धारण की घोषणा की है। इस घोषणा से पृथ्वी तथा उसपर विकसित जीवन के विकासक्रम पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनके द्वारा विनिश्चित कालक्रम को स्थूल रूप से इन चार कल्पों—युगों में सज्जित किया जा सकता है—

१. उषःकल्प
२. आदि कल्प
३. मध्य कल्प
४. नूतन कल्प

उषःकल्प

दो अरब वर्ष पुरानी चट्टानों के इस युग में पृथ्वी एक मृत ग्रह थी। उसपर जीवन का सर्वथा अभाव था। इस उषःकल्प के अन्तर्गत भूगर्भविदों ने आरकीओज़ोइक तथा प्रोटीरोजोइक नामक दो उपकल्पों की कल्पना की है। इनमें से प्रथम की अवधि आज से करीब १.५ अरब तथा दूसरे की अवधि १ अरब वर्ष पूर्व निर्धारित की गयी है। इनके अतिरिक्त पूर्व आदिकल्प (प्री-पेलियोजोइक) नामक एक परवर्ती उपकल्प भी उन्होंने कल्पित किया है। जिसमें जल के अन्दर जीवन की उत्पत्ति हो चुकी थी। इस काल की शैवाल समूह की वनस्पतियों तथा स्पंज के जीवाश्म भी वैज्ञानिकों को उपलब्ध हो चुके हैं।[1]

आदि कल्प

यह कल्प आज से क़रीब २० से लेकर ५४ करोड़ वर्ष पहले तक इस पृथ्वी पर प्रवर्तित था। वैज्ञानिकों ने इस सम्पूर्ण कल्प के तीन चरण कल्पित किये हैं।

प्रथम चरण के प्रारम्भ में जीवन का अस्तित्व केवल जल में ही था। इस समय त्रिखण्डी तथा तैरनेवाले केकड़े के वंश के जीव जल में निवास करते थे। उनमें से कुछ तो १८ इंच तक लम्बे थे। इस समय मुख्यतः क्षुद्र वनस्पतियों एवं अमेरुदण्डीय जीवों की बहुलता थी जो कि जल से बाहर निकलने के लिए अपने बाह्य चर्म को कठोर कवच का रूप देने में संलग्न थे।

द्वितीय चरण में कोमल अस्थियोंवाले मच्छ वंश का उदय हुआ। पर्णांग तथा नग्नबीजी स्थलीय वृक्ष भी इस युग में पनप रहे थे।

तृतीय चरण में पर्णांगों का बहुत अधिक विकास हुआ। आधुनिक पर्णांगों की तुलना में उनका आकार काफ़ी बड़ा था। ६ फ़ीट व्यास तथा १५० फ़ीट ऊँचे पर्णांग भी उस समय विद्यमान थे। उन पर्णांगों के वन बहुधा जलाशयों के किनारे पाये जाते

---

१. विकासवाद, पृ० ४२, मानवशास्त्र की रूपरेखा, प० ७।

थे। उन वनों में ३-४ इंच लम्बे काकरोच तथा मण्डूकों की बहुलता थी। मण्डूकों की बहुलता के कारण इस युग को बहुधा मण्डूकवंशियों का युग कहा जाता है। इस मण्डूक युग में पशु-पक्षी तथा सपुष्प वनस्पतियों का सर्वथा अभाव था। किन्तु उरंगम प्राणी अवश्य ही इस युग में विद्यमान थे।[1]

मध्य कल्प

यह कल्प आज से क़रीब ६ से २० करोड़ वर्ष पूर्व विद्यमान था। इसके प्रमुख निवासी महाकाय सरीसृप तथा नग्नबीजी महावृक्ष थे।

वनस्पतियाँ

इस कल्प की वनस्पतियाँ जलाशयों से काफ़ी दूर रहने में सफल हो चुकी थीं। ताड़-जैसे विशाल नग्नबीज इस युग की प्रमुख वनस्पति थे। जलाशयों के आसपास पर्णांगों के वन थे। किन्तु जलाशयों से बहुत दूरी के पर्वतीय प्रदेशों में उनका अभाव था। वहाँ पर तृण, पुष्प तथा पौधों का भी अभाव था। इस कल्प के अन्त-अन्त तक फूल देनेवाले तृण, बाँस तथा ताड़ आदि के वृक्ष विकसित हो चुके थे।

हमारे देश के बिहार प्रदेश के राजमहल परिक्षेत्र में इस कल्प के करोड़ों वर्ष प्राचीन पर्णांगों के जीवाश्म प्राप्त हुए हैं। ये विलुप्त पर्णांग आजकल के पर्णांगों की अपेक्षा अत्यन्त विशाल आकारवाले थे। उनमें से कई का व्यास छह फ़ीट तथा ऊँचाई १५० फ़ीट तक थी।[2]

दैत्याकार जीव

इस कल्प में सैकड़ों फ़ीट लम्बे भयंकर आकारवाले पशु-पक्षी निवास करते थे। इन दैत्याकारवाले उरंगमों, पक्षियों तथा मण्डूकवंशियों के युग को वैज्ञानिकगण इसीलिए दैत्ययुग (डायनासोर युग) के नाम से याद करते हैं।

इस कल्प के जीवाश्मों मे ४ फ़ीट लम्बी खोपड़ी तथा १५-२० फ़ीट लम्बे शरीरवाले एक मण्डूकवंशी का जीवाश्म भी प्राप्त हुआ है। जिससे इस युग के महाकाय मेंढकों का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

लेकिन इससे भी विशाल शरीरवाले उरंगम उस युग के प्रधान जीवधारी थे। डिप्लोडोकस नामक एक जीवधारी ९०फ़ीट लम्बा हुआ करता था। इस जीव से भी बड़े १०० फ़ीट लम्बे चौपाये पशु भी उस समय होते थे। हवा में उड़नेवाले उरंगमों तथा समुद्री सरीसृपों के प्रमाण भी इस युग में उपलब्ध होते हैं। उड़नेवाले एक उरंगम के पंख क़रीब २० फ़ीट तक फैल जाते थे किन्तु पंख की तुलना में उसका शरीर काफ़ी छोटा हुआ करता था। इसके अतिरिक्त पंखों में पंजे तथा जबड़ों में दाँतवाले विचित्र

---

१. विकासवाद, पृ० ४३-४५। २. वही।

पक्षी भी तब पाये जाते थे। पक्षियों के समान अण्डे देनेवाले तथा पशुओं की तरह बच्चे जननेवाले उरंगम भी उस युग में विद्यमान थे।

इन विचित्र उरंगमों के अस्तित्व की अपेक्षा उनका विलुप्त हो जाना कहीं अधिक आश्चर्यजनक है। ऐसा वैज्ञानिकगण कहते हैं। ये विशालकाय उरंगम व पक्षी एकाएक पृथ्वी पर से कैसे विलुप्त हो गये? इसपर सभी जीव वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हैं क्योंकि पृथ्वी पर इन उरंगमों के प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं के कोई अवशेष प्राप्त नहीं होते जिनसे कि उनके नष्ट होने की कल्पना की जा सके। सम्भवतः प्राकृतिक परिवर्तनों के अनुकूल स्वयं को न बना सकने के कारण ये अद्भुत प्राणी इस पृथ्वी से एकाएक विलुप्त हो गये।[1]

इन सरीसृपों के विलोप के पश्चात् पृथ्वी पर लघुकाय पशुओं, पक्षियों तथा पुष्पवाली वनस्पतियों की बहुलता हो जाती है किन्तु छोटे-से मानव का पता कहीं भी नहीं चलता।

नूतन कल्प

यह कल्प आज से क़रीब १ से लेकर ६ करोड़ वर्ष पूर्व विद्यमान था तथा इसमें पृथ्वी के धरातल तथा वातावरण में बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हुए थे।

इसके प्रारम्भ में पृथ्वी बहुत गर्म थी। किन्तु क़रीब ३ करोड़ वर्ष पहले उसके शीतल होने की क्रिया अत्यन्त तेज हो गयी। फलस्वरूप हिमालय, आल्प्स आदि उत्तुंग पर्वतों का निर्माण हुआ। पुनः क़रीब १ करोड़ वर्ष पहले यह पृथ्वी बहुत ठण्डी हो गयी थी। फलस्वरूप ध्रुव प्रदेशों में संचित हिम वहाँ से भूमध्यरेखा की ओर बढ़ने लगा था। इस हिमवृद्धि से तब अधिकांश पृथ्वी हिमाच्छन्न हो गयी थी। हिमावतरण का यह युग वैज्ञानिकों के बीच इसीलिए हिमयुग के नाम से विख्यात है।

इस कल्प का जीवन आधुनिक जीवन से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। पक्षी, स्तनपोषी पशु तथा गुप्तबीजी वनस्पतियाँ इस युग में पूर्णतः विकसित हो चुकी थीं। नग्न बीजों के स्थान पर फूल देनेवाली वनस्पतियों का आधिक्य हो गया था। नग्नकाय पृथ्वी अब घास के सुन्दर हरित वस्त्रों से सज्जित हो गयी थी। तितलियाँ, मधुमक्खियाँ तथा छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़ों का पर्याप्त उत्थान भी इस युग में हो चुका था। मानव के अवशेष भी इस काल के अन्त-अन्त तक उपलब्ध होने लगे थे किन्तु मानव का पूर्ण उत्थान इस युग के पश्चात् ही हुआ।[2]

मानव का उद्भव एवं विकास

मानव के विकास को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त नूतन कल्प के छह उपविभाग भी वैज्ञानिकों ने किये हैं।[3] उनका विवरण इस प्रकार है—

१. प्रादिनूतन	४. अतिनूतन
२. आदिनूतन	५. प्रतिनूतन
३. मध्यनूतन	६. सर्वनूतन

१. विकासवाद, पृ० ४४-४५। २. विकासवाद, पृ. ४६-४७। ३. मानवविज्ञान व नृतत्त्वशास्त्र, पृ. ३७-४२।

प्रादिनूतन

इस कल्प का प्रारम्भ ५.५ करोड़ वर्ष पहले माना जाता है। इस काल में जेरवाले (ल्युथेरियन या प्लासेण्टल) स्तनधारी विकसित हुए। इस काल में मानव विकास से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध प्राणी लैमूर था।

आदिनूतन

यह युग क़रीब तीन करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। इस कालखण्ड के प्रारम्भ में मानव सदृश वानर (एप्स) प्रकट हुए।

मध्यनूतन

इस युग का आरम्भ क़रीब १.९० करोड़ वर्ष पूर्व हुआ। इस उपकल्प में महाकाय वानर तथा वनमानुष—दोनों विकसित होने लगे थे जो कि मानव विकास से सम्बद्ध प्राणी थे। इस युग के अन्त में तरुरोही वानर भी विकसित हुए।

अतिनूतन

प्रारम्भावधि ७० लाख वर्ष पूर्व। इस कालावधि में तरुरोही वानरों की शारीरिक तथा मस्तिष्क की रचना में पर्याप्त विकास हुआ। इस युग में मानवाकार प्राणी के पूर्व रूप भी विकसित होने लगे थे।

प्रतिनूतन

इस युग का प्रारम्भ आज से क़रीब दस लाख वर्ष पूर्व हुआ था। यह युग हिमयुग के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इस समय अधिकांश पृथ्वी हिमाच्छादित थी। पृथ्वी ने इस स्वल्प अवधिवाले युग में सात बड़े-बड़े बर्फीले हिममय आक्रमणों का सामना किया था। इस हिमयुग में विशालकाय वानरों, मानव सदृश प्राणियों तथा सर्वान्त मे मेधावी मानव का विकास हुआ। वर्षा के प्रमाण भी इस युग में प्राप्त होने लगते हैं।

सर्वनूतन

यह युग आज से क़रीब २५ हज़ार वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। यह युग आधुनिक मानव के समावेश का युग है। क़रीब दस हज़ार वर्ष ईसवी पूर्व, मानव ने पशुपालन, कृषि तथा ग्राम्य सभ्यता का सूत्रपात किया था। पश्चात् ईसा पूर्व ५००० के लगभग उसने सिन्धुघाटी, मिस्र, मेसोपोटामिया तथा मक्सिको आदि की महान् सभ्यताओं को जन्म दिया था।[1] वही सभ्य मानव आज ईसा की बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अन्तरिक्ष युग में प्रविष्ट हो रहा है।

इस प्रकार विकासवादियों को अभिप्रेत विचारो से अवगत होने के पश्चात् अब हम जैन एवं पौराणिक सृष्टिमतों की तुलना उनके सन्दर्भ में प्रस्तुत करेंगे।

●

---

१. मानवविज्ञान व पुरातत्त्व शास्त्र, पृ. ३७-४२।

तुलनात्मक अध्ययन

पौराणिक सृष्टिविद्या एवं विकासवाद

इस विषय का अध्ययन हम निम्नांकित शीर्षकों में प्रस्तुत करेंगे —

१. सृष्टि का मूलतत्त्व

२. सर्गप्रक्रिया

३. ब्रह्माण्डविद्या

मूलतत्त्व

पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का मूलतत्त्व ब्रह्म है। उसके स्वरूप में चैतन्य-युक्त पुरुष तथा त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति सन्निहित है। चेतन पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के रूप में वह प्रकृति के त्रिगुण—रज, सत्त्व एवं तम का अधिष्ठातृत्व (क्रमशः) करता है। इन त्रिदेवाधिष्ठित त्रिगुणों से महदादिक्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

पुराणों के इस ब्रह्मवाद के विपरीत विकासवाद में प्रकृतिवाद का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार इस विश्व का मूलतत्त्व भौतिक या जड़ प्रकृति है। प्रारम्भ में यही एक जड़ तत्त्व विद्यमान था। विकासवादी दार्शनिकों के अनुसार उसका स्वरूप देशकालात्मक किंवा वस्तुगर्भित दिक्कालात्मक था। कालान्तर में उससे आकृति, संख्या, वस्तु, उपवस्तु, जीवन तथा मन का विकास हुआ। यह विकासक्रम अभी भी चल रहा है। उसकी गति श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर की ओर है।

विकासवादियों के अनुसार प्रकृति के इस श्रेयोन्मुखी सतत विकासक्रम का कोई चेतनशास्ता, अधिष्ठाता देवता अथवा ईश्वर नहीं है। यह जड़ प्रकृति अन्धभाव से निरन्तर आगे बढ़ी जा रही है। वह कहाँ जायेगी, क्यों जायेगी—इसे कोई नहीं जानता। इसे स्वयं प्रकृति भी नहीं जानती। फिर भी विकासवादी दार्शनिकों को आशा है कि वह निरन्तर शुभ, श्रेष्ठ एवं पूर्ण की ओर ही बढ़ी जा रही है।

सारांश यह कि सृष्टि के मूलतत्त्व के विषय में पुराणविद् एवं विकासवादी विचारक विपरीत मत रखते हैं। पुराणों के ब्रह्म की प्रकृति चेतन है जब कि विकास-वादियों को अभिप्रेत विश्व का मूलतत्त्व पूर्णतः अचेतन है। पुनश्च अपनी चेतन प्रकृति के कारण ब्रह्म इस विश्व की रचना अपनी इच्छानुसार करता है तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि

देवताओं के रूप में उसकी रचना, संस्थिति एवं संहृति भी करता है। जब कि अचित् भौतिक प्रकृति अन्धभाव से सृष्टि-संहारादि में प्रवृत्त होती है। ब्रह्म के समान उसकी न तो कोई सृष्टियोजना होती है और न उस योजना को व्यवस्थित करनेवाले अभिकर्ता (देवता) ही।

इस प्रकार विकासवादी दर्शन में सृष्टि के कर्ता-धर्ता एवं संहर्ता देवताओं का सर्वथा अभाव है। वहाँ पर चेतना को भी प्रकृति का विकार (विकास) माना गया है। जब कि पुराणों में उसे ब्रह्म से अभिन्न एवं प्रकृति से श्रेष्ठ तथा उसकी अधिष्ठात्री बतलाया गया है।

सर्गप्रक्रिया

पुराणों की सर्वसम्मतप्राय सर्गप्रक्रिया के अनुसार विश्वमूल ब्रह्म से सबसे पहले प्रकृति एवं पुरुष प्रकट होते हैं। पश्चात् पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से महत्तत्त्व, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ तथा भूततन्मात्र आदि की सृष्टि होती है। ये समस्त तत्त्व प्रकृति के अनुग्रह से हिरण्याण्ड की सृष्टि करते हैं। उस हिरण्यमयाण्ड से ब्रह्मा जी उत्पन्न होते हैं जो भूर्भुवादि सप्तलोकों की रचना उनके निवासियों सहित करते हैं।

इसके विपरीत ब्रह्माण्ड विकास के आधुनिक सिद्धान्तों में केवल सूक्ष्म (अव्यक्त, अमूर्त) प्रकृति से विश्वोत्पत्ति किंवा विश्व का विकास माना जाता है। वहाँ पर नारायण-जैसे विश्वाध्यक्ष अथवा ब्रह्मा-जैसे विश्वस्रष्टा देवता की परिकल्पनाएँ नहीं की गयी हैं वरन् जड़ प्रकृति को स्वयमेव सृष्टि एवं संहार में प्रवृत्त होता हुआ माना गया है। ब्रह्माण्डोद्भव के पूर्वोक्त स्पन्दमान सिद्धान्त के अनुसार चार हजार करोड़ वर्ष तक यह विश्व स्वभावतः विकसित होता है तथा इतने ही वर्षों में स्वाभाविक संकोच के कारण अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आ जाता है। इस प्रकार सृष्टि एवं संहार की क्रियाएँ प्रकृति में स्वयमेव होती रहती हैं।

पुनश्च, प्रकृति एवं पुरुष के संसर्ग से महद् अहंकार आदि तत्त्वों के सर्गक्रम तथा हिरण्याण्ड की उत्पत्ति विषयक पौराणिक मत भी आधुनिक विश्ववेत्ताओं को मान्य नहीं है। यद्यपि उनके पास पौराणिकों के समान सुनिश्चित सर्गक्रम उपलब्ध नहीं है तथापि वे सब इस बात पर सहमत हैं कि प्रारम्भ में नामरूप से रहित एक पदार्थ पुंज विद्यमान था जिससे कालान्तर में अनन्त ज्योतिःपिण्डोंवाले ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। प्रकृति की अनुकूलता से इन असंख्य पिण्डों में से सम्भवतः कुछ पिण्डों में तथा सुनिश्चित रूप से हमारी पृथ्वी पर जीवन का उद्भव हुआ। इस निरन्तर विकसित होनेवाले पार्थिव जीवन में मानव जीवन परमविकसित जीवन का एक उदाहरण है।

इस चर्चा का सारांश यह है कि पुराणविद् ब्रह्म से विश्व की सृष्टि तथा विकासवादी प्रकृति से विश्व के विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। पुराण सृष्टिवादी हैं जब कि आधुनिक विश्ववेत्ता विकासवादी।

ब्रह्माण्डविद्या

पुराणों के अनुसार ब्रह्माण्ड का विस्तार केवल पचास करोड़ योजन है। इसके मध्य (केन्द्र) में सूर्यपिण्ड स्थित है। पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्ष इस ब्रह्माण्ड के तीन विभाग हैं। उन्हें पुराणों में त्रिलोकी कहा गया है। त्रिलोकात्मक विश्व की यह परिकल्पना अत्यन्त पुरातन वैदिक संहिताओं में अत्यन्त लोकप्रिय है। लेकिन पुराणों में इस कल्पना की अपेक्षा चतुर्दश भुवनात्मक विश्व की कल्पना का प्रतिपादन विशेष आग्रह से किया गया है। उसके अनुसार इस ब्रह्माण्ड में भूर्भुवादि सप्तलोक तथा अतल-वितल आदि सात पाताललोक है। इन चौदह भुवनों तथा उनके निवासियों का सुविस्तृत वर्णन प्रायः सभी पुराणों में भुवन कोश के नाम से किया गया है।

पुराणों की ब्रह्माण्ड सम्बन्धी उपर्युक्त धारणाएँ आधुनिक ब्रह्माण्ड के प्रकाश में अत्यन्त सीमित एवं काल्पनिक प्रतीत होती हैं। इन दोनों लोकधारणाओं में वस्तुतः कोई समता नहीं है। ब्रह्माण्ड का आधुनिक चित्र पुराणकारों द्वारा निर्मित चित्र की अपेक्षा अरबोंगुना विशाल एवं वैचित्र्य पूर्ण है। उसकी समता पुराणवर्णित चतुर्दश भुवनवाले अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के समुदाय द्वारा कदाचित् की जा सकती है।

ब्रह्माण्ड के विस्तार सम्बन्धी इस मतभेद के अतिरिक्त विश्व के कर्ता-धर्ता को लेकर भी दोनों में मत-भिन्नता है। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा-विष्णु आदि देवता जो कि चेतन पुरुष के विविध रूप हैं—इस सृष्टि के कर्ता-धर्ता है जब कि आधुनिक ब्रह्माण्डिकी का ब्रह्माण्ड प्रकृति के अचेतन अन्ध-विकास का परिणाम है।

जैन सृष्टिविद्या एवं विकासवाद

इन सृष्टिसिद्धान्तों का अध्ययन हम निम्नांकित शीर्षकों में करेंगे—

१. सृष्टि का मूलतत्त्व
२. सर्गप्रक्रिया
३. ब्रह्माण्ड विद्या या लोक विज्ञान
४. विकास सिद्धान्त
५. जैन विकासवाद

मूलतत्त्व

सृष्टि के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में दोनों विचारधाराओं में कोई विशेष सामंजस्य नहीं है।

जैनों के अनुसार इस विश्व की रचना धर्म, अधर्म, काल, आकाश, जीव तथा पुद्गल—इन छह द्रव्यों के मेल से हुई है। ये छह द्रव्य तत्त्वतः एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् हैं तथापि इस ब्रह्माण्ड के एक क्षेत्र विशेष में—लोकाकाश में वे एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होकर स्थित हैं। उनकी यह स्थिति अनादि-अनन्त तथा शाश्वत है।

जैनों के इस षड्द्रव्यवाद के विपरीत विकासवाद में एकवाद की स्थापना की गयी है। जिसके अनुसार इस विश्व की रचना केवल एकमेव तत्त्व अर्थात् भौतिक प्रकृति से हुई है। गति, अगति, दिक्, काल तथा जीवन उसी एकतत्त्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं वरन् अन्योन्यसापेक्ष है। उनका तत्त्व भी एक है। उनके अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में यही एक तत्त्व विद्यमान था। कालान्तर में उससे जीवन और जगत् का विकास हुआ। अन्त में यह सब उसी एकतत्त्व अर्थात् भौतिक प्रकृति में विलीन हो जायेगा।

जैन दार्शनिक विकासवादियों की इस ब्रह्माण्डोत्पत्ति तथा ब्रह्माण्डप्रलय की धारणाओं में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार यह विश्व सृष्टि एवं प्रलय के चक्र से रहित है। न तो कभी इसकी सृष्टि ही हुई है और न कभी इसका प्रलय ही होगा। यह लोक सदा से इसी रूप में विद्यमान है और रहेगा। लेकिन इस मतभेद के होते हुए भी वे दोनों इस बात पर पूर्ण सहमत हैं कि इस विश्व का स्रष्टा, पालक अथवा संहारक कोई देवता, ईश्वर या ब्रह्म आदि नहीं है और यह विश्व स्वाभाविक रूप से संचालित है।

सर्गप्रक्रिया

चूँकि जैन दार्शनिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि या उत्पत्ति में विश्वास नहीं करते इसलिए उनकी कोई सर्गप्रक्रिया भी नहीं है। उनके अनुसार यह विश्व आदि-अन्तरहित अकृत्रिम तथा स्वाभाविक है। वह सदा से विद्यमान है तथा आगे भी इसी शाश्वत रूप में विद्यमान रहेगा। जब कि विकासवादी ब्रह्माण्ड के उद्भव, विकास एवं संहार में विश्वास रखते हैं।

ब्रह्माण्डविद्या

जैनग्रन्थों में असंख्य सूर्य-चन्द्रग्रह-नक्षत्र तारकावलिवाले ज्योतिलोक, सोलह कल्पवाले स्वर्गलोक, सप्तभूमिवाले नारकलोक, त्रसनाली, वातवलय तथा पुरुषाकारवाले लोक का विवरण अतिशय सूक्ष्मता तथा गणितज्ञता का परिचय देते हुए दिया गया है। किन्तु आधुनिक ब्रह्माण्ड की उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्य एक परम्परागत ऐतिहासिक सामग्री के रूप में रह गया है। उसकी पुष्टि वस्तुतः किसी भी वैज्ञानिक सत्य या तथ्य से नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त निरन्तर प्रसरणशील ब्रह्माण्ड तथा पदार्थ की सतत उत्पत्ति की वैज्ञानिक परिकल्पनाओं से तो जैनों के मूल तत्त्वज्ञान को ही आघात पहुँचता है। जैनों के अनुसार इस लोक की सीमा अन्तिम रूप से निश्चित है अर्थात् उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होते और न उस सीमा के अन्तःवर्ती द्रव्यों की सीमा या मात्रा ही घटती-बढ़ती है। जितने जीव या परमाणु इस विश्व में पहले विद्यमान थे उतने ही आज मौजूद हैं और आगे भी रहेंगे। उनके अनुसार किसी एक नये जीव या नये परमाणु की उत्पत्ति

सर्वथा असम्भव है। उनके अनुसार पहले से विद्यमान जीव एवं परमाणुओं से ही नये दिखनेवाले जीवों तथा पदार्थों की उत्पत्ति होती है। नये पदार्थ और नये जीवधारी पुरातन सनातन जीवों तथा परमाणुओं की नवीन अवस्थाएँ मात्र हैं न कि नयी सामग्री के उत्पादन।

इस प्रकार जैनों की 'स्थिर विश्व' तथा वैज्ञानिकों की 'प्रसरणशील ब्रह्माण्ड' की परिकल्पनाएँ परस्पर विरोधी परिकल्पनाएँ हैं। उनमें किसी भी प्रकार की समानता नहीं है।

विकास सिद्धान्त

जैनग्रन्थों में प्राप्त अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल के जैव एवं प्राकृतिक परिवर्तनों के उल्लेखों से हमें जैनों के विकासवादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है। लेकिन उनका यह दृष्टिकोण अखिल ब्रह्माण्ड के स्तर पर व्यवहार्य नहीं है। उनके अनुसार यह सम्पूर्ण लोक (ब्रह्माण्ड) किसी भी प्रकार के उद्‌भव, विकास अथवा ह्रास एवं प्रलय से रहित है। केवल हमारी पृथ्वी के भारतवर्ष तथा ऐरावत क्षेत्र के कुछ भाग ही सृष्टि आदि से सम्बन्धित हैं। वहाँ पर काल के अवसर्पण एवं उत्सर्पणजन्य ह्रास एवं विकास की प्राकृतिक एवं जैव क्रियाएँ चक्रीयक्रम से निरन्तर होती रहती हैं।

जैनों के इस एकदेशीय या सीमित विकास सिद्धान्त के विपरीत आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त सार्वभौम है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए व्यवहार्य है। वह ब्रह्माण्ड के विकास के साथ ही उसके उद्‌भव में भी विश्वास करता है। उसके अनुसार दिक्कालावस्थित भौतिक प्रकृति से असंख्य आकाशगंगाओं तथा अनन्त तारागणों की उत्पत्ति हुई है। इन अनन्त तारागणों से गर्भित ये आकाशगंगाएँ अनन्त शून्य में बड़ी तेजी से फैलती जा रही हैं। इन प्रसरणशील नीहारिकाओं के अनेक पिण्डों में भौतिक पदार्थ से क्रमशः जीवन का विकास होते-होते मन का भी विकास हुआ है। ऐसा विकासवादियों का अनुमान है। उनके अनुसार विश्वप्रसार की भाँति विश्वविकास की क्रिया भी निरन्तर हो रही है। यह विकासक्रम असीम और ऊर्ध्वगामी है। जब कि जैनों का विकासवाद सीमित एवं चक्रीय। जिसका विवरण इस प्रकार है—

जैन विकासवाद

जैन विकासवाद सम्बन्धी अध्ययन हम निम्नांकित शीर्षकों में प्रस्तुत करेंगे —

१. प्राकृत विकास

२. जैविक विकास

३. मानव विकास

४. मानवेतर विकास

प्राकृत विकास

आधुनिक खगोलविदों के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से हुई है। प्रारम्भ में वह अग्नि का ज्वलन्त पिण्ड थी। पश्चात् धीरे-धीरे शीतल होने पर उसके कठोर पृष्ठावरण का निर्माण हुआ। छोटे-बड़े पर्वत भी तब निर्मित हुए। इस समय पृथ्वी वाष्पाच्छादित थी। वाष्प की सघनता के कारण सूर्य की रश्मियाँ उसके पृष्ठभाग तक नहीं पहुँच पाती थीं। धीरे-धीरे वह सघन वाष्प वर्षा के रूप में बदल गयी। फलस्वरूप महान् नदियों तथा समुद्रों की उत्पत्ति हुई।[1]

जैन ग्रन्थों में यद्यपि सूर्य से पृथ्वी की उत्पत्ति की धारणा प्राप्त नहीं होती तथापि अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में उसके इसी भाँति के परिवेश का निर्देश अवश्य प्राप्त होता है।

उस समय पृथ्वी पर ऋतुओं का सर्वथा अभाव था। वर्षा भी तब नहीं होती थी। सूर्य की रश्मियाँ भी उस समय पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाती थीं क्योंकि तब पृथ्वी की सतह अत्यन्त चमकीली थी (तेजांगजातीय कल्पवृक्षों के तेज के कारण) तथा उसका वायुमण्डल भी काफी सघन था (सम्भवतः वाष्प, धूलि एवं गैस का घना आवरण उसपर पड़ा था।[2])

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण अन्तर इन दोनों सन्दर्भों में विद्यमान है। भूगर्भविदों के अनुसार उस समय पृथ्वी पर जीवन का सर्वथा अभाव था। यहाँ तक कि क्षुद्रतम जीव निकाय भी उस समय नहीं था। जैनों के अनुसार भी उस समय क्षुद्र जीव-जन्तुओं (विकलेन्द्रिय जीवों) तथा वनस्पतियों का सर्वथा अभाव था तथापि पूर्णविकसित (संज्ञीपंचेन्द्रिय) महाकाय पशु-पक्षी एवं मनुष्य इस पृथ्वी पर निवास करते थे। कालान्तर मे इन्ही दैत्याकार पशु-पक्षी तथा मानवों से ह्रस्वकाय पशु-पक्षी तथा मनुष्यों का विकास (ह्रास ?) हुआ ऐसा जैन लोग मानते हैं।

इसके अतिरिक्त जैनों के मन्वन्तरकालीन प्राकृतिक परिवर्तन—विशेष रूप से चन्द्राभ मनु के समय के तुषार-युगीन वर्णन से भूगर्भविदों के नूतनकल्प के हिमावतरण के विवरण पर्याप्त साम्य रखते हैं। दोनों मत इस हिमतुषार युग के पश्चात् नवीन मानव (कर्मभूमिज ह्रस्वकाय मानव) के उत्थान को स्वीकार करते हैं। लेकिन इन दोनों युगों के कालनिर्देशों में महान् अन्तर विद्यमान है। यथा—भूगर्भविद् नूतनकल्प की सत्ता आज से १ से ६ करोड़ वर्ष पूर्व मानते है जब कि जैनों का तुषारयुग आज से अरबों वर्ष पूर्व (एक कोट्याकोटि सागरोपम वर्ष पहले) की घटना माना गया है।

पुनश्च मरुद्देव नामक बारहवें मनु के समय हुई प्रथम महावृष्टि का तादात्म्य वैज्ञानिकों को अभिप्रेत प्रथम वृष्टि से भी किया जा सकता है जिसका आविर्भाव उनके

---

१. जीवजगत (भूमिका), पृ० ७,८।
२. दे०, पृ० ४८; भोगभूमि—प्राकृतिक स्थिति।

अनुसार पृथ्वी के सघन बाष्प मण्डल के शीतल होने से हुआ था। इसके अतिरिक्त उस महावर्षा से असंख्य नदी-पर्वतों की उत्पत्ति भी दोनों स्वीकार करते हैं।

इस महावर्षा के बाद ही पृथ्वी पर जीवन का उद्भव हुआ ऐसा वैज्ञानिक हमें बतलाते हैं। जैनविद्वान् भी इसी धारणा की पुष्टि करते हैं तथापि उनके अनुसार इस वृष्टियुग के पश्चात् केवल क्षुद्र जीव-जन्तु व वनस्पतियों (विकलेन्द्रिय जीव व वनस्पतियों) का ही उद्भव हुआ था। उनकी अपेक्षा अधिक विकसित पशु-पक्षी एवं मानव पहले से ही इस पृथ्वी पर निवास करते थे। तब इन पशु-पक्षियों एवं मानवों के पार्थिव शरीर अत्यन्त विशाल—महाकाय किंवा दैत्याकार होते थे।

जैविक विकास

जैन विद्वद्गण यद्यपि जैविक विकास प्रक्रिया में भी विश्वास रखते हैं तथापि वे आधुनिक विकासवाद में स्वीकृत जड़ पदार्थ से अथवा सरलतम जीवों से जटिल जीवों के क्रमशः विकास के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे विकासवाद की इस धारणा को सत्य नहीं मानते कि प्रारम्भ में जीवनशून्य पृथ्वी पर सूर्यरश्मियों व पृथ्वी की रासायनिक क्रियाओं से एक कोशीय देहवाले सरलतम जीव उत्पन्न हुए। पुनः उन क्षुद्र जीवों से जलचर (मच्छवंशी); जलचरों से उभयचर (मण्डूकवंशी); उभयचरों से सरीसृप (पृथ्वी पर रेंगनेवाले); सरीसृपों से नभचर (पक्षी) तथा थलचर (चौपाये पशु) विकसित हुए। पश्चात् स्तनपोशी पशुओं की एक शाखा से मानव का विकास सर्वान्त में हुआ। वरन् इसके विपरीत उनका कहना है कि सरलतम जीवों अथवा जड़ प्रकृति से जटिल संरचनावाले जीवधारियों का उत्पन्न होना असम्भव है क्योंकि जीव और जड़ की सत्ता तात्त्विक रूप से पृथक्-पृथक् है और इसलिए एक का दूसरे में रूपान्तरण या उत्क्रमण असम्भव है। जब कि विकासवादियों के मत में जीव या चेतना-युक्त पदार्थ, जड़ प्रकृति से तत्त्वतः भिन्न नहीं है वरन् वह तो उसका यह विकसित रूप मात्र है।

पुनश्च, मत्स्ययोनिजों का मण्डूकों में, मण्डूकों का सरीसृपों में तथा सरीसृपों से पशु-पक्षियों एवं मनुष्यों का विकास भी उन्हें अभिप्रेत नहीं है। उनके अनुसार किसी जीव जाति के विकास का अर्थ केवल इतना ही है कि वह अपनी योनि को न छोड़ते हुए रूपान्तरित या विकसित हो, यथा—मनुष्य अपनी मानुषयोनि को न छोड़ते हुए दैहिक, मानसिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित या अवनत हुआ हो। तात्पर्य यह कि मनुष्य के पूर्वज सदा से मनुष्य ही रहे हैं कोई बन्दर या सुअर नहीं। इसी प्रकार उसकी सन्तानें भी मनुष्य ही होंगी कोई मछली, मगर या घोंघे नहीं। मानव के विकास में यह हो सकता है कि आदिमानव आज के मानव की अपेक्षा महाकाय रहा हो और आगामी मानव एक हाथ ऊँचाईवाला हो किन्तु मानव सदा मानव ही रहेगा। वह अपनी जाति को परिवर्तित नहीं कर सकेगा। लेकिन उसमें विकास किंवा ह्रास की

सम्भावना सदा सन्निहित होगी।

अब हम इसी प्रकार के जैनोक्त मानव विकास का अध्ययन करेंगे।

मानव विकास

जैन दार्शनिक मनुष्य के साथ ही प्रकृति के भी निरपेक्ष विकास में विश्वास नहीं करते वरन् उनके विकास की धारणा सापेक्ष अथवा चक्रीय है। वे मनुष्य के विकास के बाद उसका ह्रास भी मानते हैं। उनके अनुसार विकास एवं ह्रास का यह प्राकृत चक्र सदैव चलता रहता है।

जैन ग्रन्थों में मानव विकास के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध होते हैं उसके आधार पर आधुनिक विकासवाद के सन्दर्भ में हम उनका विवेचन-विश्लेषण दो भागों में प्रस्तुत करेंगे।

नृतत्त्वीय विकास

जैन ग्रन्थों में मनुष्य की पृष्ठास्थि, जरायु, नाभिनाल, उत्सेध, आयु, वर्ण आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश पाये जाते हैं। इन निर्देशों के आधार पर मानव की स्तन-ग्रन्थियों, अण्डग्रन्थियों, आर्तव, अलमार्ग, मलमार्ग तथा युगलप्रसूति के विकास के सम्बन्ध में अनेक परिकल्पनाएँ की जा सकती हैं।

पृष्ठास्थि

तिलोयपण्णत्ति में पृथ्वी के चरमोत्कर्ष काल (उत्तम भोगभूमि) में मनुष्यों के शरीर की आधारभूत पृष्ठास्थि (मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी) में २५६ अस्थियों (कशेरुओं) के पाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि नृतत्त्व की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

मानवीय मेरुदण्ड के ये २५६ कशेरु, कालक्रमानुसार घटते जाते हैं और अन्त में उनकी संख्या केवल १२ रह जाती है। यह न्यूनतम संख्या काल के प्रभाव से पुनः बढ़ने लगती है और कालान्तर में २५६ कशेरु उपलब्ध हो जाने पर उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसके बाद पुनः ह्रास होता है। इस प्रकार यह वृद्धि ह्रास का चक्र काल के अवसर्पण-उत्सर्पणों के अनुसार निरन्तर चलता रहता है।

उत्सेध

पृष्ठास्थियों के निरन्तर घटने-बढ़ने से मनुष्य की ऊँचाई (उत्सेध) भी घटती-बढ़ती रहती है। जब मनुष्य की पृष्ठास्थि में २५६ कशेरु रहते हैं तब वह करीब ६ मील (६ हजार धनुष) ऊँचा रहता है और जब उसकी रीढ़ में केवल १२ कशेरु रहते हैं तब उसकी ऊँचाई केवल १·५ फ़ीट (एक हाथ) होती है।

इस समय चूँकि अत्यन्त पुरातन नरकंकालों (अस्थिपंजरों) के अवशेष अथवा जीवाश्म उपलब्ध नहीं हैं अतः जैनों की उपर्युक्त धारणा को सत्यापित नहीं किया जा सकता। किन्तु आधुनिक जीव वैज्ञानिकों द्वारा निर्दिष्ट मानव पुच्छास्थि एवं उसकी संरचना से यह कल्पित करना नहीं है कि पुच्छास्थि की वर्तमान संरचना, मानव की पूँछ की घिसावट का परिणाम नहीं है (जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिक कल्पित करते हैं और तदनुसार मानव को पूँछवाले बन्दरों की सन्तान बतलाते हैं।) वरन् वह उसके विशाल मेरुदण्ड के स्वाभाविक ह्रास का परिणाम, प्रतीक अथवा अवशेष है।

निष्कर्ष यह कि मानव की पृष्ठास्थि तथाकथित पुच्छास्थि की ओर से निरन्तर ह्रासमान है और उसी के फलस्वरूप मनुष्य की ऊँचाई घट रही है। जैनों के अनुसार जब मानव की पृष्ठास्थि में केवल बारह कशेरु बच रहेंगे तब उस परम हृष्ट अस्थि का पुनर्विकास होगा और वह बढ़ते-बढ़ते २५६ कशेरुवाली हो जायेगी।

जरायु एवं नाभिनाल

भोगभूमिज स्त्रियाँ अपने जीवनान्त में शिशुयुगल को जन्म देती थी। उस समय शिशुओ का शरीर माता के गर्भाशय से बिना किसी गर्भावरण (जरायु, वस्ति पटल) तथा बिना किसी नाभिनाल (गर्भनाल, कमल इत्यादि) के अवतरित होता था किन्तु कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रसेनजित् तथा नाभिराज नामक अन्तिम कुलकरों के समय से जरायु एवं नालयुक्त प्रसूति का प्रारम्भ हुआ।

गर्भप्रणाली के सम्बन्ध में उपर्युक्त परिवर्तन एक महान् उत्क्रान्ति थी। जैन-ग्रन्थों में इस उत्परिवर्तन का कारण इस प्रणाली के उद्भव के पूर्व व्याप्त महान् शीत हिम, तुषार तथा वर्षा के युग के रूप में चित्रित किया गया है। कदाचित् लक्षाधिक वर्षव्यापी हिमयुगीन शैत्य के दुष्प्रभाव से गर्भस्थ शिशु की रक्षा के निमित्त, जरायु के प्राकृत गर्भावरण का विकास हुआ था। गर्भनाल भी सम्भवतः उसके रक्षण एवं पोषण के निमित्त विकसित हुआ होगा। या हो सकता है कि तत्कालीन स्त्रियों के गर्भाशय मे ही गर्भावरण तथा नाल का शोषण हो जाने से वह बाहर न निकलता हो। जैसा कि आज भी परम विकसित गर्भ व्यवस्थावाले जन्तुओं यथा छछूँदर आदि में होता है।

ग्रन्थियाँ

भोगभूमिकाल में स्त्रियों को प्रत्येक माह में रजोदर्शन नहीं होता था। वे जीवनान्त में केवल एक बार रजस्वला होकर गर्भ धारण करती थीं। जैनों के अनुसार काल प्रभाव के कारण यह प्राकृत व्यवस्था भंग हुई और उसका स्थान मासिकधर्म ने ले लिया। इस नवविकास का कारण कदाचित् स्त्रियों की आर्तव ग्रन्थियों की सक्रियता थी जिसका विकास पूर्वोक्त हिम-शीत तथा भयंकर वर्षा के लाखों वर्ष लम्बे युगोंके प्रभाव से हुआ होगा।

स्त्रियों की भाँति पुरुषों की वृषण ग्रन्थियाँ भी इन युग-परिवर्तनों से प्रभावित हुई होंगी। भोगभूमि के प्रारम्भ में वे अपेक्षाकृत कम सक्रिय थीं अतः उनसे केवल जीवनान्त में ही गर्भाधान सम्भव होता था। किन्तु जल-वायु आदि के परिवर्तनों से उनकी इस क्षमता में पर्याप्त वृद्धि हुई और वे अधिक शुक्रकीट उत्पन्न करने लगीं। इस प्राकृत परिवर्तन के पूर्व कदाचित् उनकी स्थिति भी शरीर के भीतर ही थी।

वैज्ञानिकों के अनुसार स्त्रियों की भाँति पुरुषों में भी स्तन-ग्रन्थियों का अस्तित्व है। किन्तु स्त्री की ग्रन्थियाँ सक्रिय किंवा विकसित हैं जब कि पुरुष की ग्रन्थियाँ असक्रिय एवं अविकसित। स्त्रियों में इन ग्रन्थियों के विकास के सम्बन्ध में जैनग्रन्थों के आधार पर यह परिकल्पना की जा सकती है कि चूँकि भोगभूमिकाल में माताएँ अपने शिशु को स्तनपान नहीं कराती थीं (क्योंकि वे प्रसूति के तत्काल बाद मर जाती थीं) इस-लिए उनकी स्तनग्रन्थियाँ भी पुरुषों के समान असक्रिय एवं अविकसित थीं। कालान्तर में प्रजननांगों में हुए परिवर्तनों, माता द्वारा शिशु के पोषण तथा शिशु के प्रति विशेष प्रेम के कारण कदाचित् ये ग्रन्थियाँ सक्रिय एवं विकसित हुई होंगी।

प्रसूति

भोगभूमियों में युग्म शिशु की युगपत् प्रसूति की प्राकृत प्रणाली व्यवस्थित थी। कालान्तर में इसमें विकास हुआ और दो के स्थान पर बहुधा एक शिशु (बालक या बालिका) का प्रजनन प्रारम्भ हुआ।

जैनों के अनुसार इसका कारण स्त्री की गर्भधारण क्षमता में ह्रास होना है। सम्भवतः हिम-तुषार आदि के भीषण आघातों तथा पर्यटनशील जीवन के प्रारम्भ होने से स्त्रियाँ एक साथ दो-दो गर्भों का भार वहन कर नहीं सकी होंगी और धीरे-धीरे वह प्रणाली विलुप्त हो गयी होगी। तथा उसके स्थान पर पुनः-पुनः गर्भधारण करने की व्यवस्था विकसित हुई होगी।

अलमार्ग

भोगभूमिज मनुष्यों के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थकारों का कथन है कि वे स्वल्पभोजी थे और उन्हें मल-मूत्र त्याग की बाधा न थी। धीरे-धीरे उनके आहार की मात्रा बढ़ती गयी और उन्हें मल-मूत्र त्याग की आवश्यकता होने लगी।

जैनों के इस उल्लेख पर विचार करने पर यह परिकल्पना की जा सकती है कि भोगभूमिज मनुष्यों का अलमार्ग एवं पाचन संस्थान आज की अपेक्षा अल्प विकसित था। उस समय अन्न-नलिका सम्भवतः गले तक ही सीमित थी और नीचे की ओर से बन्द थी। कालान्तर में भोजनपान की मात्रा बढ़ने से उसका विकास हुआ। वह आमाशय, क्षुद्रान्त्र तथा वृहद् अन्त्र का रूप धारण करते हुए अन्ततः मलद्वार के रूप में परिणत हो गयी होगी। उसके इस विकास के साथ ही कदाचित् यकृत, प्लीहा आदि पाचनांग भी विकसित हुए थे।

सांस्कृतिक विकास

चूँकि जैन सृष्टिविद्या के अन्तर्गत मानव के सांस्कृतिक विकास का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है इसलिए यहाँ पर उसका संक्षिप्त विवरण देना ही उपादेय होगा।

वर्तमान अवसर्पिणी के भोगभूमिकाल में किसी भी प्रकार की सभ्यता एवं संस्कृति नहीं थी। उस समय घर, द्वार, परिवार, ग्राम, नगर तथा राज्य नहीं थे। धीरे-धीरे प्राकृत परिस्थितियों से प्रभावित होकर मानव ने इनका आविष्कार किया। कर्मभूमि के उदय होते-होते मानव, आखेट तथा चारागाहों के युग को पीछे छोड़कर कृषियुग में प्रविष्ट हो चुका था। ऋषभदेव इस युग के संस्थापक थे। उन्होंने कृषि, उद्योग, शिल्प आदि का प्रवर्तन करने के पश्चात् धर्म भी प्रवर्तित किया। उनके पुत्र भरत राजसंस्था के महान् संस्थापक हुए। कृषि, धर्म तथा राज्यों का पुराप्रचारित वह युग आज भी हीनाधिक रूप में हमारे देश में प्रवर्तित है।

मानवेतर विकास

मानवेतर जीवजगत् को बहुधा जन्तु और वनस्पति के विभागों में बाँटा जा सकता है। हम इन्हीं विभागों में उसका अध्ययन करेंगे।

वनस्पति

भोगभूमिकाल में विशाल किन्तु पार्थिव कल्पवृक्ष इस भूमि पर होते थे। वे कहने-भर को वृक्ष थे किन्तु उनमें आधुनिक वनस्पतियों का एक भी लक्षण न था। उनकी तुलना कदाचित् भूगर्भ में प्रस्तरीभूत पर्णांग जाति के वृक्षों से की जा सकती है। ये पर्णांग सैकड़ों फ़ीट ऊँचे तथा कई फ़ीट व्यासवाले होते थे तथा उनका स्वरूप आधुनिक वनस्पतियों से भिन्न था।

जैनों के अनुसार ये कल्पवृक्ष धीरे-धीरे विलुप्त हो गये और उनका स्थान आधुनिक प्रकार की वनस्पतियों ने ले लिया। ये वनस्पतियाँ पृथ्वी पर प्रथम वर्षा के पश्चात् स्वयमेव उत्पन्न किंवा विकसित हुई थीं। उन नव वनस्पतियों की परम्परा आज तक प्रचलित है।

जन्तु

जैनों के अनुसार भोगभूमियों में अल्प विकसित (विकलेन्द्रिय तथा वानस्पतिक) जीवों का सर्वथा अभाव था। उस समय पूर्ण विकसित (संज्ञी-पंचेन्द्रिय) पशु-पक्षी एवं मनुष्य इस भूमि पर निवास करते थे। ये प्राणी दैत्याकार थे। कालान्तर में हिम, वर्षा, सूर्य आदि के प्रभाव से कर्मभूमि के प्रारम्भ में क्षुद्र जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति हुई। आज के जीव-जन्तु इसी परम्परा के परिणाम हैं।

जन्तुओं के सम्बन्ध में जैन परम्परा एवं विकासवाद में किंचित् साम्य किन्तु

पर्याप्त वैषम्य है। वैज्ञानिकगण पूर्वोक्त दैत्याकार पशु-पक्षियों को, वर्षायुग के पश्चात् उत्पन्न हुए क्षुद्र जीव-जन्तुओं का विकास मानते हैं जब कि जैन विद्वान् उन दैत्याकार जीव-जन्तुओं तथा महामानव का अस्तित्व, इन क्षुद्र जीव-जन्तुओं के उद्भव के असंख्य वर्ष पहले से मानते हैं। उनकी दृष्टि में वे महाकाय जन्तु, उनके परवर्ती क्षुद्र जीवों का विकास कथमपि नहीं हो सकते।

जैन एवं पौराणिक सृष्टिविद्या

सृष्टि के मूलतत्त्व, सर्गप्रक्रिया तथा ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं (जैन एवं पौराणिक) के मन्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए अन्य अनेक सन्दर्भों पर हम इस परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे।

मूलतत्त्व

पुराणों के अनुसार इस व्यक्ताव्यक्त जगत् का एकमेव मूलतत्त्व ब्रह्म है। वह ब्रह्म ब्रह्मा होकर जगत् की सृष्टि करता है, विष्णु होकर जगत् का पालन करता है तथा रुद्ररूप धारण करके इस विश्व का संहार भी करता है।[1] वह ब्रह्म पुराणों में बहुधा नारायण अथवा विष्णु के नाम से स्मृत किया गया है।[2] पुराणों में उसकी सत्ता उसके द्वारा सृष्ट जगत् से अभिन्न बतलायी गयी है। वहाँ कहा गया है कि वही जगत् है और वही जगत्कर्ता।[3] इस प्रकार पुराणों की दृष्टि में यह जगत् एकतत्त्वमय है। वह एकतत्त्व ब्रह्म है।

पुराणों के इस सृष्टिवाद वा ब्रह्मवाद को जैन परम्परा स्वीकार नहीं करती। वरन् इसके विपरीत वहाँ पर सृष्टि-प्रलयरहित अकृत्रिम विश्व की कल्पना की गयी है। जो ब्रह्म जैसे एकतत्त्व की बजाय जीव, पुद्गल आदि छह प्रकार के तत्त्वों से निर्मित है।[4]

जैनों के अनुसार इस विश्व (लोक या सृष्टि) को कभी किसी ने नहीं बनाया और न कभी कोई उसका संहार ही करेगा। उनके अनुसार इस विश्व का पालनकर्ता भी कोई नहीं है। पुराणों में सृष्टि के स्रष्टा, पालक तथा संहारक के रूप में जिन ब्रह्मा,

---

१. विष्णु० १।२।१३,१४ — तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम्।
तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्॥
गरुड० १।४।११ — ब्रह्मा भूत्वासृजद्विष्णुर्जगत्पाति हरिः स्वयम्।
रुद्ररूपी च कल्पान्ते जगत्संहरते प्रभुः॥
२. गरुड० १।१।१२ — एको नारायणो देवो...परमात्मा परं ब्रह्म।
विष्णु० ६।७।६० — परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः...।
३. विष्णु० १।२।४ — सर्गस्थितिविनाशानां जगतो यो जगन्मयः।
वही, १।२।७० — स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता...।
४. पाण्डव० २५।१०८ — आद्यन्तरहितो लोकोऽकृत्रिमः कैर्न निर्मितः।
कार्तिकेया० ११५ — स केनापि नैव कृतः न च धृतः हरिहरादिभिः।

विष्णु तथा शिव की कल्पना की गयी है उससे भी जैन विद्वान् असहमत हैं। उनके अनुसार इस प्रकार की कोई भी दिव्य शक्तियाँ इस विश्व का सृजन-संहार आदि नहीं करतीं। यह विश्व अपने आपमें सदा से प्रतिष्ठित है उसका कभी भी निर्माण एवं विनाश नहीं होता। उसका संचालन भी उसमें पाये जानेवाले षड्द्रव्यों (जीव, पुद्गल आदि) के स्वाभाविक सहकार से होता है। ये षड्द्रव्य विश्व के समान आदि-अन्तरहित तथा अकृत्रिम में अर्थात् कभी भी इनका सृष्टि-प्रलय नहीं होता। ये सब द्रव्य अपने निज स्वभाव में निहित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक शक्ति से स्वयं की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करते रहते हैं। इसके लिए उन्हें किसी बाह्य शक्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के सहयोग या अधिष्ठातृत्व की आवश्यकता नहीं होती और न किसी ईश्वर के ईशत्व की।

इस प्रकार जैन एवं पौराणिक विश्वविद् सृष्टि के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में विपरीत मत रखते हैं। एक के अनुसार यह विश्व ब्रह्ममय है तो दूसरे के अनुसार षड्द्रव्यमय। पुनश्च : एक के अनुसार त्रिदेववाद सत्य है तो दूसरे के अनुसार स्वभाववाद। एक के अनुसार सृष्टिवाद सत्य है तो दूसरे के अनुसार असृष्टिवाद। और एक के अनुसार ईश्वरवाद सत्य है तो दूसरे के अनुसार अनीश्वरवाद।

सर्गप्रक्रिया

पुराणों के अनुसार एक समय ऐसा था जब यह नानात्वमय संसार नहीं था। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था। तब एकाकी ब्रह्म विराजते थे। उन्होंने सृष्टि की इच्छा से प्रेरित होकर अपनी त्रिगुणमाया (त्रिगुणात्मक प्रकृति) से महत् अहंकार, इन्द्रिय, मन, तन्मात्र तथा पंचमहाभूतों की सृष्टि की। तत्पश्चात् उन सबको संहृत करके हिरण्याण्ड का निर्माण किया। कुछ समय पश्चात् वे उस हिरण्याण्ड को फोड़कर बाहर आये और फिर उन्होंने सारे चराचर जगत् की रचना की।

पुराणों की यह सर्गप्रक्रिया जैनलोकवेत्ताओं को जरा भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वे इस विश्व के सृष्ट होने का भी प्रमाण नहीं पाते। उनके अनुसार यह विश्व असृष्ट एवं असंहार्य है। वह सदा-सदा से इसी रूप में विद्यमान है। इस प्रकार जब विश्व की सृष्टि ही नहीं हुई, तब उसकी प्रक्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः जैनों की कोई सर्गप्रक्रिया नहीं है। उनका विश्वास सृष्ट होनेवाले विश्व की अपेक्षा निरन्तर परिवर्तनशील विश्व में है। यह वैश्व परिवर्तन द्रव्यों के प्रतिसमय होनेवाले परिणमन से निरन्तर हो रहा है। परिणमित होते रहना (निरन्तर अपनी पर्याय-अवस्थाएँ बदलते रहना) द्रव्यों का सहज स्वभाव है। उनका परिवर्तन ही विश्व का परिवर्तन या सृष्टि की गतिशीलता है।[१]

---

१. कार्तिकेया० ११६-१७ अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं॥

ब्रह्माण्डविद्या

पुराणों की भाँति सुख-सुविधापूर्ण स्वर्ग, दुख-पीड़ा-कष्ट से भरे नरक, सुरम्य पाताललोक, द्वीपसागर परिवेष्टित वलयाकार पृथ्वी, सुमेरुपर्वत तथा ज्योतिर्लोक सम्बन्धी मान्यताएँ जैन ग्रन्थों में बहुशः पायी जाती हैं किन्तु इन लोकों के आकार-प्रकार एवं स्थान के सम्बन्ध में दोनों में गहन मतभेद है।

पुराणवर्णित अण्डाकार ब्रह्माण्ड, उसके सप्त आवरण, सप्त द्वीप, सागर, पाताल तथा भूर्भुवादि लोकों की संख्या जैन सन्दर्भों से पर्याप्त भिन्नता रखती है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में वर्णित पुरुषाकार लोक, वातवलय, त्रसनाली, सोलह कल्प, सात नरक, कल्पातीत तथा सिद्धलोक आदि का स्वरूप पुराण ग्रन्थों से भिन्नता ही नहीं रखता अपितु वह पुराणों में प्राप्त ही नहीं होता। चूँकि जैन एवं पुराणों को अभिप्रेत लोक या ब्रह्माण्ड के स्वरूप की तुलना हमने जैन सृष्टिविद्या के अन्तर्गत सविस्तार की है अतः यहाँ उनका इतना विवरण देना ही पर्याप्त होगा।

सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय

पुराणों में ब्रह्मा जी द्वारा नाना प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न करने के वर्णन, बहुतायत से प्राप्त होते है किन्तु चूँकि जैन दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं है अतः वहाँ पर किसी भी देवता, मानव अथवा ईश्वर द्वारा किसी भी प्रकार की सृष्टि रचना के वर्णन प्राप्त नहीं होते।

सृष्टि की भाँति विश्व के संहार अथवा प्रलय में भी जैनों का विश्वास न होने से, पुराणों की भाँति नाना प्रकार के प्रलयों का वर्णन भी वहाँ उपलब्ध नहीं होता। केवल अवसर्पिणी काल के अन्त में होनेवाले आंशिक किंवा नैमित्तिक प्रलय का वर्णन जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पुराणवर्णित नित्य तथा आत्यन्तिक प्रलय को भी जैन विद्वान् मान्यता प्रदान करते हैं किन्तु पुराणों के प्राकृत प्रलय को वे बिलकुल भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि ऐसा मानने पर उन्हे किसी एक तत्त्व या द्रव्य में षड्-द्रव्यों का विलय या संहार मानना पड़ेगा जो कि उन्हे अभिप्रेत नहीं है।

अवसर्पिणी काल के अन्त मे होनेवाले प्रलय की प्रकृति भी पुराणों के नैमित्तिक प्रलय से नही मिलती। क्योंकि पुराणवर्णित नैमित्तिक प्रलय में भूर्भुवादि चार लोकों का विनाश होना माना गया है जब कि जैनोक्त प्रलय का प्रभाव केवल पृथ्वी के कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहता है। पुनश्च : पुराणवर्णित प्रलयजन्य प्रलयावस्था ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रहती है जब कि जैनोक्त प्रलय केवल सात सप्ताह अर्थात् मात्र ४९ दिन तक प्रभावी रहता है।

इस प्रकार यदि अवसर्पिणीकालीन उपर्युक्त अतिसीमित उथल-पुथल या प्रलय

परिणाम सहावादो पडिसमयं परिणमन्ति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं ॥

को छोड़ दिया जाये तो जैनों का विश्वास, विश्व की सृष्टि-प्रलयरहित नित्यस्थिति अथवा यथास्थिति में बद्धमूल दिखलाई देगा।

युग-विभाग

जैन एवं पौराणिक युग-विभागों में भी कोई समता नहीं है। पुराणों में कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि—इन चार युगों की कल्पना की गयी है जब कि जैन ग्रन्थों में सुषमा-सुषमा आदि छह कालों की। इन युगों एवं कालों में केवल नाम मात्र का भेद नहीं है वरन् उनके कालमान तथा स्वरूप में भी पर्याप्त भिन्नता है। जो थोड़ी समानता दोनों में परिलक्षित होती है वह केवल आद्यकृत तथा त्रेतायुग तक सीमित है। पुराणों के ये दोनों युग जैनों के अवसर्पिणीकालीन भोगभूमि तथा कर्मभूमि के प्रारम्भिक वर्णनों से सामंजस्य रखते हैं। आद्यकृत युग जैनों की भोगभूमि से तथा आद्यत्रेता युग मन्वन्तर-कालीन व्यवस्था से ऐकात्म्य रखता है।

इसके अतिरिक्त चतुर्दश मनुओं, भोगभूमि, कर्मभूमि आदि सम्बन्धी अनेक विवरण दोनों परम्पराओं में प्रायः समानता से उपलब्ध होते हैं जिनका निर्देश जैन सृष्टि-विद्या के अन्तर्गत यथा स्थान किया गया है।

अवतार सिद्धान्त

पुराणों के अनुसार धर्म संस्थापन तथा दुष्ट निग्रह के लिए भगवान् विष्णु समय-समय पर अनेक रूपों में इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। उनके असंख्य अवतारों में से वाराह, कूर्म, कच्छप, मत्स्य, नृसिंह, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, ऋषभ, कपिल आदि २४ अवतार लोकप्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त १४ मनु, सप्तर्षि, इन्द्र, देवगण तथा राजाओं के रूप में भी उनके अंशावतारों की प्रसिद्धि पुराण जगत् में व्याप्त है।

पुराणों के चौबीस अवतारों के समान जैन जगत् में भी ऋषभ, अजित, नेमि, पार्श्व तथा महावीर आदि २४ तीर्थंकरों की यशोगाथा परिव्याप्त है किन्तु ये २४ तीर्थंकर वहाँ पर अवतार नहीं माने जाते क्योंकि ये चौबीस तीर्थंकर किसी एक देवता, दिव्यात्मा अथवा विष्णु आदि के समय-समय पर धारण किये गये रूप नहीं हैं वरन् वे एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र आत्माओं के अलग-अलग जन्म हैं। समय-समय पर ये जीवात्माएँ धर्म का महान् प्रचार करके तीर्थंकर की उपाधि को प्राप्त हुई थीं।

इन चौबीस महापुरुषों के अतिरिक्त अनेक चक्रवर्ती सम्राटों, चौदह मनुओं तथा असंख्य ऋषियों के चरित भी जैन ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं किन्तु ये सब विभूतियाँ किसी एक परमात्मा के अवतार नहीं हैं वरन् समय-समय पर जनमी अलग-अलग जीवात्माएँ हैं जिन्होंने लोकोत्तर कार्य करके दिक्कालजयी अक्षय कीर्ति अर्जित की है।

जैन एवं बौद्ध सृष्टिविद्या

निम्नांकित चार शीर्षकों में हम इन दोनों सृष्टिविद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

१. सृष्टि का मूलतत्त्व
२. सृष्टि का संचालक तत्त्व
३. सर्गप्रक्रिया तथा
४. ब्रह्माण्डविद्या

मूलतत्त्व

जैनों के अनुसार इस सृष्टि की रचना किसी एक तत्त्वविशेष से नहीं हुई है। वरन् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — नामक छह मौलिक तत्त्वों (द्रव्यों) से हुई है। इनमें से जीव और पुद्गलों की संख्या अनन्त है। इन छह द्रव्यों की न तो कभी किसी एक तत्त्व से सृष्टि हुई है और न वे किसी देश-काल में किसी तत्त्व में संलीन हो सकते हैं। किन्तु वे एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हुए अनादिकाल से स्थित हैं और इसी प्रकार अनन्त कालपर्यन्त स्थित रहेंगे। लेकिन उनकी इस अनाद्यनन्त स्थिति का यह अर्थ नहीं कि उनमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता अपितु वे अपने स्वभाव में सन्निहित उत्पाद-व्ययशीलता — परिवर्तनशीलता के कारण निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं और इस प्रकार यह सृष्टिप्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है।

जैनों के समान बौद्ध भी इस संसार को किसी एक तत्त्व से विनिर्मित नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु पंच स्कन्धों से बनी हुई है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—पाँच स्कन्ध हैं। स्कन्ध का अर्थ होता है—राशि या समूह। रूप स्कन्ध का अर्थ है—भूत-भविष्यत् तथा वर्तमानकालीन समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक रूपों का समूह। इसी प्रकार वेदना संज्ञा आदि के स्कन्ध होते हैं।

भगवान् बुद्ध ने उक्त पाँच स्कन्धों की सूक्ष्म तत्त्व मीमांसा नहीं की है। इनके सम्बन्ध में न तो उन्होंने यह बतलाया है कि ये पाँच स्कन्ध एक ही तत्त्व के रूपान्तर हैं अथवा पृथक्-पृथक् पाँच तत्त्व हैं अथवा उनकी द्रव्यात्मक सत्ता है भी या नहीं। एक प्रकार से अनुभव में आनेवाले समस्त ज्ञान को उन्होंने पाँच वर्गों में वर्गीकृत करके रख दिया है। इससे आगे वे नहीं गये हैं क्योंकि इससे तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती थीं और उनमें उलझना बुद्ध को अभिप्रेत नहीं था। किन्तु बुद्ध के पश्चात् उनके अनुयायियों ने पंचस्कन्धों की मीमांसा को आगे बढ़ाया और उसके निष्कर्षों के अनुसार वैभाषिक आदि सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई।

संचालक तत्त्व

जैनों के अनुसार इस सृष्टि का संचालक तत्त्व उसके छह प्रकार के घटक द्रव्यों में ही सन्निहित है। उन द्रव्यों का निरन्तर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक तथा स्वभाव

संचालित आचरण ही इस विश्व का संचालक तत्त्व है। संक्षेप में वस्तुओं के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व इस विश्व का संचालक नहीं है। कोई देवता, कोई ईश्वर अथवा कोई एक चेतन या अचेतन शक्ति इस विश्व की संचालक नहीं है वरन् यह विश्व स्वसंचालित है। यह अपने आप ही अपना सृजन, संहार और संचालन करता है।

जैनों के समान बौद्ध भी किसी देवता, ईश्वर आदि को जगत् का संचालक नहीं मानते। उनके अनुसार पंचस्कन्ध स्वभाव तथा 'कर्म' के द्वारा इस विश्व का संचालन होता है। इस विश्व में निवास करनेवाले नाना प्रकार के प्राणियों के नाना प्रकार के कर्मों के आधिपत्य से न केवल उन प्राणियों के देहादि उत्पन्न होते हैं बल्कि उन प्राणियों के निवास स्थान या लोक भी उत्पन्न होते हैं। स्वर्ग, नरक आदि विविध लोक उन-उन लोकों में उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के कर्माधिपत्य से उत्पन्न होते हैं और एक निश्चित अवधि तक स्थित रहकर विनष्ट भी हो जाते हैं। इस प्रकार पंचस्कन्ध स्वभाव तथा कर्म ही लोक-स्रष्टा, लोकपालक और लोकसंहारक हैं। इनके अतिरिक्त कोई देवता, ईश्वर, शक्ति आदि विश्वविधाता नहीं है।

यद्यपि बौद्धों के समान जैन भी कर्म की सत्ता में विश्वास करते हैं तथापि कर्म के द्वारा उन्हें केवल प्राणियों के जन्म-मरण और जीवन का संचालन ही अभिप्रेत है—लोक की सृष्टि और उत्पत्ति नही। इसी कारण जैनों ने जिस विश्व की कल्पना की है—वह सृष्टि और प्रलय से रहित एक शाश्वत लोक है, जिसके विविध लोकों में प्राणी स्वकर्मानुसार जन्मादि ग्रहण करता है। किन्तु बौद्धों ने कर्म के सिद्धान्त को जीवन और जगत्—दोनों की उत्पत्ति और विनाश पर लागू करके कर्म के सिद्धान्त को व्यापकता प्रदान की है और इस प्रकार एक नये विचार को जन्म दिया है।

सर्गप्रक्रिया

चूँकि जैनों की विश्व व्यवस्था शाश्वत है—इसलिए उसमें सृष्टि-प्रलय की कल्पना को कोई स्थान नहीं होना चाहिए। फिर भी स्वर्ग और नरक की शाश्वत व्यवस्था के अतिरिक्त मनुष्यलोक या पृथ्वीलोक पर आंशिक सृष्टि और प्रलय का विधान वहाँ पर पाया जाता है। मनुष्यों के लोक में होनेवाली परिवर्तन की प्रमुख घटनाएँ जैन ग्रन्थों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के प्रसिद्ध कल्पार्धों के नाम से विख्यात हैं। इनमें से प्रत्येक काल-खण्ड में कर्मभूमि और भोगभूमि की व्यवस्था भी जैन ग्रन्थों में दिखलायी गयी है।

बौद्धों से तुलना करने पर हम पाते हैं कि बौद्धगण जैनों के समान शाश्वत विश्व व्यवस्था में विश्वास नहीं करते वरन् वे विवर्तकल्प में लोक की सृष्टि तथा संवर्तकल्प में लोक की संहृति में विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त वे चतुर्थ ध्यानलोक के देवताओं के विमानों का उदय-व्यय भी मानते हैं। इस प्रकार केवल पृथ्वीलोक पर आंशिक उथल-पुथल माननेवाले जैनों से बौद्धों का मत साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक रखता है।

ब्रह्माण्डविद्या

जैन ब्रह्माण्डविद्या में स्वीकृत स्वर्ग, नरक, मनुष्य, तिर्यक् आदि लोकों का अस्तित्व बौद्धगण भी मानते हैं। दोनों मतों के अनुसार पृथ्वी से ऊपर की ओर स्वर्ग तथा नीचे की ओर नरकलोक हैं। पृथ्वी के मध्य में सुमेरु पर्वत तथा उसके चारों ओर नाना द्वीप-समुद्र-पर्वतादि हैं।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में स्वीकृत खगोल-भूगोल में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। किन्तु लोकों के नाम, संख्या, विस्तार तथा वहाँ की व्यवस्था के सम्बन्ध में दोनों में अधिकांशतः मतभेद पाया जाता है जिसको यहाँ उद्धृत करना पुनरुक्ति मात्र होगी। एक बात अवश्य ही यहाँ उल्लेखनीय है कि जैनमत में केवल एक ब्रह्माण्ड (लोक) की कल्पना की गयी है जब कि बौद्धमत में असंख्य लोकों की सत्ता स्वीकार की गयी है।

बौद्ध एवं पौराणिक सृष्टिविद्या

बौद्ध एवं पौराणिक सृष्टिविद्या का अध्ययन पूर्ववत् चार शीर्षकों में प्रस्तुत है—

मूलतत्त्व

पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का मूलतत्त्व ब्रह्म है। जो कि सृष्टिकामना से महदादि भूतपर्यन्त नाना रूप धारण करके सचराचर सृष्टि के रूप में स्थित है। इस सृष्टि में जितना भी वस्तु-वैचित्र्य है—वह सब इस एक ब्रह्म का ही विवर्त है। जब कि बौद्धों के अनुसार यह सारा लोक किसी एक या दो या अधिक मौलिक-तत्त्वों से मिलकर निर्मित नहीं है। उनके अनुसार हमारा अनुभव हमें बतलाता है कि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ और स्वयं हमारा अनुभव किसी एक तत्त्व या अनेक मूल-तत्त्वों से निर्मित नहीं है। वरन् हमें जितना भी अनुभव होता है वह सब रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के प्रवाह के रूप में होता है। यदि हम इस समग्र अनुभव को वर्गीकृत करना चाहें तो उसे उपर्युक्त पाँच समूहों में—पाँच स्कन्धों में वर्गीकृत कर सकते हैं। ये पाँच स्कन्ध ही विश्व हैं। विश्व में जितना भी आध्यात्मिक और भौतिक है—वह सब पंच-स्कन्धमय है।

महात्मा बुद्ध ने उक्त पंचस्कन्धों से आगे या उनमें अन्तर्निहित किसी एक तत्त्व की खोज करना उपयुक्त नहीं समझा क्योंकि उस खोज का दुखनिरोध के लक्ष्य साधन में कोई विशेष महत्त्व न था। उन्होंने आजीवन लोक की तात्त्विक मीमांसा से तथा लोक के शाश्वत या अशाश्वत होने के प्रश्नों से अपने को पृथक् रखा और व्यर्थ के विवाद उत्पन्न नहीं होने दिये।

संचालक तत्त्व

पुराणों के अनुसार यह विश्व ब्रह्म से उत्पन्न तथा ब्रह्ममय है। ब्रह्म ही इसका स्रष्टा, संहारक और संचालक है। वह ब्रह्मा होकर इसका सृजन करता है, रुद्र होकर संहार करता है तथा विष्णु रूप से इसका संचालन या परिपालन करता है। बुद्ध के अनुसार यह सृष्टि अपने संचालन के लिए किसी ब्रह्म अथवा ब्रह्मा-विष्णु आदि देवता पर निर्भर नहीं है वरन् एक प्रकार से वह स्वसंचालित है। प्राणियों के कर्मानुसार उनके निवासभूत विविध लोकों की उत्पत्ति और संहृति होती है। यह लोकोत्पत्ति तथा लोकसंहार संवर्त और विवर्त के विविध कल्पों के अनुसार होता है। उसके इस कल्पानुसार होते रहने में पंचस्कन्ध के स्वभाव के अतिरिक्त कोई अन्य हेतु नहीं है। पंचस्कन्ध स्वभाव ही कल्प है। इस प्रकार कर्म और कल्प (पंचस्कन्ध स्वभाव) ही लोक के संचालक हैं।

सर्गप्रक्रिया

पौराणिक सर्गप्रक्रिया के अनुसार ब्रह्म से सर्वप्रथम पुरुष और प्रकृति का जोड़ा उत्पन्न होता है। पश्चात् पुरुष के अधिष्ठातृत्व में प्रकृति से महदादिभूतपर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि होती है। जो कि हिरण्याण्ड के रूप में संयुक्त हो जाते हैं। कालान्तर में इस हिरण्याण्ड से ब्रह्मा जी उत्पन्न होते हैं जो भू-आदि सात लोकों तथा उनके निवासियों की सृष्टि करते हैं।

बौद्धों के अनुसार संवर्तकल्प की समाप्ति के पश्चात् क्रमशः वायु, जल तथा भूमण्डल की रचना सत्त्वों के कर्माधिपत्य से होती है। पश्चात् क्रमानुसार विनिर्मित लोकों में प्राणियों का उपपाद होता है।

इस प्रकार पुराणों की अपेक्षा बौद्धों की सृष्टिप्रक्रिया संक्षिप्त और कर्म संचालित है। जब कि पुराणों में एकमेव ब्रह्म से प्राणियों के उत्पाद तक महदादि अनेक चरण होते हैं और सृजन के उक्त समस्त आयोजन की अध्यक्षता ब्रह्म-देवता करते हैं।

ब्रह्माण्डविद्या

पुराणों के समान बौद्धगण भी स्वर्ग, नरक, मनुष्य तथा प्रेतादि लोकों की सत्ता में विश्वास करते हैं। लेकिन इन लोकों की संरचना, संख्या, विस्तार, नाम आदि के सम्बन्ध में दोनों में प्रभूत मतभेद भी हैं। जिनका उल्लेख बौद्ध सृष्टिविद्या का वर्णन करते समय यथास्थान कर दिया गया है।

बौद्ध सृष्टिविद्या एवं विकासवाद

इन दोनों सृष्टि विद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन निम्नांकित चार शीर्षकों में प्रस्तुत है—

१. सृष्टि का मूलतत्त्व
२. सृष्टि का संचालक तत्त्व
३. सर्गप्रक्रिया और विकासवाद
४. ब्रह्माण्डविद्या

मूलतत्त्व

विकासवादी दृष्टि से इस विश्व का मूलतत्त्व भौतिक प्रकृति है। इस प्रकृति का विकास गति-अगति, दिक्काल तथा जीवन के रूप में हुआ है। पुनश्च जीवन के विकासक्रम में मन की उत्पत्ति हुई। यह भौतिक प्रकृति या भूत तत्त्व ही जीवन और जगत् का एकमेव कारण है।

विकासवादियों के उक्त प्रकृतिवाद के विपरीत बुद्ध, पंचस्कन्धों से जीवन और जगत् की निर्मिति प्रतिपादित करते हैं। विकासवादियों के समान इन पांच स्कन्धों की उत्पत्ति किसी एक तत्त्व से नहीं होती और न उनका संलयन ही किसी एक तत्त्व में अथवा स्कन्ध में होता है बल्कि पंचस्कन्धों का प्रवर्तन सन्तानक्रम से निरन्तर होता रहता है। पंचस्कन्धों तथा उनसे निर्मित जगत् का यह सन्तानप्रवाह आदि-अन्तरहित है। पुनश्च, विकासवादी सिद्धान्त में भूत तत्त्व से जीवन और मनस् का विकास कल्पित किया गया है। जो कि बौद्धों के अनुसार सम्भव नहीं है, क्योंकि भौतिक प्रकृति में जीवन और मनस् की उत्पत्ति का पर्याप्त कारण निहित नहीं है।

संचालक-तत्त्व

बौद्धमत तथा विकासवाद दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि विश्व का संचालन किसी ईश्वर अथवा देवता के द्वारा नहीं वरन् स्वयमेव हो रहा है। विकासवाद के अनुसार विश्व का संचालक तत्त्व भूत-द्रव्य है। जो कि अन्धभाव से—बिना किसी पूर्व योजना के विकास की ओर बढ़ता जा रहा है। जब कि बौद्धों के अनुसार विश्व का संचालन पंचस्कन्ध स्वभाव के अनुसार हो रहा है और उसमें निरन्तर विकास-जैसी कोई आन्तरिक प्रेरणा निहित नहीं है। इसके अतिरिक्त प्राणियों के जन्मादि उनके कर्मानुसार होते हैं। और इसके लिए आवश्यक नहीं कि उनका विकास निरन्तर होता ही रहे। वरन् वे अपने हीन कर्मों के कारण विकास की ऊँचाइयों से पतन के गर्त में भी गिर सकते हैं। बौद्धों के अनुसार जगत् का विकास रेखा में नहीं वरन् चक्रवत् हो रहा है। वहाँ केवल विकास ही नहीं वरन् ह्रास के अवसर भी विद्यमान हैं। बल्कि वहाँ पर विकास के बाद ह्रास अनिवार्यतः आता ही है। भव एक चक्र है। संसार एक चक्र है जो निरन्तर घूम रहा है।

सर्गप्रक्रिया

बौद्धों के अनुसार संवर्त के पश्चात् जब विवर्त (सृष्टि) का कल्प प्रारम्भ होता है तब आकाश में प्रथमतः वायु का स्पन्दन होता है जिससे कालान्तर में वायुमण्डल का निर्माण होता है। यह वायुमण्डल कालान्तर में जलमण्डल का रूप धारण करता है। शनैः-शनैः जलमण्डल का मध्यभाग ठोस होकर भूमण्डल का रूप धारण कर लेता है। इस भूमण्डल पर भूमि की स्थिति के अनुसार नाना नदी, पर्वत, सागर, द्वीप आदि निर्मित हो जाते हैं। पश्चात् देव, मनुष्य आदि की लोकानुसार उत्पत्ति होती है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादियों का मत है कि प्रारम्भ में विद्यमान अत्यन्त सघन पदार्थ के विस्फोट के फलस्वरूप असंख्य ताराओं तथा आकाश-गंगाओं की सृष्टि हुई। इन असंख्य तारालोकों में धीरे-धीरे जीवन की सम्भावना उत्पन्न हुई। इनमें से केवल पृथ्वी पर जीवन के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों को जानकारी है। अन्यान्य लोकों पर जीवन की सम्भावना का न तो वे प्रतिपादन करते हैं और न निषेध ही। इस पृथ्वी पर जो जीवन विकसित हुआ उसका क्रम बौद्धों द्वारा स्वीकृत क्रम के सर्वथा विपरीत है। बौद्धगण मनुष्यों की उत्पत्ति के बाद ही पशु-पक्षी तथा वनस्पतियों का उद्भव मानते हैं। जब कि विकासवाद के अनुसार मनुष्य का उद्भव उक्त जीवनावस्थाओं के सर्वान्त में हुआ है। उनके अनुसार प्रथमतः जीवन का उद्भव सागरों में हुआ। उसकी एक शाखा से क्रमशः मत्स्य-मण्डूक-सरीसृप आदि से होते हुए पशु और पक्षियों का विकास हुआ। जिसके अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। दूसरी शाखा से नाना प्रकार की वनस्पतियों का उद्भव हुआ।

ब्रह्माण्डविद्या

बौद्धों द्वारा स्वीकृत स्वर्ग, नरक आदि विविध लोक—वैज्ञानिकों द्वारा उसी रूप में स्वीकृत नहीं हैं। उनके अनुसार ऐसे लोकों की सम्भावना से इनकार तो नहीं किया जा सकता किन्तु उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक भी कुछ नहीं कहा जा सकता—जैसा कि बौद्ध निश्चयपूर्वक कहा करते हैं। क्योंकि अभी तक मानव की पहुँच ऐसे किसी लोक में नहीं हो सकी है। चन्द्रमा पर, जहाँ कि मनुष्य पहुँच चुका है; किसी प्रकार के जीवन की निशानी नहीं मिलती।

पुनश्च, पृथ्वी की रचना और उसके विविधतामय जीवन के सम्बन्ध में न केवल बौद्ध ग्रन्थों में अपितु जैन एवं पुराण ग्रन्थों में भी जो कुछ लिखा गया है—वह शतांश में भी आज के भूगोल और खगोल से प्रमाणित नहीं होता। इस प्रकार उसे कल्पना के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

विश्व में असंख्य लोकों को उपस्थिति तथा उनके समय पर निर्माण और विनाश के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है वह अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। विकासवादी वैज्ञानिक भी असंख्य लोकों—असंख्य ताराओं तथा आकाशगंगाओं—की सत्ता प्रतिपादित करते हैं और उनमें निरन्तर चल रहे निर्माण तथा विनाश के तथ्य की पुष्टि करते हैं। बौद्धों के अनुसार लोकों का यह उदय-व्यय सत्त्वों के कर्माधिपत्य से संचालित हो रहा है—जब कि विकासवादी इसे एक प्राकृत घटना से अधिक महत्त्व नहीं देते।

•

परिशिष्ट १

सारांश

जैन सृष्टिविद्या

जैनों के अनुसार यह सृष्टि षड्द्रव्यों से निर्मित है।[1] इन षड्द्रव्यों में से जीव-द्रव्य चेतन तथा शेष द्रव्य अचेतन या जड़ हैं। इस लोक या सृष्टि में अनन्तानन्त जीवद्रव्य अर्थात् आत्माएँ हैं। इन सबका आन्तरिक तत्त्व चेतना है तथापि उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् है। वे न तो कभी किसी एक परमचेतना अथवा ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं और न कभी किसी स्वजातीय या विजातीय द्रव्य में विलीन ही होंगी। वे वस्तुतः आदि-अन्तरहित तथा संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं।

जीवात्माओं के समान अजीव द्रव्य भी आदि-अन्तरहित हैं। वे सदा से इस सृष्टि में विद्यमान हैं अर्थात् कभी किसी देश-काल में न तो उनकी सृष्टि हुई है और न कभी उनका संप्लव ही होगा। इनमें से आकाशद्रव्य शेष द्रव्यों की अपेक्षा अनन्त विस्तार-वाला तथा उन सबका आधार है। धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल तथा काल—ये पाँच द्रव्य उसके केन्द्र में स्थित हैं। यह केन्द्रीय आकाश लोकाकाश, लोक, सृष्टि, संसार, जगत्, विश्व या ब्रह्माण्ड कहलाता है। इस ब्रह्माण्ड की सीमा सुनिश्चित है। इस सीमा के बाहर सर्व पदार्थशून्य विशुद्ध आकाश द्रव्य स्थित है। जैनग्रन्थों में उसे अलोकाकाश कहा गया है।

षड्द्रव्यों के समान उनसे विनिर्मित यह लोक भी आदि-अन्तरहित है अर्थात् न तो कभी उसकी सृष्टि हुई है और न कभी उसका संहार ही होगा। वह सदा से है और सदा रहेगा। उसकी यह नित्य स्थिति स्वाभाविक है। इस स्वाभाविक लोक में सोलह स्वर्ग, सिद्धलोक, कल्पलोक तथा सप्त नरकभूमियों के अतिरिक्त असंख्य द्वीप समुद्रोंवाला पृथ्वीलोक भी स्थित है। इन सब लोकों की रचना अनादि-अनन्त तथा अपौरुषेय है। इसकी व्यवस्था भी शाश्वत है। केवल पृथ्वीलोक के कुछ क्षेत्रों (भारत-वर्ष तथा ऐरावत क्षेत्र) में अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकालजन्य परिवर्तन होते हैं। जिनका क्रम चक्रीय है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार इस लोक का स्रष्टा, पालक अथवा संहारक देवता भी कोई नहीं है। न तो ब्रह्मा इसकी सृष्टि करते हैं और न विष्णु इसका पालन। संहारक

---

१. षड्द्रव्य : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल।

रुद्र भी इसका संहार नहीं करते।[1] अपितु पूर्वोक्त षड्द्रव्यों के स्वभाव में निहित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता से ही इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति प्रतिक्षण होती रहती है। इसी बात को मुनि कार्तिकेय इस प्रकार कहते हैं—चूँकि पारमार्थिक दृष्टि से द्रव्य नित्य हैं इसलिए उनसे निर्मित यह लोक भी नित्य है और चूँकि व्यावहारिक दृष्टि से (पर्यायार्थिक दृष्टि से) षड्द्रव्य (परिवर्तनशील) हैं इसलिए यह विश्व भी अनित्य या निरन्तर परिवर्तनशील है।[2] द्रव्यों का यह नित्यानित्यात्मक स्वभाव ही इस लोक का तथा स्वयं षड्द्रव्यों का स्रष्टा, संहर्ता किंवा संस्थापक है।

इस प्रकार सृष्टि-तत्त्व-विचार की दृष्टि से जैनदर्शन षड्द्रव्यवादी अथवा भूतात्मवादी (जीव-अजीववादी) या द्वितत्त्ववादी है। चूँकि विश्व के सृजन-संहारादि के लिए वह ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं तथा उनके मूलाधार ब्रह्म या ईश्वर का भी निषेध करता है इसलिए वह अनीश्वरवादी या नास्तिक भी है। पुनश्च: नित्यानित्यात्मक वस्तु स्वभाव को विश्व का कर्ता-धर्ता मानने के कारण उसे स्वभाववादी भी कहा जा सकता है।

बौद्ध सृष्टिविद्या

बौद्धों के अनुसार यह संसार और उसके समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक पदार्थ पंचस्कन्धों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से निर्मित हैं। इन पंचस्कन्धों में तात्त्विक दृष्टि से कोई विभाजक रेखा नहीं खींची गयी है। और न इनमें निहित किसी एक तत्त्व की ओर इशारा किया गया है। ये पंचस्कन्ध निरन्तर परिवर्तनशील—उदयव्ययशील हैं। इनका परिवर्तन ही संसार का परिवर्तन है—और यह परिवर्तन पंचस्कन्ध का स्वभाव। इस प्रकार बौद्ध मत में सृष्टि के किसी एक तत्त्व का खण्डन तथा संचालक के रूप मे किसी देवता या ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया है। सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में वहाँ पर किसी चेतन अध्यक्ष या ईश्वर या देवता अथवा प्राकृत नियम का खण्डन किया गया है और बतलाया गया है कि प्राणियों के कर्म से न केवल उनके जन्मादि होते हैं वरन् उनके निवासस्थान अर्थात् विविध लोकों की उत्पत्ति और विनाश भी होता है।

बौद्धों के अनुसार यह सारा लोक त्रिधातु—कामधातु, रूपधातु तथा आरूप्यधातु में विभक्त है। कामधातु में छह प्रकार के कामावचर देवता, मनुष्य, असुर, नारक तथा पशु-पक्षी आदि निवास करते हैं। रूप धातु में सत्रह प्रकार के रूपावचर देवता तथा आरूप्यधातु में चार प्रकार के देवता वास करते हैं।

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ११५ स केनापि नैव कृतः न च धृतः हरिहरादिभिः।

२. वही, ११६, ११७

द्रव्याणां नित्यत्वतः लोकस्यापि जानीत नित्यत्वम्।
तेषां परिणामाद् लोकस्यापि जानीत परिणामम्॥

बौद्धों के अनुसार विश्व में असंख्य लोकधातु हैं—जहाँ पर नाना प्रकार के प्राणियों का निवास है। इन लोकों का उदय-व्यय कल्पनानुसार होता रहता है।

जैनों के समान ईश्वर में विश्वास न करने के कारण बौद्धगण भी अनीश्वरवादी हैं। विश्व संरचना में किसी एक तत्त्व को न मानने से बहुतत्त्ववादी तथा पंचस्कन्धों से जगत् को निर्मित मानने से पंचस्कन्धवादी हैं। कर्म के अनुसार जीवन और जगत् को संचालित मानने के कारण कर्मवादी हैं। अन्ततः विश्व को निरन्तर उदय व्ययशील मानने के कारण अनित्यतावादी हैं।

पौराणिक सृष्टिविद्या

पुराणों के अनुसार इस सृष्टि का मूल तत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर उसकी तीन शक्तियाँ हैं। जिनसे वह क्रमशः विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करता है।[१] विभिन्न पुराणों में इस जगन्मूल ब्रह्म को बहुधा अपने-अपने सम्प्रदाय के इष्ट देवता से एक करके देखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। वैष्णव पुराण विष्णु को ब्रह्म से अभिन्न मानकर ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर को उसके तीन रूप बतलाते हैं। जब कि शैवपुराणों में इन्हें शिव की शक्तियाँ या रूप बतलाया जाता है। इसी प्रकार राम, कृष्ण, सूर्य, शक्ति तथा गणपति आदि के उपासक इन तीन देवताओं (त्रिदेव) को अपने-अपने इष्ट देव का लोकसाधक अंश बतलाते हैं।[२] इस प्रकार पुराणों में त्रिदेववाद का सिद्धान्त एक फ़ोटो फ्रेम की तरह अस्तित्व रखता है जिसमें किसी भी सम्प्रदाय के इष्ट देव का चित्र आवश्यकतानुसार फिट किया जा सकता है।

मेरे विचार से त्रिदेववाद की उपर्युक्त परिकल्पना का मूल पूर्णतः पौराणिक है। फिर भी वह पारम्परिक वैदिक प्रभाव से सर्वथा अछूता नहीं है। उसके तीनों देवताओं के नाम वेदों के प्रसिद्ध देवताओं—द्वादश आदित्यों—के नामों में से लिये गये हैं।[3] वेदों में ब्रह्मा को धाता, विष्णु को विष्णु तथा शंकर को रुद्र के नाम से अभिहित किया गया है। पुराणों के अतिरिक्त कोशग्रन्थों तथा स्वयं वेदों में भी ये नाम पर्यायवाची के रूप में उपलब्ध होते हैं।

---

१. विष्णु० १।२२।५८ — ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।
वही० १।१६।६६ — ब्रह्मत्वे सृजते विश्वं स्थितौ पालयते पुनः॥
रुद्ररूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्तये॥

२. विष्णु० १।१।३१ — विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥
लिंग० ८७।१ — स एष भगवान् रुद्रो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
स्कन्द० उत्तरखंड — ब्रह्माविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः।
तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे॥
आदित्य हृदय० ३ — नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे···विरंचिनारायणशंकरात्मने।

३. द्वादश आदित्य — धाता, विष्णु, रुद्र, सूर्य, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, त्वष्टा, विवस्वान्, इन्द्र।

इस प्रकार त्रिदेव का, आदित्य अर्थात् सूर्य के साथ सम्बन्ध काफी पुराना है। यह सम्बन्ध पुराणकारों द्वारा और भी विकसित किया गया है। पुराणों में उदयकालीन सूर्य को ब्रह्मा, मध्याह्न सूर्य को शिव एवं सान्ध्यकालीन सूर्य को विष्णु का रूप बतलाया गया है।[1] वेदों की भाँति पुराणों में भी सूर्य को जगदात्मा तथा ब्रह्म से अभिन्न बतलाया गया है।[2] जिस प्रकार जगदात्मा ब्रह्म की कारण, हिरण्यगर्भ एवं विराट्— ये तीन अवस्थाएँ हुआ करती हैं उसी प्रकार सूर्य की भी अनुपाख्य, हिरण्यगर्भ एवं विराट् अवस्थाएँ हुआ करती हैं।[3] आदित्य ब्रह्म की ये तीन अवस्थाएँ हमारे पौराणिक त्रिदेव से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। अनुपाख्य सूर्य जगत्कारण विष्णु से, हिरण्यगर्भ सूर्य हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से तथा विरज सूर्य शिव से अभिन्न है। त्रिदेव का पुराणोक्त वर्ण भी इन अवस्थाओं के वर्ण से सामंजस्य रखता है—

मध्याह्न सूर्य की विराज अवस्था शुक्लवर्ण होती है। उसके अनुसार तदभिन्न शंकर का वर्ण भी पुराणों में शुक्ल अर्थात् गौरवर्ण बतलाया गया है।

उदयकालीन सूर्य की हिरण्यगर्भ अवस्था रक्तवर्ण होती है। तदनुसार उससे अभिन्न हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का वर्ण भी पुराणों में रक्तवर्ण या लाल बतलाया गया है।

उदय के पूर्व सूर्य की अनुपाख्य अवस्था में चूँकि सूर्य दिखलाई नहीं देता इसलिए पुराणों में उससे अभिन्न विष्णु को कृष्ण वर्ण या काला बतलाया गया है।

मेरे विचार से पौराणिक देवताओं के स्वरूप एवं वर्णविषयक उपर्युक्त तथ्य को न जानते हुए अनेक लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने विष्णु के कृष्ण वर्ण तथा शिव के घोर अघोरात्मक द्विविध रूपादि के कारण इन देवताओं को तथा-कथित आर्य अनार्य या आर्य-द्रविड़ संस्कृतियों के सम्मिश्रण का प्रतिफल बतलाया है जोकि मिथ्या है।[4]

उनके इस भ्रान्त मत का खण्डन तब और भी भली भाँति हो जाता है जबकि इन पौराणिक त्रिदेवों तथा शिवपुत्र गणेश एवं कार्तिकेय के चतुर्मुख, पंचानन, दशबाहु, षडानन, गजानन प्रभृति विचित्र रूपों के रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। जैसा कि प्रबन्धगत दैवत संहिता में सिद्ध किया गया है कि कृष्ण वर्ण भगवान् नारायण एवं विष्णु, रक्तवर्ण-चतुर्मुख ब्रह्मा, श्वेत वर्ण पंचानन-दशबाहु शिव, षण्मुख द्वादशभुज

---

१. आदित्य हृदय० ११७-१८	उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः।
	अस्तमाने स्वयं विष्णुः त्रिमूर्तिश्च दिवाकरः।
२. ऋग्वेद १।११५।१	सूर्यो आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
भाग० १२।११।४४	सूर्यस्य जगदात्मनः।
३. जगद्गुरुवैभवम् ४	हिरण्यगर्भोऽण्डगतोऽस्ति सूर्योऽव्ययोऽनुपाख्यो विरजो च पृष्ठे।
४. एनसाइ० रिली० एथिक्स	जिल्द ६ पृष्ठ ८१२ पर देखिए "रुद्र शिव"
वही,	जिल्द ५ पृष्ठ १-२८ पर देखिए "द्रविडियन"
समन्वय की गंगा	पृष्ठ ३४ पर उद्धृत श्री सुनीतिकुमार चटर्जी का मत।
वही.	पृष्ठ १७ पर उद्धृत डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के विचार।

कार्तिकेय तथा स्थूलकाय लम्बोदर गजानन गणेश क्रमशः ब्रह्म, मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय तथा भूतवर्ग के अधिष्ठाता देवता हैं तथा उनका विविध वर्ण एवं स्वरूप इन तत्त्वों के वर्ण, स्वरूप तथा उनकी सुनिर्धारित संख्याओं पर आधारित है।

इसके अतिरिक्त इन देवताओं के (विशेषकर शिव तथा उनके पुत्र कार्तिकेय एवं गणेश के) मठ, मन्दिर एवं पूजन का विशेष प्रचलन द्रविड़ परिवार की भाषाओं के क्षेत्र (दक्षिण भारत जहाँ पर प्रायः कृष्ण वर्ण तथा विशिष्ट नृतत्त्वीय रचना वाले भारतवासी रहते हैं) में, होने के कारण इन देवताओं को तथाकथित द्रविड संस्कृति की देन मानना एक भयंकर भूल के अतिरिक्त समग्र सत्य से विमुख होना है।

यदि दक्षिण में रुद्र शिव की पूजा बहुलता से होती है तो क्या उत्तर भारत के प्रत्येक ग्राम, नगर तथा घर में शिवालय नहीं है ? शिव को प्रिय काशी और कैलास क्या उत्तर में नहीं हैं ? और क्या शिव के घोराघोरात्मक द्विविध स्वरूप के समान ब्रह्मा और विष्णु के रूप में भी द्विविध सन्धि नहीं मिलती। पुनः गणेश की पूजा स्थापना क्या उत्तर भारत के सभी नवीन प्राचीन देव मन्दिरों में नहीं की जाती और क्या उनका नाम लेकर प्रत्येक शुभ कार्य नहीं किया जाता ? कार्तिकेय का जन्म क्या उत्तर भारत में नहीं हुआ था ? और क्या आज भी उत्तरवालों ने उन्हें पूर्णतः भुला डाला है ? नहीं कभी नहीं। हमने अपने इन देवताओं को न कभी भुलाया है और न भुलायेंगे ही। अतएव तथाकथित आर्य द्रविड़ संस्कृति के विभेद एवं सम्मिश्रण की धारणा पूर्णतया भ्रान्तिपूर्ण है।

यथार्थता तो यह है कि भाषा, संस्कृति एवं धर्म के क्षेत्र में द्रविड़ और आर्य की भेद-कल्पना तथा उसका प्रचार-प्रसार पाश्चात्यों की भेदनीति तथा हमारे अज्ञान का प्रतिफल है। आज से क़रीब सौ वर्ष पहले सन् १८७५ ई. में आर. सी. काल्डवेल नामक पाश्चात्य भाषाशास्त्री ने 'ए कामपेरेटिव द्रविडियन ग्रामर' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की थी। उसमें पहली बार द्रविड़ शब्द का प्रयोग तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम तथा तुलु भाषाओं के परिवार के लिए किया गया था। इसके पहले यह शब्द दक्षिण के कुछ क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होता था। किन्तु काल्डवेल के प्रयोग के पश्चात् यह शब्द भाषाशास्त्र के अतिरिक्त दाक्षिणात्य धर्म, संस्कृति तथा समाज आदि के अध्ययनों के फलस्वरूप इन सभी क्षेत्रों में तीव्रता से फैल गया।[1] और आज उसका दुराग्रह हमारी सांस्कृतिक एकता को भंग करने में संलग्न है।

इस किंचित् विषयान्तर के पश्चात् हम अपने मूल उद्देश्य की ओर लौटते हुए पौराणिक सर्गप्रक्रिया तथा ब्रह्माण्डविद्या के सम्बन्ध में दो शब्द अंकित करेंगे।

पुराणों के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में जगत्कारण ब्रह्म एकाकी थे। उन्होंने सृष्टि की इच्छा की। फलस्वरूप उनसे प्रकृति और पुरुष का जोड़ा उत्पन्न हुआ।

---

१. दे० 'द्रविडियन'। एनसाइ० रिली० एथिक्स, जिल्द ५, पृ० १-२८।

इनमें से सर्व शक्तिमान् चेतन पुरुष या ईश्वर के अधिष्ठान में जड़-प्रकृति से महत् अहंकार आदि तेईस तत्त्वों की सृष्टि हुई। प्रकृति के अनुग्रह तथा पुरुष के अधिष्ठान के फलस्वरूप, इन तेईस तत्त्वों ने संयुक्त होकर हिरण्याण्ड की सृष्टि की। यह हिरण्याण्ड जड़ या अचेतन था क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्रकृतिजन्य जड़ तत्त्वों से हुई थी। इस जडाण्ड में चेतन पुरुष, लोक-सृष्टि की इच्छा से प्रविष्ट हुआ। पुराणों में उस हिरण्याण्ड गर्भित पुरुष को हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा ने उस जड़ाण्ड से चतुर्दश भुवनात्मक लोक तथा उस लोक के देव, दानव, पशु-पक्षी तथा मनुष्य आदि निवासियों की सृष्टि की। यह जड़ चेतनात्मक लोक ब्रह्मा द्वारा निर्मित होने से ब्रह्माण्ड कहलाता है। उसकी एक संज्ञा विराट् भी है।

इस प्रकार पुराणों में कारण हिरण्यगर्भ विराडात्मक सर्गप्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। जिसे उपनिषदादि वैदिक साहित्य में भी मान्यता प्राप्त है।

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा जी द्वारा रचित इस ब्रह्माण्ड में भूर्भुवः स्वः आदि सप्तलोक हैं जिनकी उत्पत्ति सत्यसंकल्प ब्रह्मा के भूः भुवः आदि शब्दों के उच्चारण मात्र से हुई थी। इनमें से भूलोक शेष लोकों के अधोभाग में स्थित है। उसके पृष्ठ पर सप्त द्वीप तथा सप्त सागर स्थित हैं। इनमें से जम्बूद्वीप नामक केन्द्रीय द्वीप में भारतवर्ष नामक हमारा देश स्थित है। इस भूलोक के नीचे अतल-वितल आदि सात पाताल लोकों तथा रौरव आदि अनेक नरकों की कल्पना पुराणों में की गयी है। इन सब लोकों की लम्बाई-चौड़ाई, वैभव, रीति-रिवाज तथा निवासियों सम्बन्धी विवरण प्रायः प्रत्येक पुराण में विस्तारपूर्वक दिया गया है। यह विवरण पुराणों की रोचक एवं अतिशयोक्ति-पूर्ण शैली में निबद्ध है किन्तु आधुनिक भूगोल तथा ब्रह्माण्डिकी के विवरणों की दृष्टि से प्रायः काल्पनिक है।

इस प्रकार सृष्टितत्त्व विचार की दृष्टि से पुराणों में ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया गया है। उसे ईश्वर तथा देवताओं से सम्बद्ध होने के कारण ईश्वरवाद या देवतावाद भी कहा जा सकता है। चूँकि पुराण ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं इसलिए उन्हे एकवादी या अद्वैतवादी भी कहा जा सकता है। पुराण इस विश्व को अनादि अनन्त अर्थात् नित्य मानते हुए भी उसकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार यह विश्व प्रवाह की अपेक्षा अनादि अनन्त एवं नित्य है न कि वर्तमान सृष्टि की अपेक्षा। फिर भी चूँकि वे ईश्वर द्वारा इस विश्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखते है इसलिए उन्हें सृष्टिवादी कहा जाता है। इसके विपरीत जैन दार्शनिक असृष्टिवाद के पोषक तथा स्वभाववादी हैं जबकि आधुनिक वैज्ञानिक विकासवादी कह-लाने में गौरव का अनुभव करते है।

विकासवाद

विकासवादी बहुधा जड़वाद का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार इस विश्व का मौलिक द्रव्य भूतात्मक या जड़ है। उनका यह मत जैनों के जड़ चेतनवाद (द्वितत्त्ववाद)

तथा पुराणों के ब्रह्मवाद का खण्डन करता है क्योंकि वे जैनों के समान जड़ और चेतन—इन दो पूर्णतः स्वतन्त्र एवं मौलिक द्रव्यों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार चेतना जड़तत्त्व का ही विकसित रूप है। वह जड़तत्त्व से पृथक्ता रखते हुए भी तत्त्वतः उससे अभिन्न है। पुनः वे ब्रह्मवादियों के इस मत से भी सहमत नहीं हैं कि विश्व के मूल कारण में जड़ और चेतन—ये दोनों तत्त्व समान रूप से विद्यमान हैं अथवा जड़ तत्त्व (प्रकृति) चेतन तत्त्व (पुरुष) की अधीनता में सृष्टि की रचना करता है।

सृष्टिप्रक्रिया के सन्दर्भ में भी विकासवादियों का मत जैन एवं पौराणिक मत का खण्डन करता है। जैनों के अनुसार न तो किसी परमतत्त्व की इच्छा से इस विश्व की सृष्टि होती है और न किसी एक तत्त्व से इस जगत् का विकास ही होता है। अपितु यह विश्व तथा विश्व-व्यवस्था शाश्वत है। इसके विपरीत विकासवादी विद्वान् विश्व के उद्भव तथा निरन्तर विकास का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार पुराण वर्णित ब्रह्मेच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति में विकासवादी विश्वास नहीं करते। पुनः वे पुराणों के इस मत में तो कदापि विश्वास नहीं करते कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने जिन लोकों तथा उनके निवासी प्राणियों की जिस रूप में रचना की थी वे उसी पारम्परिक रूप में आज भी मौजूद है। उनके अनुसार ब्रह्माजी द्वारा अरबों वर्ष पूर्व रचित (*यदि उन्हें ब्रह्माजी ने रचा हो !*) *लोकों तथा प्राणियों का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित, परिवर्धित* एवं विकसित होता है। इस निरन्तर विकास के कारण आज वह इतना अधिक रूपान्तरित हो चुका है कि शायद ब्रह्माजी भी उसे देखकर पहचानने से इनकार कर दें।

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से विकासवादी विद्वान् जड़वाद या भौतिकवाद का तथा प्रक्रिया की दृष्टि से विकासवाद का प्रतिपादन करते हैं। इसके विपरीत पुराणों में ब्रह्मवाद एवं सृष्टिवाद का प्रतिपादन किया गया है। जबकि जैनाचार्य षड्द्रव्यवाद तथा स्वभाववाद का प्रतिपादन करते हैं।

●

परिशिष्ट २

बाइबल की सृष्टिविद्या

ईसाइयों के पवित्र धार्मिक ग्रन्थ बाइबल में दो खण्ड हैं।

प्रथम खण्ड 'पुराना-नियम' (ओल्ड-टेस्टामेण्ट) कहलाता है। जबकि दूसरा खण्ड 'नया-नियम' (न्यू-टेस्टामेण्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से पुराना-नियम यहूदियों का धर्मग्रन्थ है और नया नियम ईसाइयों का।

पुराने नियम में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन सविस्तार किया गया है। इस ग्रन्थ का आरम्भ ही सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी अध्याय से होता है। पुराने नियम के इस सृष्टि-वर्णन को ईसाई और मुसलमान भी मान्यता प्रदान करते हैं। ईसाइयों के नये नियम में सृष्टि की उत्पत्ति का अलग से कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता और न मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ़ में ही सृष्टि की उत्पत्ति का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त होता है। चूँकि इन तीनों धर्मों की परम्परा एक ही रही है इसलिए परम्परा से चली आयी सृष्टि-कथा को वे मान्यता प्रदान करते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति

बाइबल के अनुसार परमेश्वर ने ६ दिन में सृष्टि की रचना की और सातवें दिन विश्राम किया।

सृष्टि के पहले दिन परमेश्वर ने आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की। उस समय पृथ्वी बेडोल और निर्जन थी। उस पर जल तथा अन्धकार का साम्राज्य था। तब परमेश्वर ने प्रकाश की सृष्टि की और प्रकाश से अन्धकार को अलग किया। प्रकाश दिन कहलाया और अन्धकार रात। सांझ हुई, फिर भोर हुआ। इस प्रकार पहला दिन समाप्त हुआ।

दूसरे दिन परमेश्वर ने कहा कि जल के बीच एक ऐसा अन्तर हो कि जल दो भाग हो जाये। इस प्रकार आकाश की रचना हुई और दूसरा दिन समाप्त हुआ।

तीसरे दिन परमेश्वर ने समुद्र और पृथ्वी को बनाया। तथा पृथ्वी पर तृण, वृक्ष आदि वनस्पति बनाये।

चौथे दिवस परमेश्वर ने आकाश में सूर्य-चन्द्र तथा तारागणों की रचना की। सूर्य को दिन पर प्रभुत्व दिया और चन्द्रमा को रात पर।

पाँचवें दिन परमेश्वर ने जलचर प्राणियों की सृष्टि की और फिर नभचर पक्षियों को बनाया। सारा समुद्र और पृथ्वी इन जीवधारियों से भर गयी।

छठें दिन परमेश्वर ने गाय-बैल, बकरी-घोड़े आदि घरेलू पशु; रेंगनेवाले जन्तु तथा वन्य पशुओं की सृष्टि की। पश्चात् परमेश्वर ने इन सब प्राणियों पर अधिकार रखनेवाले मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार उत्पन्न किया। मनुष्यों की सृष्टि नर और नारी के रूप में हुई। इस प्रकार छठा दिन भी बीत गया।

सातवें दिन परमेश्वर ने सम्पूर्ण सृष्टि रचकर विश्राम किया और उसे पवित्र *दिवस ठहराया।*

मनुष्य की उत्पत्ति

परमेश्वर यहोवा ने भूमि की मिट्टी से आदम (प्रथम मनुष्य) को रचा और उसके नथुनों में जीवन का श्वास फूंक दिया। अनन्तर परमेश्वर ने पूर्व की ओर अदन की वाटिका रची और वहाँ उसने आदम को रख दिया। उस वाटिका के एक फल को छोड़कर सभी प्रकार के फल खाने का आदेश परमेश्वर ने आदम को दिया।

परमेश्वर ने आदम का अकेला रहना अच्छा नहीं समझा और उसकी पसुली की हड्डी से एक स्त्री को बनाया। उस स्त्री का नाम हव्वा था। आदम और हव्वा अदन की वाटिका में पति-पत्नी की तरह रहने लगे।

एक बार वाटिका के एक धूर्त सर्प के बहकावे में आकर आदम ने परमेश्वर द्वारा वर्जित फल खा लिया। इससे उसे अपने नंगे होने का बोध हुआ और उन्होंने अंजीर के पत्तों को जोड़कर लंगोट बना लिये। इससे कुपित होकर परमेश्वर ने उन्हें शापित किया। हव्वा को उसने गर्भ में असह्य पीड़ा होने का तथा पुरुष के अधीन रहने का शाप दिया तथा आदम को भूमि पर मेहनत करके रोटी कमाने का शाप। आदम और हव्वा की सन्तानें आज भी परमेश्वर के उसी शाप से पीड़ित हैं।

आदम की वंशावली

आदम और हव्वा से कैन और हाबिल—ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। कैन ने कृषि-कर्म तथा हाबिल ने पशुपालन को अपनाया। एक प्रसंग में कैन ने हाबिल को मार डाला। इसपर परमेश्वर ने उसे अदन से निकाल दिया। कैन ने एक नगर बसाया। जिसका नाम उसके पुत्र के नाम पर हनोक नगर रखा गया।

हनोक की कुल परम्परा में नयी व्यवस्थाएँ प्रचलित करनेवाले अनेक महापुरुष हुए। याबाल ने तम्बू में रहने तथा पशुपालन का प्रचलन किया। यूबाल ने नृत्य-संगीत तथा वाद्ययन्त्रों का प्रचलन किया। तूबल्कैन ने शस्त्रविद्या का प्रारम्भ किया।

कैन और हाबिल के अतिरिक्त आदम को एक पुत्र और हुआ। उसका नाम सेत था। सेत के पुत्र एनोश के समय से यहोवा-परमेश्वर की प्रार्थना प्रचलित हुई।

बाइबल के अनुसार आदम की आयु ९३० वर्ष थी। उसका पुत्र सेठ १२ वर्ष जीवित रहा। सेठ का पुत्र एनोयल ९०५ वर्ष जीवित रहा। आदम की वंश परम्परा में १०वीं पीढ़ी में नूह हुआ। उसकी आयु ९५० वर्ष थी। नूह के समय में महान् जल-प्रलय हुआ था। जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

नूह के वंशजों की आयु कालक्रमानुसार घटती गयी। नूह की १०वीं पीढ़ी में अब्राहीम हुए। उनकी आयु १७५ वर्ष थी। अब्राहीम की परम्परा में यहूदीधर्म के प्रवर्तक हज़रत मूसा हुए। उनकी आयु १२० वर्ष थी।

इस प्रकार आदम की २०वीं पीढ़ी में अब्राहीम हुए। और अब्राहीम की ४२वीं पीढ़ी में ईसा मसीह उत्पन्न हुए। इस तरह आदम की ६२वीं पीढ़ी में ईसा मसीह उत्पन्न हुए थे।

जलप्रलय

जब पृथ्वी पर मनुष्य बहुत बढ़ने लगे और उनमें बुराइयाँ भी खूब बढ़ने लगीं तब परमेश्वर को अपनी इस सृष्टि पर पश्चात्ताप हुआ और उसने उसे नष्ट करना चाहा। चूँकि नूह पर उसका अनुग्रह था इसलिए उसने नूह को बुलाकर अपना विचार बतलाया और नूह को एक गोफेर वृक्ष की एक ३०० हाथ लम्बी, ५० हाथ चौड़ी और ३० हाथ ऊँची नाव बनाने को कहा। और उस नाव में सृष्टि के सभी जीवों के एक-एक जोड़े, सभी प्रकार के खाद्य, बीज तथा अपने परिवार के साथ शरण लेने को कहा। नूह ने वैसा ही किया।

फिर ४० दिन-रात तक जलप्रलय होता रहा। वर्षा और समुद्र के सारे स्रोत खुल गये। पृथ्वी के समस्त ऊँचे-ऊँचे पर्वत डूब गये और पृथ्वी के समस्त प्राणी निष्प्राण हो गये। पृथ्वी पर १५० दिन तक जल का प्रावल्य बना रहा। सातवें महीने नूह का जहाज अरारात पर्वत पर टिक गया और पृथ्वीका जल १०वें महीने तक घटता रहा।

प्रलयोपरान्त नूह ने यहोवा की पूजा की और इससे प्रसन्न होकर यहोवा ने फिर कभी जलप्रलय न करने का वचन दिया। तब से अबतक कोई जलप्रलय नहीं हुआ।

अन्तिम प्रलय

अन्तिम प्रलय कब होगा, इसे परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। उस दिन सभी प्राणियों के कर्मों की जाँच होगी और तदनुसार उन्हें स्वर्ग और नरक में जाना होगा। प्रलय का यह दिन न्याय-दिवस या क़यामत का दिन कहलाता है।

परिशिष्ट ३

सन्दर्भ ग्रन्थावलि

जैन-ग्रन्थ

१. आदिपुराण	ले. आचार्य जिनसेन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सं. प्रथम १९५१ ई.।
२. उत्तरपुराण	आचार्य गुणभद्र, प्र. वही, सं. प्रथम १९५४।
३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा	मुनि स्वामिकुमार, प्र. राजचन्द्र आश्रम अगास, सं. प्रथम १९६०।
४. जम्बूदीपपण्णत्ती संगहो	पउमनन्दी, प्र. जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, सं १९५८।
५. जैनागम निर्देशिका	संपा. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', प्र. आगम अनुयोग प्रकाशन दिल्ली-७, सं. प्रथम, १९६६।
६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १)	सम्पा. पं. बेचरदास दोशी, प्र. पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी, सं. प्रथम १९६६।
७. तत्त्वार्थ सूत्र	आचार्य उमास्वामी, प्र. दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत।
८. तिलोय पण्णत्ति (त्रिलोक प्रज्ञप्ति)	आचार्य यतिवृषभ, प्र. जैन संस्कृति संरक्षण संघ सोलापुर, सं. १९५६ तथा १९६२।
९. त्रिलोकसार	आचार्य नेमिचन्द्र, प्र. हिन्दी जैन साहित्य प्रचारक कार्या. बम्बई, सं. प्रथम १९१८।
१०. त्रैलोक्यदीपिका	चन्द्रमहर्षि, प्र. मुक्तिकमल जैन मोहन माला बड़ोदा, सं. १९९५ वि.
११. धर्म का आदि प्रवर्तक	कर्मानन्द, प्र. भारतीय दिगम्बर जैन संघ अम्बाला, १९४०।
१२. पद्मपुराण	आचार्य रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५८।
१३. पाण्डवपुराण	मुनि शुभचन्द्र, सोलापुर, १९५४।
१४. महापुराण	दे. आदिपुराण, तथा उत्तरपुराण का अपरनाम या संयुक्तनाम।

१५. व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) — प्र. ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था, १९३७।

१६. लोकतत्त्व निर्णय — आचार्य हरिभद्र सूरि, प्र. हंसविजय लाइब्रेरी, बड़ौदा, १९७८ वि०।

१७. लोक प्रकाश — विनयविजय गणि, जीवनचन्द्र साकरचन्द्र, बम्बई, १९२६।

१८. लोक विभाग — सिंह सूरर्षि, सोलापुर, १९६२।

१९. सर्वार्थसिद्धि — आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५५।

२०. हरिवंश पुराण — आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५१।

बौद्ध

२१. अभिधर्म कोश — ले. आचार्य वसुबन्धु, अनु. आचार्य नरेन्द्रदेव, प्र. हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद, सन् १९५८।

२२. बुद्धिस्ट कास्मॉलाजी — ले० मेकगवर्न (लन्दन), सन् १९२३।

२३. कास्मालॉजी बुद्धीक — (जर्मन)

२४. हेवन एण्ड हेल इन बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव — ले. बी. सी. ला., सन् १९२५ (कलकत्ता)।

२५. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ बुद्धिज़्म — जी. पी. मलालशेखर।

२६. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स — हेस्टिंग्ज, आर्ट. जिल्द. ४ तथा ७।

वैदिक पौराणिक

२७. ऋग्वेद — संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६२।

२८. यजुर्वेद — वही।

२९. अथर्ववेद — वही।

३०. ईशादि विंशोत्तर-शतोपनिषद् — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४८। उद्धृत उपनिषदें-अथर्वशिखोपनिषद्, ऐतरेय, कृष्ण, गणपत्युपनिषद्, गणेश पूर्वतापिनी, गोपाल उत्तरतापिनी, गोपाल पूर्व-तापिनी, छान्दोग्य, पैंगल, ब्रह्मविद्या, बृहदारण्यक, भस्मजाबाल, मुण्डक, माण्डूक्य, मैत्रायणि, योगचूड़ामणि, योगतत्त्व, रामरहस्य, रुद्रहृदय, श्वेताश्वतर, सुबाल, सूर्य, सीता, स्कन्द तथा त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्।

३१. उपनिषद् चिन्तन — देवदत्त शास्त्री, जननी कार्यालय, इलाहाबाद, १९५६।

३२. उपनिषद् मन्दाकिनी — देवदत्त शास्त्री, किताब महल, इलाहाबाद, शक १८८६ ।
३३. वेदविद्या — डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा, १९५९ ।
३४. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति — गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६० ।
३५. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति — पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर काशी, सं० तृतीय, १९५८ ।
३६. शतपथ ब्राह्मण — चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ।
३७. अग्निपुराण — सम्पा. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, वाराणसी, १९६६ ।
३८. गरुडपुराण — सम्पा. रामशंकर भट्टाचार्य, चौखम्बा, १९६४ ।
३९. ब्रह्मवैवर्तपुराण — आनन्दाश्रम, १९३५ ।
४०. बृहद् धर्म पुराण — ?
४१. श्रीमद्भागवत–महापुराण — गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. पाँचवाँ, वि. २०२१ ।
४२. मत्स्यपुराण (हिन्दी) — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि. २००३ ।
४३. विष्णुपुराण — गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. छठवाँ, वि. २०२४ ।
४४. विष्णुधर्मोत्तरपुराण — सम्पा. प्रियबाला शाह, ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५८ ।
४५. वायुपुराण — आनन्दाश्रम, १९०५ ।
४६. वामनपुराण (ए स्टडी) — डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९६१ ।
४७. मार्कण्डेयपुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन — डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, १९६४ ।
४८. लिंगपुराण — संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६९ ।
४९. देवीभागवत — संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६८ ।
५०. देवीभागवत (कल्याणांक)
५१. पुराणविमर्श — डॉ. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, वाराणसी, १९६५ ।
५२. पुराण दिग्दर्शन — पं. माधवाचार्य, माधव पुस्तकालय, दिल्ली, सं. तृतीय, वि. २०१४ ।
५३. पुराणरहस्यम् — भारतधर्म सिण्डीकेट, वाराणसी, वि. १९९० ।
५४. पुराण पारिजात — पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ।
५५. पुराणम् (अर्धवार्षिक पत्रिका) — काशिराज निधि, रामनगर, वाराणसी, ई. १९५९ से १९६९ तक के अंक ।

सांख्ययोग

५६. तत्त्वसमास — संपा. डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वि. २०२२।

५७. योगसूत्रम् — संपा. वही, प्र. वही, १९६३।

५८. युक्तिदीपिका — संपा. डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं. प्रथम, १९६७।

५९. सांख्यदर्शन (सांख्यसूत्र) संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६४।

६०. सांख्यकारिका — ईश्वरकृष्ण, चौखम्बा, वाराणसी, वि. २०१०।

६१. सांख्यदर्शन का इतिहास — पं. उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर, सं. प्रथम, १९५०।

६२. सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार — हरिशंकर जोशी, चौखम्बा. सं. प्रथम, १९६५।

६३. सांख्य शास्त्र — पं. उदयवीर शास्त्री।

विविध ग्रन्थ

६४. मनुस्मृति

६५. रामायण

६६. महाभारत

६७. रघुवंश

६८. मेघदूत — टीकाकार वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, बम्बई, वि. २०१०।

६९. रूपमण्डनम् — सूत्रधार मण्डन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०२१।

७०. प्रतीकशास्त्र — परिपूर्णानन्द वर्मा, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६४।

७१. गणेश — डॉ. सम्पूर्णानन्द, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, वि. २००१।

७२. हिन्दूदेव परिवार का विकास — डॉ. सम्पूर्णानन्द, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६४।

७३. श्रीभगवत्तत्त्व — हरिहरानन्द करपात्री, मूलचन्द चोपड़ा, वाराणसी, वि. १९९७।

७४. समन्वय की गंगा — जगदीशचन्द्र चतुर्वेदी, नवचेतना प्रकाशन, लखनऊ, १९६३।

७५. हड़प्पा — केदारनाथ शास्त्री, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५९।

७६. ज्योतिष की पहुँच	फ्रेड हायल, अनु. डॉ. [illegible], हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६२।
७७. सूरज चाँद सितारे	गुणाकर मुले, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०।
७८. जीव जगत्	सुरेश सिंह, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९५८।
७९. विकासवाद	दयानन्द पन्त, हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, १९५१।
८०. पाश्चात्य दर्शन	डॉ. चन्द्रधर शर्मा, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, १९६४।
८१. मानवशास्त्र की रूपरेखा	माथुर विद्यार्थी एवं सिंह, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, १९६३।
८२. मानवविज्ञान एवं पुरातत्त्व शास्त्र	महिदेव विद्यालंकार, मानव विज्ञान परिषद्, लखनऊ, १९६५।
८३. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि	डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन्, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, १९६२।
८४. हिन्दू पॉलीथीइज़्म (अँगरेज़ी)	एलिन डेनिलो, रौले एण्ड कीगन पाल, लन्दन, १९६४।
८५. हिन्दू गाड्स एण्ड हिरोज़ मिस्ट्रीज़	गोविन्द कृष्ण पिल्ले, किताब महल, इलाहाबाद, १९५८।
८६. वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स	आर. सी. भण्डारकर, इण्डोलाजीकल बुक हाउस, वाराणसी, १९६५।
८७. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड इथिक्स (अँगरेज़ी)	सम्पा. जेम्स हेस्टिंग्ज़, टी. टी. क्लार्क, जिल्द ५ तथा ६।

लेख

८८. वासुदेवशरण अग्रवाल	'पुराण विद्या' पुराणम् १।१। १९५९।
८९. मधुसूदन ओझा	'पुराण प्रसंग' पुराणम् १। २। १९५९।
९०. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी	'पुराण लक्षणानि' पुराणम् २। १-२। १९६०।
९१. मधुसूदन ओझा	'पद्मयोनि ब्रह्मा' पुराणम् २। १-२। १९६०।

९२. वासुदेवशरण अग्रवाल 'हिरण्यगर्भ'
पुराणम् २। १-२। १९६० ।

९३. जुआन रोजर रिग्रिरि 'दि प्राबलेम ऑफ़ गणेश इन दि पुराणाज़'
पुराणम् ४। १। १९६२ ।

९४. वासुदेवशरण अग्रवाल 'दि पुराणाज एण्ड दि हिन्दू रिलीजन'
पुराणम् ६। २। १९६४ ।

९५. सिन्धु एस. डेन्जे 'शेष—दि कास्मिक सर्पेण्ट'
पुराणम् ७। १। १९६५ ।

९६. पृथ्वीकुमार अग्रवाल 'स्कन्द इन दि पुराणाज'
पुराणम्, ८। १। १९६६ ।

९७. वेण्डी रोजर 'थर्ड आइ ऑफ शिव'
पुराणम् १०। २। १९६९ ।

९८. विद्याव्रत 'कुरंजि'
धर्मयुग (साप्ताहिक) दि. २१-९-६९

९९. तारादत्त पाण्डेय 'कुरुंजि उत्तर भारत में'
धर्मयुग (साप्ताहिक) दि. २५-१-७० ।

१००. अरविन्द मोहन 'अद्वितीय तारे क्वासर और ब्रह्माण्ड रहस्य'
धर्मयुग (साप्ताहिक) दि. २०-४-६९ ।

●